आनन्दवर्धनाचार्यविरचितः

ध्वन्यालोकः

प्रथम उद्योतः

डॉ० रामसागर त्रिपाठी

42
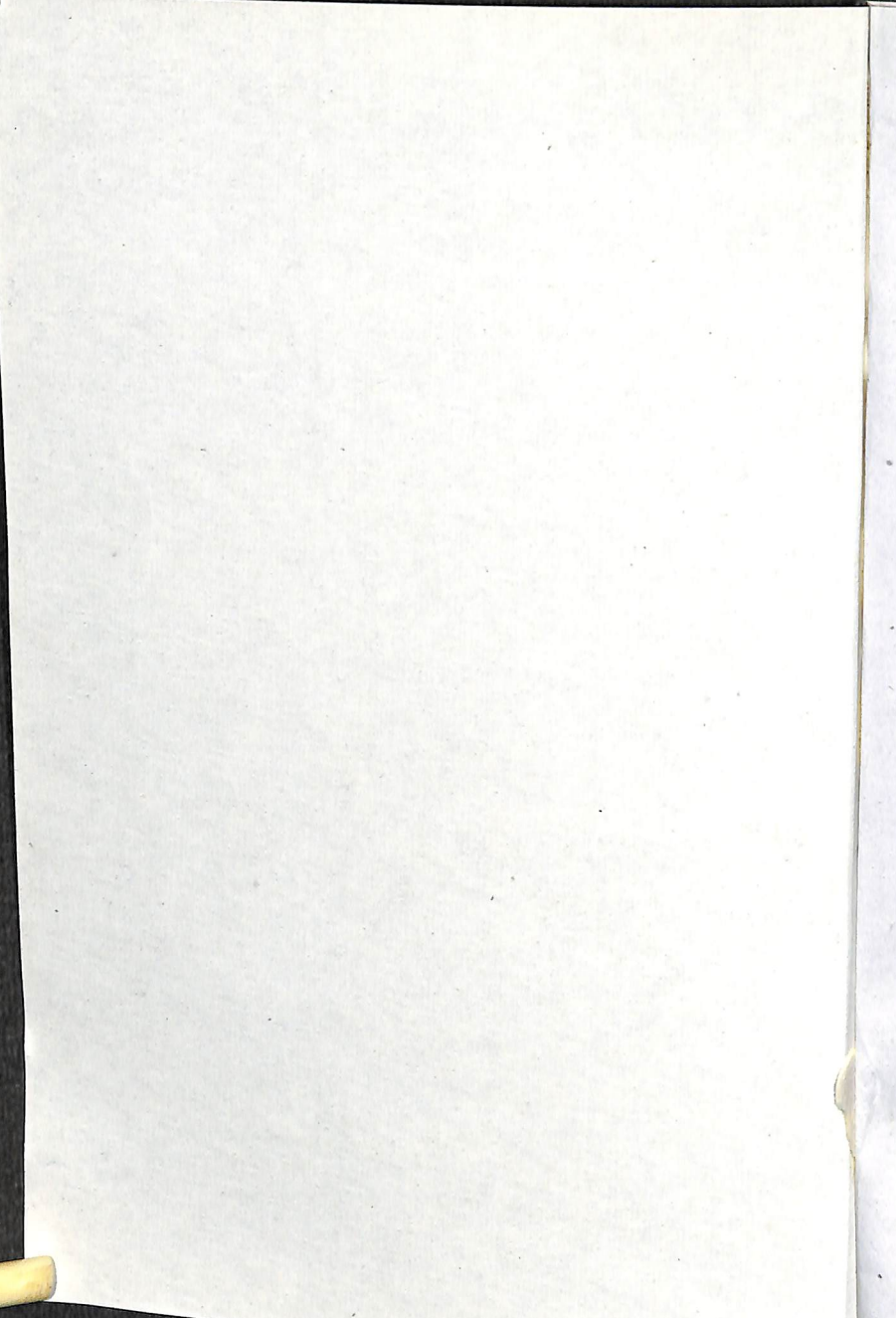
आनन्दवर्धनाचार्यविरचितः

ध्वन्यालोकः

श्रीमदभिनवगुप्त-विरचित 'लोचन' व्याख्यासहितः
हिन्दीभाषानुवादेन तारावती-समाख्यया व्याख्यया च परिगतः

प्रथम उद्योतः

व्याख्याकारः
डॉ० रामसागर त्रिपाठी

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, बंगलौर,
वाराणसी, पुणे, पटना

समर्पण

वत्सलता-प्रतिमूर्ति स्नेहमयी जननी

श्रीमती फूलमती देवी की

दिवङ्गत आत्मा के परितोष के निमित्त

यह अभिनव तारावती

सादर समर्पित है ।

समर्पण

वत्सलता-प्रतिमूर्ति स्नेहमयी जननी

श्रीमती फूलमती देवी की

दिवङ्गत आत्मा के परितोष के निमित्त

यह अभिनव तारावती

सादर समर्पित है ।

प्राक्कथन

'ध्वन्यालोक' काव्यशास्त्र का एक ऐसा प्रकाशस्तम्भ है जो एक ओर अतीत के शास्त्रीय सिद्धान्तों को आलोकित कर उन्हें यथास्थान विन्यस्त करता है और दूसरी ओर समस्त परवर्ती साहित्य-शास्त्र पर अपनी प्रकाशरश्मियाँ विकीर्ण करता है। यह युगान्तरकारी रचना है; आलोचनाशास्त्र को नवीन दिशा प्रदान करता है और शास्त्रीयतत्त्वों को एक व्यवस्थितरूप देता है। लक्ष्य ग्रन्थों की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नहीं है। इस ग्रन्थरत्न में भारतीय साहित्य-शास्त्र का यह मूलभूत सिद्धान्त पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुआ है कि दृश्यमान जगत् परोक्ष सत्ता का परिचायक है और इसका उपयोग केवल इतना ही है कि उसमें हमें प्रतीयमान परोक्ष सत्ता का प्रतिभास प्राप्त हो जाता है। अतः जीवन का आनन्द प्राप्त करने के लिये हमें दृश्यमान जगत् में ही सन्तुष्ट न रहकर उस परोक्ष सत्ता का अनुशीलन करना चाहिये। यही तत्त्व है जो हृदय को मुक्तावस्था की ओर उन्मुख करता है। इस प्रकार यदि हम भारतीय साहित्य को ठीक रूप में हृदयङ्गम करना चाहते हैं तो ध्वन्यालोक का आश्रय अपरिहार्य हो जाता है। साहित्यशास्त्र में तो इसका उतना ही महत्त्व है जितना व्याकरण में पाणिनि का और वेदान्त में वेदान्तसूत्रों का। इस ग्रन्थ के महत्त्व का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि दुर्दम आलोचक पण्डितराज ने भी सम्मानपूर्वक इसके लेखक को आलङ्कारिकसरणि का व्यवस्थापक माना है।

इस ग्रन्थरत्न की रचना विक्रम नवम शताब्दी के उत्तरार्ध में आचार्य आनन्दवर्धन ने की थी। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता कल्हण ने राजतरङ्गिणी में लिखा है कि काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभारत्नों में आनन्दवर्धन भी एक थे। यह मान्यता दूसरे प्रमाणों से भी सिद्ध हो जाती है। ध्वन्यालोक में कालिदास, पुण्डरीक, वाण, भट्टोद्भट, भामह, मनोरथ, सर्वसेन, सातवाहन, अमरुक और धर्मकीर्ति का नाम आया है तथा मधुमथन विजय, रत्नावली, तापसवत्सराज, हर्षचरित, रामाभ्युदय इत्यादि लक्ष्यग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में वामन का भी उल्लेख किया गया है। वामन ने अपने काव्यालङ्कार सूत्र में शिशुपालवध उत्तर रामचरित तथा कादम्बरी से उदाहरण दिये हैं। इससे सिद्ध होता है कि वामनाचार्य का समय अष्टमशती का उत्तरार्ध अथवा नवमशताब्दी का पूर्वार्ध है। लोचन इत्यादि ग्रन्थों को देखने से यह तो निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि नवमशताब्दी के अन्तिम चरण में भट्टनायक ने हृदयदर्पण में ध्वन्यालोक का खण्डन किया था। इससे सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन का समय वामन (नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) और भट्टनायक (नवीं शताब्दी का अन्तिम चरण) के बीच में अर्थात् नवम शताब्दी के मध्यभाग में है। यही समय अवन्तिवर्मा के राज्यकाल का

है। अतः राजतरङ्गिणी का यह कथन सत्य सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन काश्मीरी राजा अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे।

ध्वन्यालोक के दो भाग हैं—एक कारिकाभाग और दूसरा व्याख्याभाग। व्याख्या में परिकर श्लोक, संग्रह श्लोक और संक्षेप श्लोकों का उपादान किया गया है। व्याख्या भाग के तीन नाम प्राप्त होते हैं—ध्वन्यालोक, सहृदयालोक और काव्यालोक।

साहित्य-पर्यालोचकों में इस बात में पर्याप्त मतभेद है कि कारिकाकार और व्याख्याकार एक ही है या पृथक् पृथक्। कतिपय विद्वानों का मत है कि आनन्दवर्धन ही कारिकाकार हैं। इसमें एक तो प्रमाण यह है कि कारिकाकार ने मङ्गलाचरण नहीं किया। इससे प्रकट होता है कि आलोक का मङ्गलश्लोक ही ध्वनि कारिकाओं का भी मङ्गलाचरण है और इससे सिद्ध होता है कि आलोककार ही ध्वनिकार भी है। दूसरी बात यह है कि ध्वनि तथा आलोक दोनों में विषय भेद कहीं नहीं पाया जाता। तीसरी बात यह है कि आनन्दवर्धन के समसामयिक अथवा इनसे तत्काल बाद में काव्यक्षेत्र में अवतीर्ण होनेवाले आचार्य ध्वनि तथा आलोक की एकता का संकेत देते हैं। महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में दोनों का एक रूप में ही खण्डन किया है। महिमभट्ट काश्मीर के रहनेवाले थे और आनन्दवर्धन के लगभग समसामयिक थे। अतः उनकी सम्मति उपेक्षणीय नहीं हो सकती। जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में एक श्लोक दिया गया है जिसमें आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार माना गया है। राजशेखर ने भी इस पद्य को उद्धृत किया है। इसका आशय यह है कि जल्हण और राजशेखर के मत में कारिकाकार और वृत्तिकार दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार हेमेन्द्र, क्षेमेन्द्र, जयरथ, विश्वनाथ, गोविन्द और कुमार स्वामी इत्यादि आचार्यों ने आनन्दवर्धन को ही कारिकाकार माना है। अतएव परवर्ती परम्परा कारिकाकार और वृत्तिकार का अभेद मानने के पक्ष में ही है।

दूसरी ओर कहा जाता है कि आरम्भिक मङ्गलाचरण पर प्रथम संख्या का न होना ही इस बात का परिचायक है कि आनन्दवर्धन केवल वृत्तिकार हैं। यदि उन्होंने कारिकायें बनाई होतीं तो मङ्गलाचरण वृत्ति के प्रारम्भ में नहीं अपितु कारिकाओं के प्रारम्भ में किया होता। इसके अतिरिक्त यद्यपि कारिकाओं के प्रारम्भ में इष्टदेवता नमस्कारात्मक मङ्गल नहीं है तथापि प्रतिज्ञारूप वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल तो विद्यमान है ही। कारिका तथा वृत्ति दोनों के विषयों की एकरूपता भी केवल इतना ही सिद्ध करती है कि दोनों आचार्यों का मत एक ही था। इससे दोनों के एक व्यक्तित्व का परिचय कदापि नहीं मिलता। दूसरी बात यह भी है कि वृत्तिकार ने अनेक ऐसे विषयों का समावेश कर दिया है जिनका संकेत भी ध्वनिकारिकाओं में नहीं पाया जाता। इससे इनके व्यक्तित्व की पृथक्ता का स्वभावतः अवभास हो जाता है।

जिन आचार्यों ने दोनों की एकता का संकेत किया है उनमें कुछ तो केवल इतना कहते हैं कि आनन्दवर्धन ध्वनि के स्थापक थे। इसका आशय यह कदापि नहीं होता कि आनन्दवर्धन

ही कारिकाकार भी थे । महिमभट्ट ने दोनों का समान खण्डन किया है इसका भी यही आशय है कि दोनों का मत एक ही था और एक के खण्डन से दूसरे का खण्डन स्वतः हो जाता है। कुछ लोग भ्रान्त भी हैं अतः इस आधार पर कि कुछ लोगों ने दोनों की एकता का प्रतिपादन किया है यह कभी नहीं कहा जा सकता कि आनन्दवर्धन ही ध्वनिकार भी थे ।

ज्ञात होता है कि जो कारिकायें आनन्दवर्धन को प्राप्त हुई थीं उनकी विचारधारा न तो व्यवस्थित थी न पूर्ण । उन कारिकाओं को आधार बनाकर आनन्दवर्धन ने एक पूर्ण, व्यवस्थित, समन्वयमूलक और निर्णायक काव्य सिद्धान्त स्थापित किया । वृत्ति-ग्रन्थ इतना महत्वपूर्ण बन गया है कि परवर्ती आचार्यों ने असन्दिग्ध रूप में आनन्दवर्धन को ही ध्वनिप्रवर्तक मान लिया तथा कारिकाकार सर्वथा विस्मरणावृत हो गये । यही कारण है कि अनेक परवर्ती ग्रन्थों में आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार कहा गया है और कारिकायें आनन्दवर्धन के नाम तथा वृत्ति-ग्रन्थ ध्वनिकार के नाम पर उद्धृत किया हुआ पाया जाता है ।

प्रथम कारिका का विवेचन और विश्लेषण करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनिकार कोई भिन्न व्यक्ति थे और उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना किसी प्राचीन परम्परा के आधार पर की थी जिसका परिचय आनन्दवर्धन को नहीं था । लोचनकार ने ध्वनिकार और वृत्तिकार के पृथक्त्व का अनेकशः निर्देश किया है । इन्होंने कारिकाकार के लिये मूलग्रन्थकार और वृत्तिकार के लिये ग्रन्थकार शब्द का प्रयोग किया है । केवल इतना ही नहीं अपितु इन्होंने कारिकाओं से व्यतिरिक्त अर्थ का भी यथास्थान वृत्तिग्रन्थ के मौलिक चिन्तन के रूप में निर्देश किया है तथा इसमें कर्तृभेद का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है । एक तो अभिनव गुप्त अधिक प्रबुद्ध चिन्तक हैं और आनन्दवर्धन की परम्परा से परिचित भी अधिक हैं । अतः अन्य आचार्यों की अपेक्षा उनका कथन अधिक मान्य है । इससे व्यक्त होता है कि ये दोनों व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् थे ।

यदि इन दोनों की सत्ता पृथक् मानी जावे तो ध्वनिकार के अतिरिक्त कारिकाकार का कोई दूसरा नाम उपलब्ध नहीं होता और न उनके समय के विषय में ही कुछ कहा जा सकता है। सामान्यतया ज्ञात होता है कि ध्वनिकार दण्डी भामह उद्भट इत्यादि से अर्वाचीन और वृत्तिकार से प्राचीन आचार्य होंगे जिन्होंने प्राचीन परम्परा पर आधारित ध्वनिसिद्धान्त की कारिकाओं का निर्माण किया और वृत्तिकार आनन्दवर्धन ने उसकी व्याख्या की । ध्वन्यालोक के अन्तिम पद्य और अभिनव गुप्त के प्रथम पद्य में सहृदय शब्द के आ जाने से तथा ध्वन्यालोक के पुराने नाम सहृदयालोक के आधार पर कुछ लोगों ने ध्वनिकार का नाम सहृदय होने का अनुमान लगाया हैं । किन्तु सहृदय सामान्यतया काव्यपरिशीलक को कहते हैं । अतः यह शब्द व्यक्तिपरक नहीं माना जा सकता ।

आनन्दवर्धन के जीवनवृत्त-विषयक कतिपय संकेत भी यत्र तत्र प्राप्त होते हैं। इनके पिता का नाम भट्टनोण था जो कि काश्मीर के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुये थे। इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया और व्याकरण को ये सभी शास्त्रों का मूर्धन्य मानते थे। इनके बनाये हुए ५ ग्रन्थ सुने जाते हैं—(१) ध्वन्यालोक (२) देवीशतक (३) विषमबाणलीला (४) अर्जुनचरित (५) धर्मोत्तमा नाम की एक विवृति। इन ग्रन्थों में ध्वन्यालोक ही इनकी कीर्ति का बीज है। देवीशतक काव्यमाला में प्रकाशित किया गया है। विषमबाणलीला और अर्जुनचरित कहीं उपलब्ध नहीं होते। ध्वन्यालोक में ही इन ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है। विनिश्चय टीका की धर्मोत्तर नाभ की विवृत्ति का उल्लेख लोचनकार ने तृतीय उद्योत के अन्त में किया है।

ध्वन्यालोक में ४ उद्योत हैं— प्रथम उद्योत में ध्वनि विरोधी सम्भावित पक्षों का उल्लेख कर उनपर पूरा विचार किया गया है। इसी प्रसङ्ग में ध्वनि का स्वरूप बतलाया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि ध्वनि ही काव्य का एकमात्र प्रयोजक तत्त्व है तथा उसका अन्तर्भाव और कहीं नहीं हो सकता। द्वितीय उद्योत में व्यंग्यार्थ की दृष्टि से ध्वनिभेदों का निरूपण किया गया है और इसी प्रसङ्ग में रस का स्वरूप तथा रसवत् इत्यादि अलंकारों से रसध्वनि के भेद इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है तथा विरोधी सिद्धान्तों का पूर्णरूप से खण्डन किया गया है। इसी उद्योत में गुणों का निरूपण भी किया गया है। तृतीय उद्योत सबसे बड़ा है। इसमें 'व्यञ्जक' की दृष्टि से ध्वनिभेद किये गये हैं। इसी प्रसङ्ग में रीतियों और वृत्तियों का भी विवेचन किया गया है और भाट्ट, प्राभाकर, तार्किक, वेदान्ती इत्यादि के सिद्धान्तों में भी ध्वनि की आवश्यकता दिखलाई गई है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनिसिद्धान्त की व्यापकता तथा उसके महत्त्व पर विचार किया है और यह दिखलाया है कि यदि प्रतिभा विद्यमान हो तो ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य इन सिद्धान्तों का आश्रय लेने से काव्यार्थ की परिसमाप्ति नहीं हो सकती। ध्वनि का आश्रय लेने से परिचित काव्यार्थ भी उसी प्रकार प्रतीत होने लगता है जैसे मधुमास में पुराने भी वृक्ष नये से जान पड़ते हैं। इसी उद्योत में यह सिद्ध किया गया है कि महाप्रबन्धों में भी अङ्गी के रूप में एक ही रस की व्यञ्जना होती है जैसे महाभारत में शान्त रस की व्यंजना होती है।

ध्वन्यालोक की एक प्राचीन टीका चन्द्रिका का उल्लेख लोचन में किया गया है तथा लोचन टीका से ही चन्द्रिकाकार और अभिनवगुप्त का सगोत्र होना भी सिद्ध होता है। किन्तु यह टीका उपलब्ध नहीं होती। ध्वन्यालोक पर प्राचीनतम प्रामाणिक टीका लोचन ही है जो कि अभिनवगुप्तपादाचार्य की लिखी हुई है। श्री अभिनवगुप्त एक महान् दार्शनिक विद्वान् थे। अतः इन्होंने साहित्यशास्त्र में ग्रन्थ लिखकर उसे दार्शनिक स्वरूप दे दिया। यह इतनी महत्त्वपूर्ण तथा सशक्त टीका है कि हम इसे साहित्यशास्त्र का महाभाष्य भलीभाँति कह सकते

हैं। जहाँ ध्वन्यालोक के दुरूह स्थानों को पूर्णरूप से स्पष्ट कर यह टीका अपने नाम को सार्थक करती है वहाँ दूसरी ओर अपनी स्वतन्त्र विचारधारा की दृष्टि से पर्याप्तरूप में मौलिक भी है।

अभिनवगुप्त काश्मीर के एक बहुत बड़े शैव थे। कहा जाता है कि आज भी काश्मीर के अनेक ब्राह्मण परिवारों में इनकी मूर्ति बनाकर पूजा की जाती है और इनके नाम पर व्रत रक्खा जाता है। इनके जीवनवृत्त का हमें इन्हीं के ग्रन्थों में परिचय प्राप्त होता है। ये वाराहगुप्त के पौत्र तथा चुखुल के पुत्र थे। इनके बड़े भाई का नाम था मनोरथ जो स्वयं एक कवि थे। अभिनवगुप्त ने तीन गुरुओं से शिक्षा पाई थी। लोचन टीका में इन्होंने अपने गुरु का नाम लिखा है **भट्टेन्दुराज**। इन्होंने ध्वन्यालोक इन्हीं गुरु **भट्टेन्दुराज** के पास पढ़ा था और स्थान-स्थान पर लोचन टीका में बड़े गौरव के साथ इन्होंने अपने गुरु का स्मरण किया है तथा लिखा है कि सन्दर्भ का अर्थ हमारे गुरु ने इस प्रकार बतलाया था। इनके दूसरे विद्यागुरु थे भट्टतौत जिनका उसी रूप में इन्होंने नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव भारती में स्मरण किया है। शैवदर्शन के इनके गुरु लक्ष्मणगुप्त थे। दर्शन तथा तन्त्रशास्त्र पर इनके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। किन्तु साहित्यशास्त्र पर इनके केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं एक है ध्वन्यालोक की व्याख्या लोचन और दूसरा है भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव भारती, जो कि उच्छिन्नरूप में ही प्राप्त होती है। कहा जाता है कि इनके गुरु भट्टतौत ने काव्यकौतुक नाम का एक ग्रन्थ लिखा था जिस पर इन्होंने एक विवरण लिखा। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

लोचन-व्याख्या जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही अधिक क्लिष्ट भी है। इस पर कोई भी प्रामाणिक व्याख्या अब तक उपलब्ध नहीं होती। बालप्रिया एक साधारण टीका है जिसमें अधिकतर प्रतीकयोजना ही की गई है। लोचन जैसे महान् ग्रन्थ के लिये प्रतीकयोजनामात्र पर्याप्त नहीं हो सकती। चौखम्भा संस्कृत पुस्तकालय से ध्वन्यालोक की दीधिति नाम की एक व्याख्या प्रकाशित हुई है। इसमें प्रतिज्ञा की गई थी कि लोचन का ही सार सरल भाषा में मौलिकता के साथ प्रकट किया जायेगा। किन्तु यह टीका मौलिक अधिक है। अनेक स्थानों पर लोचन का प्रतिफलन इस रचना में हुआ अवश्य है फिर भी इस टीका के सहारे लोचन को ठीक रूप में समझ सकना सर्वथा असम्भव है। ध्वन्यालोक की एक दूसरी आनन्द-दीपिका नामक व्याख्या श्री आचार्य विश्वेश्वरजी ने हिन्दी में लिखी थी। यह अधिकतर ध्वन्यालोक का ही अनुवाद था। यद्यपि इसमें स्थान-स्थान पर लोचन के अंशों का भी उपादान किया गया है। किन्तु प्रत्यक्ष व्याख्या न होने के कारण इससे लोचन को पूर्णरूप से समझने की आशा ही नहीं की जा सकती।

प्रस्तुत ग्रन्थ लोचन को ठीक रूप में समझाने के लिये लिखा गया है। लेखक को सफलता कहाँ तक मिली है इसका निर्णय तो सहृदय पाठक ही करेंगे किन्तु इतना कहा

जा सकता है कि लेखक का प्रथम प्रयास अवलोकनीय अवश्य है । इस व्याख्या में जहाँ इस बात पर ध्यान रक्खा गया है कि लोचन का आशय पूर्णतः प्रकट हो जावे वहाँ इस बात की भी चेष्टा की गई है कि पाठकों को इसमें मौलिक रचना जैसा आनन्द प्राप्त हो । यह व्याख्या एक ओर उन संस्कृतज्ञों के लिये लाभकर होगी जो लोचन का मन्तव्य समझना चाहते हैं और दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के वे विद्वान् भी इसमें रुचि ले सकेंगे जो एक सहस्र वर्ष पूर्व की साहित्यशास्त्रीय अवस्था का पर्यवेक्षण करना चाहते हैं ।

अन्त में नामकरण पर भी प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है । संस्कृत साहित्य में नामकरण में बड़ी कलात्मकता पाई जाती है । केवल काव्यग्रन्थों में ही नहीं व्याकरण और दर्शन जैसे नीरस विषयों के ग्रन्थों में भी नामकरण बड़ी ही कलात्मकता के साथ किये गये हैं । उदाहरण के लिये भट्टोजि दीक्षित ने कौमुदी की रचना की । किन्तु कौमुदी तो सहृदय रसिकों को जलानेवाली ही होती है । कौमुदी का वास्तविक आनन्द तो वही ले सकता है जिसको अपनी प्रेयसी का वियोग पीडित न कर रहा हो । अतः दीक्षित जी ने स्वयं ही 'मनोरमा' प्रदान कर दी । हरि दीक्षित ने देखा कि यह नंगी मनोरमा सहृदयों को क्या आकर्षित कर सकेगी ? अतः उन्होंने उस मनोरमा को शब्दरत्न पहिरा दिया । किन्तु नागेश के भक्त हृदय को लौकिक मनोरमा के साथ कौमुदीविहार की बात उचित नहीं जंची और उन्होंने मनोरमा में भगवती पार्वती के दर्शन कर उनका संयोग इन्दुशेखर (शब्देन्दुशेखर) अर्थात् भगवान् शंकर से करा दिया ।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सम्बन्धिनी वृत्ति का नाम आलोक रक्खा था । उसपर चन्द्रिका नाम की व्याख्या लिखी गई । अभिनव गुप्त ने देखा कि आलोक और चन्द्रिका का अभेद सम्बन्ध तो उपयुक्त हो सकता है; चन्द्रिका के द्वारा आलोक का आनन्द लेना समझ में नहीं आता । आलोक का आनन्द तो लोचन के द्वारा ही लिया जा सकता है । अतः उन्होंने अपनी टीका का नाम लोचन रक्खा ।

मुझे भी अपने पत्नी के नाम में लोचन की व्याख्या का सुन्दर तथा उपयुक्त नाम प्राप्त हो गया । संस्कृत व्याकरण के अनुसार तारा शब्द से मतुप् प्रत्यय होकर तारावत् शब्द बनता है । यदि इस शब्द का नपुंसक लिङ्ग का द्विवचन बनाया जावे तो 'तारावती' बनेगा । लोचन भी दो होते हैं । अतएव तारावती शब्द द्विवचनान्त 'लोचने' का विशेषण हो जावेगा और इस शब्द का अर्थ हो जावेगा 'सुन्दर तथा प्रशस्त पुतलियों वाले दो नेत्र ।' दूसरी ओर स्त्रीलिङ्ग के एकवचन में 'तारावती' शब्द निष्पन्न होकर व्याख्या का विशेषण हो जावेगा । इसी आधार पर प्रारम्भ में दो श्लोक रक्खे गये हैं:—

नैव तारावती यावल्लोचने लभते सुधीः ।
नालोकं तावदीहेत वीक्षितुं श्रुतवानपि ॥

व्याख्या तारावती सेयं चंद्रिकाच्छायहारिणी।
श्यामेवास्मान् रसज्ञांश्च रञ्जयेल्लब्धलोचनान् ॥

अर्थात् 'जिस प्रकार अविकल पुतलियोंवाले नेत्रों को जबतक बुद्धिमान् व्यक्ति प्राप्त नही करता तबतक वह यह सुनकर भी कि यहां प्रकाश विद्यमान है उस प्रकाश का आनन्द नहीं ले सकता उसी प्रकार जबतक सहृदय तारावती व्याख्या के साथ लोचन का अध्ययन नहीं करता तबतक वह शास्त्रज्ञ होते हुये भी ध्वन्यालोक का आशय ठीक रूप में समझ नहीं सकता। यह तारावती व्याख्या चन्द्रिका नामक टीका के सौन्दर्य का अपहरण करनेवाली है। जिन लोगों ने लोचन टीका प्राप्त कर ली है उन्हें तथा हमें यह ऐसी ही आनन्द देने-वाली हो जैसे चांदनी की सुन्दरता से शोभित होनेवाली अथवा चांदनी के सौन्दर्य को पराभूत करनेवाली कोई श्यामा (षोडशी) आंखवालों को आनन्द देती है अथवा तारावती (नक्षत्रों से भरी हुई) चन्द्रिका की चमक से शून्य श्यामा (काली रात) सहृदयों को आनन्द देती है।

अन्त में मैं डा० नगेन्द्र जी के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनकी प्रेरणा से प्रस्तुत रचना सम्भव हो सकी है।

वसन्त पञ्चमी
संवत् २०१९

रामसागर त्रिपाठी

विषय-सूची

———

॥ श्रीभारत्यै नमः ॥

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

ध्वन्यालोकः

(लोचन-तारावती-सहितः)

प्रथम उद्योतः

(लोचनम्)

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां,
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति, तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ॥

[जो (सरस्वती का तत्त्व) कारणांश के बिना (हो) अपूर्व वस्तु की रचना और विस्तार किया करता है; पाषाणवत् नीरस जगत् को अपने रस की अधिकता से सारमय बना देता है; क्रमशः प्रतिभा और अभिव्यक्ति के प्रसार से उस जगत् को रमणीय बना देता है वह कवियों और सहृदयों में भलीभांति पूर्ण रूप से स्फुरित होने वाला सरस्वती का तत्त्व विजयशील हो रहा है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप में वर्तमान है ॥१॥]

तारावती

आनन्दाद्वैतमव्यग्रं दिशन्मार्गमनश्वरम् ।
प्रथयन्ती जगन्मुक्तं भारती सा श्रियेऽस्तु नः ॥ १ ॥

सर्वशास्त्रप्रदं भद्रं नत्वा श्रीचन्द्रशेखरम्[1] ।
ध्वन्यालोकावलोकार्थं कुर्मस्तारावतीमिमाम् ॥ २ ॥

नैव तारावतीं यावल्लोचने लभते सुधीः ।
नालोकं तावदीहेत वीक्षितुं श्रुतवानपि ॥ ३ ॥

व्याख्या तारावती सेयं चन्द्रिकाच्छायहारिणी ।
श्यामेवास्मान् रसज्ञांश्च रञ्जयेल्लब्धलोचनान् ॥ ४ ॥

परोक्षसत्ता की अनुभूति और अन्तस्तत्त्व की सम्पन्न एकता भारतीय विचारसाधना के मेरुदण्ड हैं। दृश्यमान जगत् के पीछे ऐसी शक्ति अन्तर्निहित है जो चेतन विश्व की समस्त गतिविधियों पर नियन्त्रण रखती है और उसी की प्रेरणामयी सदिच्छा मानवजीवन को सञ्चा-

---

१. श्रिया चन्द्रन्ति, श्रियं चन्द्रयन्ति वेति श्रीचन्द्राः । चदेरक् । तेषु शेखरम् विष्णुं शोभासम्पन्नं भगवन्तं शिवं तदाख्यं गुरुं च ।

तारावती

लित किया करती है । इसी लिये दुर्गासप्तशती में अन्तःकरण में विद्यमान अनेक भावों के रूप में उसके दर्शन किये गये हैं । ज्ञान तो उस सत्ता का प्रत्यक्ष रूप है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' । यही कारण है कि ऋषियों की कृति वेदमन्त्र उस महातत्त्व का निश्श्वसित माने गये । केवल इतना ही नहीं, शतपथ ब्राह्मण में तो साधारण श्लोक को भी ईश्वरीय निश्श्वसित ही माना गया है —'अस्य महतो भूतस्य निश्श्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाऽङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि, अस्यैवैतानि सर्वाणि निश्श्वसितानि' । अत एव यह स्वाभाविक ही है कि ग्रन्थरचना जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य में उस महाशक्ति का अनुशीलन किया जावे । इसी उद्देश्य से ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करने की परिपाटी प्रतिष्ठित है । मङ्गलाचरण के अनेक रूप हैं—(१) उस महाशक्ति को प्रणतिपूर्वक सहायता के लिये प्रेरित करना । इसे इष्टदेवतानमस्कारात्मक मङ्गल कहते हैं । (२) परिशीलकों की मङ्गलाशंसा करते हुए उनसे अपनी एकता स्थापित करना । इसे आशीर्वादात्मक मङ्गल कहते हैं । (३) पराशक्तिसम्पन्न किसी वस्तु का निर्देश कर परमात्मा की व्यापकता की ओर ध्यान दिलाना । वह वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल कहा जाता है । (४) प्राचीन आचार्य 'वृद्धि' 'सिद्ध' इत्यादि माङ्गलिक शब्दों के प्रयोगमात्र को ही मङ्गलाचरण मानते थे (५) कहीं कहीं केवल 'अथ' शब्द का प्रयोग ही मङ्गलाचरणपरक माना गया है । मङ्गलाचरण के प्रयोजन के विषय में मतभेद हैं। कुछ लोग मङ्गलाचरण का उद्देश्य विघ्नविघात मानते हैं; दूसरे लोग ग्रन्थ समाप्ति को ही मङ्गलाचरण के प्रयोजन के रूप में स्वीकार करते हैं । कतिपय आचार्य विघ्नविघातपूर्वक ग्रन्थसमाप्ति को मङ्गलाचरण का प्रयोजन मानकर दोनों मतों का सामञ्जस्य स्थापित करते हैं । मङ्गलाचरण अपने मङ्गल के लिये भी किया जाता है और शिष्यों को मङ्गलाचरण की परम्परा बनाये रखने का उपदेश देने के लिये भी । जिन ग्रन्थों में मङ्गलाचरण होते हुये भी ग्रन्थसमाप्ति नहीं होती उनमें विघ्नबाहुल्य की कल्पना कर ली जाती है और जिन नास्तिकों के ग्रन्थों में मङ्गलाचरण न होते हुए भी ग्रन्थसमाप्ति देखी जाती है उनमें जन्मान्तरीय मङ्गलाचरण की कल्पना कर आस्तिकता का निर्वाह किया जाता है ।

आचार्य श्री अभिनवगुप्त 'काव्यालोक' ग्रन्थ की 'लोचन' नामक व्याख्या करने के मन्तव्य से ऐसे इष्टदेवता को प्रणाम कर रहे हैं जिसका स्मरण ग्रन्थ के विषय के अनुकूल है :—

'भगवती सरस्वती का तत्त्व विजयशील हो रहा है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान है । यह सरस्वती का तत्त्व ऐसे शोभनतर विश्व की रचना करता है जिसकी तुलना ब्रह्मा जी का बनाया हुआ यह दृश्यमान जगत् कभी नहीं कर सकता । इस काव्यजगत् की सभी वस्तु अपूर्व होती हैं ।(ब्रह्माजी का बनाया हुआ जगत् नियमों से आबद्ध तथा परवश होता है,जबकि काव्य जगत् सर्वत्र स्वतन्त्र तथा नियमों से सर्वथा विनिर्मुक्त होता है दृश्य जगत् में रात्रि में सूर्य और दिन में चन्द्र प्रकाशित नहीं हो सकते जब कि काव्यजगत् में राजा का प्रताप सूर्य तथा सुन्दरी का मुखचन्द्र रात दिन एक सा प्रकाशित रहता है । काव्यजगत् के लिये ये नियम सर्वथा अकिञ्चित्कर हैं । ब्रह्मा की सृष्टि कवि की सृष्टि का सतत अनुकरण करने की चेष्टा करती है,

लोचनम्

भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम् ।
यत्किञ्चिदप्यनुरणन् स्फुटयामि काव्यालोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य ॥

[भट्ट इन्दुराज के चरणकमलों में जिसने अधिवास किया है। (और इसी कारण) जिसका शास्त्र हृद्य हो गया है। इस प्रकार का अभिनवगुप्तपाद की अभिधा (नाम) वाला मैं अपने लोचन की नियोजना के द्वारा अत्यन्त स्वल्प भी अनुरणित (प्रतिध्वनित) करते हुये लोगों के सामने काव्यालोक (नामक ग्रन्थ) को स्फुट कर रहा हूँ।]

तारावती

किन्तु वहाँ तक कभी नहीं पहुँच सकती। ब्रह्मा की सृष्टि में न राम जैसे आदर्श पुरुष होते हैं और न सीता जैसी पतिपरायण महिलायें। यही काव्यसृष्टि की अपूर्वता है।) भारती काव्य-जगत् के समस्त पदार्थों को विना ही किसी कारण के अंश के उत्पन्न करती हैं। (दृश्य जगत् में जितने भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनमें समवायि असमवायि और निमित्त कारणों का सहयोग और सहकार अपेक्षित होता है। किन्तु काव्य जगत में कमल (नायिका के मुख कमल) की उत्पत्ति विना ही जल के हो सकती है। भारती केवल नवीन जगत् की रचना ही नहीं करती अपि तु दृश्य जगत् के विभिन्न पदार्थों को भी आत्मसात् करती है।) वैसे तो संसार पाषाण-वत् नीरस है किन्तु जब कवि उसमें अपना रस भर देता है तब वे ही नीरस और निस्सार पदार्थ सरस तथा सारवान् प्रतीत होने लगते हैं। (विभाव इत्यादि के रूप में काव्यजगत् में सन्निविष्ट होकर तुच्छ से तुच्छ वस्तु महत्त्वपूर्ण हो जाती है और नीरस से नीरस वस्तु सरस बन जाती है।) इस सरस्वती-तत्त्व के दो भाग हैं एक प्रख्या अर्थात् कविप्रतिभा और दूसरा उपाख्या अर्थात् वर्णन करने की शक्ति। (इन्हें ही हम आधुनिक भाषा में अनुभूति और अभि-व्यक्ति के नाम से अभिहित कर सकते हैं।) पहले प्रख्या और फिर उपाख्या इस क्रम से जब सरस्वती के तत्त्व का प्रसार होता है तब काव्यजगत् बड़ा ही मनोरम हो जाता है और उससे सारा काव्यजगत् जगमगा उठता है। इस तत्त्व के दो छोर हैं एक है कवि और दूसरा सहृदय। (कवि का काम है निर्माण करना और सहृदय का काम है विचार करना।) इन्हीं दो में उसकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार सरस्वती-तत्त्व सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान हो रहा है। यहाँ पर सरस्वती-तत्त्व का अर्थ ध्वनिकाव्य भी हो सकता है। यह तत्त्व भी चैतन्य प्रकाशात्मक होने के कारण अप्रकाशित का प्रकाशन करता है और प्रकाशित को मनोरम बनाता है। अतः यह आत्मरूप है। विजयी कहने से नमस्कार व्यक्त होता है। अपूर्व वस्तु निर्माण में कल्पना-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है और ग्रावप्रख्य जगत् के सारमय बनाने में बिम्बवाद का साम्य लक्षित किया जा सकता है। इस प्रकार मङ्गलाचरण में ही ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय भी बतला दिया गया है।

अब लोचनकार अपना परिचय दे रहे हैं—"मैंने भट्ट इन्दुराज नामक अपने गुरु के चरण-कमलों के निकट निवास किया है। (अर्थात् मैं निरन्तर अपने गुरु के चरणकमलों की शुश्रूषा

ध्वन्यालोकः

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥

[(अनु०) स्वेच्छा से ही केसरी का रूप धारण करने वाले तथा मधु (दानव)—मथन भगवान् विष्णु के नख, जो कि अपनी निर्मल छाया (कान्ति) से इन्दु को आयास में डालने वाले हैं तथा शरणागतों के दुःख और दैन्य को काटने वाले हैं, आप सब व्याख्याताओं और श्रोताओं की रक्षा करें ।]

लोचनम्

स्वयमव्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपि व्याख्यातृश्रोतृणामविघ्नेनाभीष्टव्याख्याश्रवणलक्षणफलसम्पत्तये समुचिताशीःप्रकटनद्वारेण परमेश्वरसाम्मुख्यं करोति वृत्तिकारः—स्वेच्छेति ।

[वृत्तिकार (आनन्दवर्धन) स्वयं निरन्तर परमेश्वर नमस्कार की सम्पत्ति से कृतार्थ हुआ भी व्याख्याताओं तथा श्रोताओं के अभीष्ट व्याख्याफल को सुनने की पूर्ति के लिये समुचित आशीर्वाद प्रकट करने के द्वारा परमेश्वर के साम्मुख्य (का सम्पादन) कर रहा है—'स्वेच्छा' इत्यादि श्लोक के द्वारा ।]

तारावती

करता रहा हूँ और गुरु के चरणकमलों के निकट बैठकर मैंने समस्त शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन किया है ।) इस प्रकार सभी शास्त्र मेरे हृदय में विराजमान हो गये हैं और वे शास्त्र श्रोताओं के हृदयों के लिये रुचिकर तथा आनन्ददायक हैं । (जिस प्रकार कमलों में किसी वस्तु को बसा देने से उसमें सुगन्ध आने लगती है, उसी प्रकार गुरु के चरणकमलों में लोचनकार का शास्त्र वासित होकर सुरभि को बिखेरने लगा है ।) मेरा नाम अभिनवगुप्तपाद है । (कहा जाता है कि शास्त्रार्थ में अधिक प्रचण्ड होने के कारण इनसे इनके सहपाठी डरते थे और इनका नाम बाल-बलभी-भुजङ्गम रख दिया था । इन्होंने उस उपाधि को नम्रतापूर्वक स्वीकार कर लिया और भुजङ्गम का पर्याय गुप्तपाद अपने नाम के साथ जोड़ लिया ।) मैं अपने 'लोचन' की नियोजना के द्वारा यत्किञ्चित् अनुरणित करते हुये काव्यालोक को लोगों के सामने स्फुट कर रहा हूँ । ('लोचननियोजना' के कई अर्थ हो सकते हैं—(१) मन लगाकर (२) ज्ञान के योग के द्वारा (३) लोचन व्याख्या के द्वारा (४) नेत्र गड़ा कर । जैसे किसी वस्तु को नेत्र गड़ा कर ढूँढ़ा जाता है वैसे ही लोचन को संयुक्त कर मैं काव्यालोक को स्पष्ट कर रहा हूँ । 'अनुरणन' का अर्थ यह है कि जिस प्रकार घण्टा बजने के बाद उससे एक प्रतिध्वनि निकलती है और वह बिलकुल घण्टानाद के समान ही होती है उसी प्रकार मैं जो कुछ कहूँगा वह सब ध्वन्यालोक की प्रतिध्वनिमात्र होगा । मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कहूँगा । 'यत्किञ्चित्' का अर्थ यह है कि ध्वन्यालोक की पूरी व्याख्या तो सम्भव नहीं है । यदि मैं उसका कुछ भाग ही स्पष्ट कर सका तो मैं अपने को धन्य समझूँगा । (आनन्दवर्धन ने ध्वनि

लोचनम्

(४) मधुरिपोर्नखाः वो युष्मान् व्याख्यातृश्रोतॄंस्त्रायन्ताम्, तेषामेव सम्बोधनयोग्यत्वात्; सम्बोधनसारो हि युष्मदर्थः, त्राणं चाभीष्टलाभं प्रति सहायका-

[मधुरिपु के नख तुम सब लोगों की अर्थात् व्याख्याताओं और श्रोताओं की रक्षा करें, क्योंकि सम्बोधन के योग्य वही हैं। और निस्सन्देह युष्मद् (वः) के अर्थ का सार ही है सम्बोधन। त्राण का अर्थ है अभीष्ट लाभ के प्रति सहायक का आचरण और वह

तारावती

की टीका का नाम 'काव्यालोक' ही रक्खा था। बाद में ध्वनि की कारिकाओं को मिलाकर उसे ध्वन्यालोक कहा जाने लगा।)

उत्तम पुरुष के क्रिया में प्रयोग करने से ही 'अहम्' का अर्थ आ सकता है। फिर भी 'अहम्' का पृथक् प्रयोग किया गया है। इससे ध्वनित होता है कि—'मैं अपने प्रौढ पाण्डित्य के कारण इस ग्रन्थ की व्याख्या करने का सर्वथा अधिकारी हूँ।' 'स्फुट कर रहा हूँ' कहने का आशय यह है कि टीकाकारों ने आज तक इस ग्रन्थ की यथाश्रुत व्याख्या ही की है इसे स्पष्ट नहीं कर पाये। यह कार्य मैं करूँगा।

अब आलोककार के मङ्गलाचरण पर विचार किया जा रहा है। मङ्गलाचरण पर विचार दो दृष्टिकोणों से हो सकता है—ग्रन्थकार के दृष्टिकोण से तथा व्याख्यताओं और श्रोताओं के दृष्टिकोण से। (ग्रन्थकार स्वयं तो बिना बीच में रुके हुये निरन्तर ही परमात्मा को नमस्कार करते रहते हैं; उस नमस्कार की सम्पत्ति से वे कृतार्थ हो गये हैं। (अतएव ग्रन्थकार को अपने दृष्टिकोण से मङ्गलाचरण की कोई आवश्यकता नहीं।) तथापि व्याख्याताओं और श्रोताओं को आशीर्वाद इसीलिये दे रहे हैं कि व्याख्याकार तो विघ्नरहित होकर अभीष्ट व्याख्या करने का फल प्राप्त कर सकें और श्रोता लोग विघ्नरहित होकर सुनने का फल प्राप्त कर सकें। इसीलिये उचित आशीर्वाद को प्रकट करते हुये ग्रन्थकार ने इस मङ्गलाचरण में व्याख्याताओं और श्रोताओं के लिये परमेश्वर की अनुकूलता सम्पादित की है।

'मधुमथन भगवान् विष्णु के नख तुम्हारी सबकी अर्थात् व्याख्याताओं और श्रोताओं की रक्षा करें। (यहाँ पर 'तुम्हारी' शब्द का अर्थ 'व्याख्याता और श्रोता' इसलिये लिया गया है कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ उन्हीं को सम्बोधित करके तो बनाया है।) क्योंकि वे ही सम्बोधन के योग्य हैं। (यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि मङ्गलाचरण में सम्बोधन का प्रयोग कहाँ है ? इसका उत्तर यह है कि) 'वः' शब्द युष्मद् शब्द का रूप है। युष्मद् के अर्थ का सार ही है सम्बोधन। जिसको सम्बोधित नहीं किया जाता उसके लिये युष्मद् शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता।

रक्षा करने का आशय यह है कि उद्देश्य की सिद्धि के लिये सहायता की जावे। सहायता की जा सकती है अभीष्ट-लाभ के विरोधी विघ्नों के दूर करने इत्यादि के द्वारा। यह तभी सम्भव

लोचनम्

चरणम्, तच्च तत्प्रतिद्वन्द्विविघ्नापसरणादिना भवतीति इयदत्र त्राणं विवक्षितम्, नित्योद्योगिनश्च भगवतोऽसम्मोहाध्यवसाययोगित्वेनोत्साहप्रतीतेर्वीररसो ध्वन्यते। नखानां प्रहरणत्वेन प्रहरणेन च रक्षणे कर्तव्ये नखानामव्यतिरिक्तत्वेन करणत्वात् सातिशयशक्तिता कर्तृत्वेन सूचिता, ध्वनितश्च परमेश्वरस्य व्यतिरिक्तकरणापेक्षाविरहः, मधुरिपोरित्यनेन तस्य सदैव जगत्त्रासापसारणोद्यम

अपने विरोधी विघ्न इत्यादि के अपसारण इत्यादि के द्वारा होता है; अतः इतना ही त्राण कहना यहाँ पर अभीष्ट है। नित्य उद्योग में लगे हुये भगवान् के सम्मोह रहित अध्यवसाय में लगे रहने के कारण उत्साह की प्रतीति हाने से वीर रस ध्वनित होता है। नखों के प्रहार का उपकरण होने से और प्रहार द्वारा रक्षा किये जाने में नखों के भिन्न न होने से करण होने के कारण कर्तृत्व के द्वारा (अर्थात् प्रहार में नख करण होते हैं तथापि कर्ता में प्रयोग किया गया है इसलिये) सातिशयशक्तित्व की सूचना मिलती है और ध्वनित होता है भगवान् का व्यतिरिक्त करण की अपेक्षा का अभाव। 'मधुरिपु' इस शब्द के द्वारा (उन भगवान्) का सदैव संसार के त्रासापसारण का उद्यम कहा गया है। किस प्रकार के

तारावती

है जब कि आवश्यक उपकरण प्रदान कर दिये जावें। यही त्राण का अर्थ है। भगवान् विष्णु जिस प्रकार निरन्तर ही नृसिंह मधु इत्यादि दानवों का संहार कर संसार के त्राण में लगे रहते हैं उसी प्रकार भक्तों के मार्ग में आने वाले विघ्नों का संहार भी निरन्तर ही किया करते हैं। भगवान् अपनी इस क्रिया में न कभी सम्मोहन में पड़ते हैं और न उनके अध्यवसाय में किसी प्रकार की कमी आती है। इस प्रकार भगवान् का उत्साह व्यक्त होता है। शास्त्र का नियम है कि विभाव इत्यादि रस के चारों अङ्गों में यदि एक भी व्यक्त हो जावे तो शीघ्र ही दूसरे अंगों का भी आक्षेप कर लिया जाता है। यहाँ पर वीर रस के स्थायी भाव उत्साह की व्यञ्जना हुई है। अतः उसके आलम्बन मधु इत्यादि राक्षस, उनके साहस शौर्य इत्यादि उद्दीपन, उनकी अवहेलना इत्यादि अनुभाव और गर्व इत्यादि सञ्चारी भावों का भी शीघ्र ही समावेश हो जाता है और इनसे पुष्ट होकर उत्साह स्थायी भाव से पानकरसन्याय से वीर रस की ध्वनि होती है।

नखों से प्रहार किया जाता है और प्रहार के द्वारा रक्षा की जाती है। इस प्रकार रक्षण क्रिया में नख शरीरान्तर्वर्ती करण हैं। किन्तु उनका प्रयोग कर्ता कारक में किया गया है। इस प्रकार इनकी शक्ति की अधिकता ध्वनित होती है। 'भगवान् विष्णु नखों से भक्तों की आर्ति का उन्मूलन नहीं करते अपितु नख स्वयं ही भक्तों के दुःखों को काट डालते हैं।' यहाँ नखों की सातिशय शक्ति है। यहाँ पर कारक के द्वारा वस्तुध्वनि होती है। कारण दो प्रकार के होते हैं, एक आभ्यन्तर दूसरा बाह्य। जैसे प्रहरण क्रिया में खड्ग इत्यादि बाह्य करण है और हस्त इत्यादि आभ्यन्तर करण है। अतएव इससे यह ध्वनि और निकलती है

(लोचनम्)

उक्तः । कीदृशस्य मधुरिपोः ? स्वेच्छया केसरिणः । स्वेच्छया मधुरिपोः न तु कर्मपारतन्त्र्येण, नाप्यन्यदीयेच्छया, अपि तु विशिष्टदानवहननोचिततथाविधेच्छापरिग्रहौचित्यादेव स्वीकृतनृसिंहरूपस्येत्यर्थः । कीदृशाः नखाः ? प्रपन्नानामार्तिं ये छिन्दन्ति; नखानां हि छेदकत्वमुचितम् ; आर्तेः पुनश्छेद्यत्वम् नखान्प्रत्यसम्भावनीयमपि तदीयानां नखानां स्वेच्छानिर्माणौचित्यात् सम्भाव्यत एवेति भावः । अथवा त्रिजगत्कण्टको हिरण्यकशिपुर्विश्वस्योत्क्लेशकर इति स एव वस्तुतः प्रपन्नानां भगवदेकशरणानां जनानामार्तिकारित्वान्मूर्तैवार्तिस्तं

मधुरिपु का ? जो स्वेच्छा से ही केसरी बने न कि कर्मपारतन्त्र्य से और नहीं दूसरे की इच्छा से अपि तु विशिष्ट दानव के मरने के योग्य उस प्रकार की इच्छा के ग्रहण करने में उचित होने के कारण नृसिंह रूप को जिन्होंने स्वयं स्वीकार किया; (यहाँ पर) यह अर्थ है ।]

[किस प्रकार के नख ? जो कि शरणागतों की दीनता को काट डालते हैं; निस्सन्देह नखों का (दूसरी वस्तु को) काट डालना उचित है; किन्तु नखों के प्रति दीनता का छेद्यत्व (अर्थात् दीनता का नखों के द्वारा काटा जा सकना) असम्भव है तथापि भगवान् के नाखूनों के स्वेच्छानिर्माण के औचित्य के कारण सम्भावना की ही जा सकती है । अथवा तीनों लोकों का कण्टक हिरण्यकशिपु विश्व का उत्क्लेश (उत्पीडन) करनेवाला है, अतः वही वस्तुतः शरणागतों अर्थात् एकमात्र भगवान् की शरण में आये हुओं के अन्दर आर्ति

तारावती

कि भगवान् को व्यतिरिक्त कारण की कोई अपेक्षा नहीं । भक्तों के कष्ट काटने में उनके नख ही पर्याप्त हैं । 'मधुरिपु' शब्द से ध्वनि निकलती है कि 'भगवान् संसार के त्रास का अपनोदन करने में सदा प्रयत्नशील रहते हैं ।'

भगवान् ने नृसिंह रूप न तो कर्म की परतन्त्रता से ही धारण किया और न किसी दूसरे की इच्छा से । किन्तु देवताओं से भी अवध्य महान् दानवों के संहार के लिए उपयुक्त नृसिंहरूप को अपनी इच्छा से ही स्वीकार किया । 'इच्छा' शब्द से भगवान् के कर्मपारतन्त्र्य का अभाव ध्वनित होता है और 'स्व' शब्द से दूसरे की इच्छा का अभाव ध्वनित होता है । ये सब वस्तुध्वनि हैं ।

काटने का काम नखों का है ही; किन्तु दुखों को काट सकना नखों के लिये असम्भव है । किन्तु भगवान् ने स्वेच्छा से ही नृसिंहरूप धारण किया है । अतएव सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण नखों का आर्तिच्छेदन उपपन्न हो जाता है अथवा नखों का आर्तिकृन्तन असम्भव है अतः अभिधेयार्थ का बाध हो जाता है और आर्ति शब्द की लक्षणा हिरण्यकशिपु में हो जाती है । इससे यह व्यञ्जना निकलती है कि हिरण्यकशिपु बेरोक-टोक सभी व्यक्तियों का सबसे अधिक दुःखदायक है । (हिरण्यकशिपु दुःख देने वाला नहीं, किन्तु साक्षात् दुःख

लोचनम्

विनाशयद्भिरार्तिरेवोच्छिन्ना भवतीति परमेश्वरस्य तस्यामप्यवस्थायां परमकारुणिकत्वमुक्तम् । किञ्च ते नखाः स्वच्छेन स्वच्छतागुणेन नैर्मल्येन । स्वच्छमृदुप्रभृतयो हि मुख्यतया भाववृत्तय एव; स्वच्छायया च वक्रहृद्यरूपयाऽऽकृत्याऽऽयासितः खेदित इन्दुर्यैः, अत्रार्थशक्तिमूलेन ध्वनिना बालचन्द्रत्वं ध्वन्यते ।

उत्पन्न करने के कारण आर्ति का साक्षात् मूर्तरूप ही हैं; उसको नष्ट करने वाले नाखूनों से आर्ति ही उच्छिन्न हो गई इस प्रकार उस अवस्था में भी परमेश्वर की परम कारुणिकता बतलाई गई है । और भी वे नाखून स्वच्छ से अर्थात् स्वच्छतागुण से अथवा निर्मलता से—क्योंकि स्वच्छ मृदु इत्यादि शब्द मुख्य रूप में भाववाचक (स्वच्छता इत्यादि धर्म के वाचक) ही होते हैं—तथा अपनी छाया अर्थात् वक्र तथा हृद्य आकृति के द्वारा आयासित कर दिया है अर्थात् खेद में डाल दिया है जिन्होंने; यहाँ पर अर्थशक्तिमूलक ध्वनि से बालचन्द्रत्व ध्वनित होता है; आयासित करने से उन नखों के निकट चन्द्र की कान्तिहीनता

तारावती

की मूर्ति ही है ।) यही लक्षणा का प्रयोजन है । हिरण्यकशिपु के मारे जाने से शरणागतों की पीडा भी नष्ट हो जाती है । इस प्रकार यहाँ पर अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यध्वनि है । सारांश यह है कि हिरन्यकशिपु तीनों लोकों का कण्टक है और संसार का उत्क्लेश करने वाला है । अतएव एकमात्र भगवान् के अधीन रहने वाले व्यक्तियों को पीडा देने के कारण वह वास्तव में पीडा की मूर्ति है । उसको नष्ट कर भगवान् ने मानों पीडा ही नष्ट कर दी । उस अवस्था में भी भगवान् की परमकारुणिकता व्यक्त होती है ।

[आयास होना चेतनधर्म है । अतएव आयास का हो सकना इन्दु में सम्भव नहीं । इस प्रकार तात्पर्यानुपपत्ति होने के कारण अभिधेयार्थ का बाध हो जाता है और आयास की लक्षणा असौन्दर्य में हो जाती है । भगवान् के नख इतने स्वच्छ तथा इतने मनोहर हैं कि उनके सामने चन्द्र की शोभा भी फीकी पड़ जाती है । यही इसका लक्ष्यार्थ है । लक्षणा का प्रयोजन है असौन्दर्य की अधिकता, जो कि व्यञ्जनावृत्ति से प्राप्त होती है । आयास के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है । इस प्रकार यहाँ पर अत्यंत तिरस्कृत वाच्य अविवक्षित वाच्यध्वनि है ।]

यहाँ पर स्वच्छ का अर्थ है स्वच्छता । क्योंकि स्वच्छ मृदु इत्यादि शब्द मुख्य रूप में धर्मवाचक ही हुआ करते हैं । एक ओर नखों में स्वच्छता का गुण विद्यमान है और दूसरी ओर उनकी छाया (आकृति) वक्र तथा हृद्य होने के कारण चन्द्र में आयास का उत्पादन करती है । नखों की शोभा के कारण चन्द्र के आयासित होने से अर्थशक्ति के द्वारा ध्वनित होता है कि यहाँ पर बालचन्द्र (द्वितीया के चन्द्रमा) से मन्तव्य है । आयासित होने से नखों के सामने बालचन्द्र की मलिनता तथा अहृद्यता ध्वनित होती है । नखों का आयासकत्व

लोचनम्

आयासने तत्सन्निधौ चन्द्रस्य विच्छायत्वप्रतीतिर्हृद्यत्वप्रतीतिश्च ध्वन्यते। आयासकारित्व च नखानां सुप्रसिद्धम्। नरहरिनखानां तच्च लोकोत्तरेण रूपेण प्रतिपादितम्। किञ्च तदीयां स्वच्छतां कुटिलिमानं चावलोक्य बालचन्द्रः स्वात्मनि खेदमनुभवति तुल्येऽपि स्वच्छकुटिलाकारयोगेऽमी प्रपन्नार्तिनिवारण-कुशलाः; न त्वहमिति व्यतिरेकालंकारोऽपि ध्वनितः; किञ्चाहं पूर्वमेक एवासाधा-रणवैशद्यहृद्याकारयोगात् समस्तजनाभिलषणीयताभाजनमभवम्, अद्य पुनरेवं-विधा नखाः, दश बालचन्द्राकाराः सन्तापार्तिच्छेदनकुशलाश्चेति तानेव लोको बालेन्दुबहुमानेन पश्यति, न तु मामित्याकलयन्बालेन्दुरविरतायासमनुभवती-वेत्युत्प्रेक्षापह्नुतिध्वनिरपि, एवं वस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोकेऽस्मद्-गुरुभिर्व्याख्याता।'

की प्रतीति तथा अहृद्यत्वप्रतीति ध्वनित होती है और नाखूनों का आयासकारित्व सुप्रसिद्ध है; और वह आयसकारित्व नरहरि के नाखूनों का विशेष रूप में प्रतिपादित किया गया है; और भी उनकी स्वच्छता और कुटिलता को देखकर बालचन्द्र अपनी आतमा में खेद का अनुभव करता है। 'स्वच्छ तथा कुटिल आकार के योग के समान होने पर भी ये नख शरणागतों के दुःख निवारण में कुशल हैं, मैं तो नहीं हूँ' यह व्यतिरेकालङ्कार भी यहाँ पर ध्वनित किया गया है। और भी 'मैं पहले अकेला ही असाधारण निर्मलता तथा हृदय को प्रिय आकार के योग से सभी लोगों की अभिलाषा की योग्यता का पात्र था, फिर आज ये इस प्रकार के बालचन्द्राकार तथा सन्तप्तों के आर्तिविच्छेदन में कुशल दस नाखून हैं, इसलिये इन्हें ही लोक बालेन्दु से अधिक सम्मान के द्वारा देखेगा, मुझे नहीं' यह समझते हुये बालचन्द्र निरन्तर मानों आयास का अनुभव करता है यह उत्प्रेक्षा और अपह्नुति ध्वनि भी होती है। इस प्रकार, वस्तु, अलङ्कार और रस के भेद से तीन प्रकार की ध्वनि की व्याख्या इस श्लोक में हमारे गुरुजनों के द्वारा की गई है।]

तारावती

प्रसिद्ध है। और वह भगवान् के नखों में विशेष रूप से दिखलाया गया है। दूसरी बात यह है कि नखों की स्वच्छता तथा कुटिलता देखकर बालचन्द्र अपने अन्दर खेद का अनुभव करता है कि 'स्वच्छता तथा कुटिलता तो दोनों में समान हैं; परन्तु भगवान् के नख शरणागतों की आर्ति के कृन्तन में समर्थ हैं; मुझ में यह शक्ति विद्यमान नहीं है।' इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार ध्वनित होता है। इसके अतिरिक्त चन्द्रमा समझता है कि 'अभी तक अपनी असाधारण निर्मलता तथा हृदयग्राही आकृति के योग से समस्त व्यक्तियों की अभिलाषा का पात्र मैं ही था अब तो इस प्रकार के बालचन्द्राकार १० नाखून विद्यमान हैं और ये सन्ताप को नष्ट करने में भी कुशल हैं (जब कि मैं वियोगियों को सन्ताप देने वाला हूँ।) अतएव अब तो लोक इन्हीं को बालेन्दु के योग्य महान् सम्मान के साथ देखेगा; मुझे कोई नहीं मानेगा मानो यह समझते हुये

तारावती

बालचन्द्र निरन्तर आयास का अनुभव करता है। इस प्रकार यह उत्प्रेक्षा भी हो गई। 'ये नख नहीं हैं किन्तु १० बालचन्द्र हैं' इस अपह्नुति की भी व्यञ्जना होती है। (यहाँ पर 'नख नहीं किन्तु बालचन्द्र' इस अपह्नुति के कारण 'मानो चन्द्र को कष्ट होता है' यह उत्प्रेक्षा होती है। अतएव इन दोनों का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। इन दोनों में एक व्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों अलङ्कार एक दूसरे के निरपेक्ष नहीं हैं। यहाँ पर चन्द्र में आयास का सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध की कल्पना की गई है। अतएव सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार भी यहाँ पर हो सकता है।) इस प्रकार हमारे गुरु (सम्भवतः भट्टेन्दुराज) ने इस श्लोक में वस्तु अलङ्कार और रस तीनों ध्वनियों की व्याख्या की है।

[लोचनकार ने यहाँ पर उत्प्रेक्षा तथा अपह्नुति ये दो अलङ्कार दिखलाये हैं। इस पर **दीधितिकार ने** लिखा है—'कुछ लोगों ने यहाँ पर उत्प्रेक्षा और अपह्नुति की प्रतीति का प्रतिपादन किया है। इस विषय में हम कुछ कहना नहीं चाहते क्योंकि हमें इन महानुभावों के महत्त्व का ध्यान रखना ही है। हाँ इतना कहा जा सकता है कि प्रतीयमान उत्प्रेक्षा और अपह्नुति भी वहीं पर स्वीकृत की जा सकती है जहाँ पर उत्प्रेक्षा की सामग्री प्रकृतधर्मिक अप्रकृत सम्भावना तथा अपह्नुति की सामग्री प्रकृत के निराकरण के साथ अप्रकृत की स्थापना विद्यमान हो। सहृदयों को इतना तो समझना ही चाहिये कि कष्टकल्पना विच्छित्ति को जन्म देने वाली नहीं होती।' इस पर मेरा निवेदन है कि यहाँ पर उत्प्रक्षा और अपह्नुति वाच्य नहीं हैं, किन्तु व्यङ्ग्य हैं। 'आयासित' शब्द ही दोनों सामग्रियों को जुटा देने के लिये पर्याप्त है। चन्द्र में आयासितत्व धर्म की सम्भावना के कारण उत्प्रेक्षा का बीज तो विद्यमान है ही—आयासित होने का कारण यह है कि चन्द्र यह समझता है कि अब लोग नखों को बालचन्द्र कहा करेंगे मुझे नहीं। यही अपह्नुति का बीज है इसमें कोई कष्ट कल्पना नहीं।

यहाँ पर लेखक की भगवद्विषयक रति अङ्गी है और अभिव्यज्यमान वीर रस उसका अङ्ग है। इस प्रकार वीर रस अपराङ्ग गुणीभूत का उदाहरण हो गया है। **बालप्रियाकार ने** लिखा है कि 'यहाँ पर वीर रस ही अङ्गी है क्योंकि ग्रन्थकार भगवान् से तन्मयभाव को प्राप्त हो ही चुका है। उसने केवल भक्तों को आशीर्वाद दिया है। अतः लेखक की भगवद्विषयक रति व्यक्त नहीं होती। ग्रन्थकार की भगवान् से तन्मयता इसी बात से सिद्ध है कि उसने सूत्र बनाने से पहले मङ्गलाचरण नहीं किया और उसने अपूर्व प्रस्थान की रचना कर दी जो कि भगवत् शक्ति से ही सम्भव थी।' इस पर मेरा निवेदन यह है कि एक तो यह बात सिद्ध नहीं है कि सूत्रकार तथा आलोककार दोनों एक व्यक्ति हैं। दूसरी बात यह है कि ग्रन्थों में मङ्गलाचरण व्यावहारिक दृष्टि से ही किया जाता है जिससे उसकी परम्परा बनी रहे और शिष्यों को उसका उपदेश प्राप्त हो जावे। जिन ग्रन्थों में मङ्गलाचरण नहीं भी होता है उनमें भी ग्रन्थ से बहिर्भूत मङ्गलाचरण की कल्पना की ही जाती है। अतएव सूत्रों के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण न करने से मङ्गलाचरण का अभाव सिद्ध नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ग्रन्थकार

ध्वन्यालोकः

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व—
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

[अनु०] [काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् पहले से ही यह व्याख्या करते आये हैं कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' । कतिपय विद्वानों ने उस ध्वनि का सर्वथा अभाव बतलाया है । दूसरे आचार्य कहते हैं कि वह ध्वनि लक्षणागम्य है । कुछ लोगों ने कहा है कि ध्वनि का तत्त्व कभी वाणी का विषय हो ही नहीं सकता । इस प्रकार के वैमत्य होने के कारण सहृदय मनस्तोष के उद्देश्य से हम उस ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या करते हैं :]

लोचनम्

अथ प्राधान्येनाभिधेयस्वरूपमभिदधदप्रधानतया प्रयोजनप्रयोजनं तत्सम्बद्धं प्रयोजन च सामर्थ्यात् प्रकटयन्नादिवाक्यमाह—काव्यस्यात्मेति ।

[अब प्रधानतया अभिधेय स्वरूप का अभिधान करते हुये अप्रधानतया प्रयोजनप्रयोजन और उससे सम्बद्ध प्रयोजन को सामर्थ्य से प्रकट करते हुये आदि वाक्य को कह रहे हैं (व्याख्या कर रहे हैं)—**काव्यस्यात्मा** इत्यादि ।]

तारावती

ने केवल आशीर्वाद दिया है; उसमें भगवान् की भक्ति नहीं है । भगवान् से भक्तों की रक्षा करने की प्रार्थना स्वयं कविगत भक्ति की परिचायक है । अतः यहाँ पर वीर रस अङ्गमात्र है । अङ्गीभाव ध्वनि ही है ।

'निज', 'स्व', 'आत्म' इत्यादि शब्दों का अन्वय प्रधान क्रिया से ही होता है—यहाँ 'स्वेच्छा' शब्द प्रधान क्रिया से अन्वित न होकर 'केसरी' इस संज्ञा शब्द से अन्वित हुआ है । अतएव यहाँ पर अभवन्मतसम्बन्ध नामक दोष प्रतीत होने लगता है । किन्तु 'स्वेच्छा' शब्द के विशेष रूप से व्यञ्जक होने के कारण इस दोष का निराकरण हो जाता है । यद्यपि छाया शब्द का समास होने पर उसमें नपुंसक लिङ्ग हो जाता है तथापि यह नियम वहीं पर लागू होता है जहाँ पर छाया शब्द का अर्थ आतप का अभाव हो । अन्यत्र 'विभाषासेनासुराच्छाया-शालानिशाङ्गानाम्' इस सूत्र से विकल्प होता है । यद्यपि यहाँ पर ह्रस्व होकर 'आयासित' के 'आ' से दीर्घ होने पर भी काम चल सकता है तथापि यह समाधान मानना ठीक नहीं । क्योंकि 'स्वच्छाया' इस अभिनव गुप्त की व्याख्या से उसकी सङ्गति नहीं बैठती । अभिनवगुप्त ने स्वच्छ शब्द को धर्मपरक (स्वच्छतावाचक) मानकर स्वच्छाया से उसका द्वन्द्व समास माना है । किन्तु दीधितिकार के अनुसार 'स्वच्छ' शब्द धर्मिपरक भी माना जा सकता है और इस

तारावती

प्रकार वह स्वच्छाया का विशेषण हो जावेगा। यद्यपि अभिनवगुप्त की व्याख्या में धर्मिपरक को धर्मपरक मानने की कष्टकल्पना करनी पड़ती है तथापि द्वन्द्व मानने में निर्मलता गुण का प्रत्यायन विशेष रूप से हो जाता है। यह आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण है और व्याख्याताओं तथा श्रोताओं को अभीष्टव्याख्याश्रवणफलप्राप्ति के लिये आशीर्वाद दिया गया है। इससे आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार ग्रन्थकार का निरन्तर भजन-पूजन अभिव्यक्त होता है। यहाँ पर कुछ लोगों का बतलाया हुआ एकशेष मानना ठीक नहीं क्योंकि एक तो वह अगतिकगति है, दूसरे उससे ग्रन्थकार की सतत परमात्ममक्ति सिद्ध नहीं होती। एक बात यह भी है कि यहाँ पर अभिधावृत्ति से आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण है और व्यञ्जनावृत्ति से इष्टदेवतानमस्कारात्मक मङ्गल भी कहा जा सकता है।]

अब प्रधानतया वक्तव्य वस्तु का स्वरूप बतलाते हुये अप्रधान रूप में प्रयोजन के प्रयोजन और उससे सम्बन्धित प्रयोजन को अर्थसामर्थ्य से प्रकट करते हुये इस प्रथम सूत्र का कथन किया जा रहा है।

[ग्रन्थ का विषय है ध्वनि का स्वरूप। प्रयोजन है सहृदयों को ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान करा देना। उस प्रयोजन का प्रयोजन है सहृदयों का मनस्तोष। 'हम ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या करते हैं' इस वाक्य के अर्थ के द्वारा ग्रन्थ का विषय बतलाया गया है। 'सहृदय-मनस्तोष के लिये' इस पद के अर्थ के द्वारा प्रयोजन का प्रयोजन बतलाया गया है। स्वरूप-ज्ञानरूप प्रयोजन का अर्थसामर्थ्य से आक्षेप कर लिया जाता है। इस प्रकार वाक्यार्थ होने के कारण विषय का उल्लेख प्रधान है। पदार्थगम्य होने के कारण प्रयोजनप्रयोजन प्रीति और आक्षेपगम्य होने के कारण प्रयोजनज्ञान दोनों ही अप्रधान हैं। सहृदयजन इस निबन्ध के अधिकारी हैं और विद्वानों के विवेचन प्रस्तुत रचना से सम्बद्ध हैं। 'बुधैः' (विद्वानों के द्वारा) पद में बहुवचन के प्रयोग से व्यक्त होता है कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एक ने नहीं किन्तु अनेक विद्वानों ने किया है। अनेक विद्वान् जिस सिद्धान्त का निरन्तर प्रतिपादन करते आये हों उसका न तो प्रतिषेध ही सम्भव है और न उसकी उपेक्षा ही की जा सकती है। अतएव उसका निरूपण नितान्त आवश्यक है। यही प्रस्तुत रचना का अनुबन्धचतुष्टय है।

[ध्वनिकार का व्यक्तित्व सर्वथा रहस्यमय है। श्री डे तथा काणे महोदय इन्हें वृत्तिकार आनन्दवर्धन से पृथक् मानते हैं और डा० शङ्करन ने इन्हें आनन्दवर्धन से अभिन्न माना है। संस्कृत साहित्य जगत् में अपनी ही लिखी हुई पुस्तक पर स्वयं वृत्ति अथवा टीका लिखने की एक प्रवृत्ति रही है। किन्तु प्रस्तुत प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन ही ध्वनिकार नहीं हैं। आनन्दवर्धन ने पिछले समय से चली आती हुई ध्वनिसम्बन्धिनी कारिकाओं की व्याख्या मात्र की है। पहली बात तो यह है कि आनन्दवर्धन ने जो मङ्गलाचरण किया है उसपर कारिका की प्रथम संख्या नहीं डाली गई है। प्रथम संख्या

तारावती

उपक्रम के पद्य पर डाली गई है। दूसरी बात यह है कि अभिनवगुप्त मङ्गलाचरण लिखने वाले को स्पष्ट ही वृत्तिकार कहते हैं और इस प्रकार कारिकाकार से उनके पृथक्त्व की ओर सङ्केत करते हैं। 'सहृदयानां मनसि आनन्दो लभतां प्रतिष्ठाम्' इस सन्दर्भ की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने आनन्द का अर्थ आनन्दवर्धन किया है। यदि ध्वनिकार तथा आलोककार का व्यक्तित्व एक ही होता तो आनन्द का श्लेष व्याख्यात्मक गद्य में नहीं किन्तु मूल पद्य में लाया गया होता, क्योंकि ऐसी चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ पद्य के ही अनुकूल हैं। इससे भी प्रकट होता है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन से भिन्न कोई दूसरे व्यक्ति हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि कारिकाकार उक्त पद्य में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' इस बात का एक ने नहीं किन्तु अनेक विद्वानों ने प्रतिपादन किया है। यहाँ पर ध्वनिकार ने आम्नात शब्द का प्रयोग किया है जो कि अभ्यासार्थक भौवादिक धातु 'म्ना' का निष्ठाप्रत्ययान्त रूप है और उसके पहले 'आ' उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार इस शब्द का अर्थ होता है—'विद्वानों ने सभी दिशाओं में पर्याप्त विचार करने के बाद ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उसके बाद ध्वनि की एक परम्परा सी चल दी जिसका अनुकरण अनेक परवर्ती आचार्यों ने किया और यह सिद्धान्त पर्याप्त मात्रा में परम्परागत रूप में अभ्यस्त हो गया था।' केवल इतने से ही ध्वनिकार को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने इस शब्द पर और अधिक बल देने के लिये 'सम्' उपसर्ग और जोड़ दिया जिसका अर्थ हो गया कि इस सिद्धान्त का मन्थन भी पर्याप्त मात्रा में हुआ था। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनिकार को किसी ऐसी परम्परा का ज्ञान था जिसमें ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना जाता था। दूसरी ओर आनन्दवर्धन ने लिखा है कि इसके पहले इस विषय में कोई पुस्तक नहीं लिखी गई और ध्वनिविरोधी सिद्धान्तों का सम्भावनामात्र से उल्लेख किया गया है। इससे प्रकट होता है कि आनन्दवर्धन उक्त परम्परा से अपरिचित थे। 'समाम्नातपूर्वः' में 'पूर्व' शब्द भी ध्यान देने योग्य है। 'पूर्व' शब्द से ज्ञात होता है कि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले किया जाता रहा था; किन्तु ध्वनिकार के समय तक आते आते उस सिद्धान्त का प्रायः लोप हो चुका था। इस प्रकार इस प्रकरण की पर्यालोचना करने पर प्रकट होता है कि आनन्दवर्धन से भिन्न ध्वनिकार कोई दूसरे व्यक्ति हैं; इनकी कारिकायें आनन्दवर्धन को हस्तगत हुई थीं। उन्हीं की व्याख्या आलोक में की गई।

'सहृदयमनःप्रीतये' में तथा अन्यत्र 'सहृदय' शब्द का प्रायिक प्रयोग देखकर कुछ लोगों ने कल्पना की है कि सम्भवतः ध्वनिकार का नाम सहृदय था। किन्तु 'सहृदय' शब्द व्यक्ति-वाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ नहीं जान पड़ता; अपि तु काव्यरसिकों का यह विशेषण ही कहा जा सकता है।

जिस परम्परा द्वारा ध्वनिसम्प्रदाय प्राचीनकाल में समाम्नात किया गया था उसका साहित्यजगत् में अभी तक अनुसन्धान नहीं किया जा सका। आनन्दवर्धन ने आचार्यों द्वारा

तारावती

जिसके किञ्चित् स्पर्श की बात कही है उसका अनुसन्धान किया जा सकता है। आनन्दवर्धन से पहले आलोचनाजगत् में तीन सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुके थे—काव्य के क्षेत्र में अलंकार तथा रीतिसम्प्रदाय और नाट्य के क्षेत्र में रससम्प्रदाय।

अलंकारसम्प्रदाय का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ भामह का 'काव्यालङ्कार' है। इस ग्रन्थ के व्यवस्थित प्रतिपादन को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह किसी पूर्ववर्तिनी परम्परा पर आधारित है। भामह के मत से काव्यत्व के निमित्त अलङ्कार प्रयोग में एक प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य अपेक्षित होता है जिसका सम्पादन कविप्रतिभा से किया जाता है। भामह के मत में उक्तिवैचित्र्य ही काव्य का प्राण है और उक्तिवैचित्र्य का प्राण है वक्रोक्ति। भामह ने कहा है :—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

अर्थात् काव्य में सर्वत्र वक्रोक्ति की सत्ता पाई जाती है; इस वक्रोक्ति के द्वारा अर्थ विभाजित किया जाता है। कवि को वक्रोक्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि कोई भी अलङ्कार वक्रोक्ति के बिना नहीं हो सकता। परवर्ती आचार्यों ने रुद्रट के अनुकरण पर पहेली-बुझौवल वाले एक विशेष प्रकार के अलङ्कार को ही वक्रोक्ति माना और आज के साहित्यशास्त्र में रुद्रट की वक्रोक्ति ही मानी जाती है। किन्तु भामह की वक्रोक्ति इससे भिन्न है। वक्रोक्ति की परिभाषा करते हुए भामह ने लिखा है :—

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।

अर्थात् अर्थ और शब्द की विलक्षणता ही भामह के मत में वक्रोक्ति है। किसी बात को घुमा फिरा कर कहने से विलक्षणता आ जाती है जिसको भामह काव्य का जीवन मानते हैं। स्पष्ट ही है कि यहाँ पर भामह ध्वनि की सीमा तक पहुँच गये हैं। भामह की यही वक्रोक्ति आगे चलकर कुन्तक के वक्रोक्तिसम्प्रदाय के प्रवर्तन में कारण हुई और यही ध्वनिसम्प्रदाय की भी बीज कही जा सकती है।

अलङ्कार का निरूपण करने वाले दूसरे आचार्य हैं दण्डी। इन्होंने अपने 'काव्यदर्पण' में अतिशयोक्ति को अलङ्कारों का मूल माना है। यह अतिशयोक्ति भी शब्दभेद से भामह की वक्रोक्ति ही है। आनन्दवर्धन ने 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' में 'सैषा' का अर्थ किया है 'यह वह अतिशयोक्ति' और 'वक्रोक्ति' का अर्थ किया है 'सामान्य अलङ्कार'। अतः भामह और दण्डी दोनों के ऐकमत्य की स्थापना की जा सकती है। इस प्रकार भामह के समान ही दण्डी में भी ध्वनिसिद्धान्त का बीज अन्तर्निहित है।

अलङ्कारसम्प्रदाय के दूसरे महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं उद्भट और रुद्रट। उद्भट ने भामह का ही अनुकरण किया है। रुद्रट इस सम्प्रदाय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अन्तिम आचार्य हैं।

तारावती

इन्होंने विवेचन के साथ अलङ्कारों के वर्गीकरण का भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन आचार्यों के विवेचन में कतिपय अलङ्कार तो स्पष्ट ही व्यञ्जनामूलक हैं। दूसरे अलङ्कारों के मूल में भामह की वक्रोक्ति और दण्डी की अतिशयोक्ति विद्यमान रहती है। अतएव उनकी ध्वनिप्रवणता सिद्ध हो जाती है।

रीति सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं वामन। इस सम्प्रदाय का प्रथम सङ्केत दण्डी के काव्यादर्श में मिलता है। दण्डी ने काव्यत्व का प्रमुख साधन माना है मार्ग, जो कि रीति का ही दूसरा पर्याय है। परन्तु वामन की अपेक्षा दण्डी की मान्यता में यह अन्तर है कि वामन ने रीति को गुण पर आश्रित बतलाया है और अलङ्कार को रीति का अनित्य सम्बन्धी माना है। इसके प्रतिकूल दण्डी ने गुण और अलङ्कार दोनों से रीति का समान सम्बन्ध स्वीकार किया है। अलङ्कारों को वामन काव्यत्व के निमित्त अनिवार्य साधन नहीं स्वीकार करते; पर उसको काव्य का शोभा सम्बन्धी मात्र मानते हैं। वामन के मत में प्रत्येक अर्थालङ्कार में उपमा गर्भित रहती है। इसीलिए इन्होंने अर्थालङ्कार समूह को उपमाप्रपञ्च—इस सामान्य नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः रीतियों का व्यवस्थापन वर्ण्य विषय के अनुसार होता है और कोई विशिष्ट रीति वर्ण्य विषय को जितना अधिक प्रकट कर सकती है उतनी ही वह महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। जब तक पदसङ्घटना के द्वारा रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति न हो तब तक वह कभी काव्यत्व की प्रयोजिका नहीं हो सकती। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय भी ध्वनि सम्प्रदायका स्पर्श अवश्य करता है। वामन का प्रत्येक अर्थालङ्कार में उपमा को सन्निहित मानना भी अलङ्कारःव्यञ्जना का परिचायक है।

रस सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है भरत मुनि का नाट्यशास्त्र। इसकी प्रधानता नाट्य में ही मानी जाती है इसीलिये कहीं-कहीं नाट्य रस शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। काव्य में रस की सत्ता प्रारम्भ से ही मानी जाती रही थी। किन्तु आनन्द वर्धन से पहले काव्य में रस सर्वदा गौण स्थान का अधिकारी रहा था। भामह ने रसवत् इत्यादि अलङ्कारों में रस भाव इत्यादि का समावेश करने की चेष्टा की। दण्डी, उद्भट, रुद्रट और वामन ने भी उन्हीं का पदानुसरण किया; किन्तु उत्तरोत्तर रस को महत्त्व प्राप्त होता गया। दण्डी ने 'रसभावनिरन्तरम्' कह कर काव्य में रस की अपरिहार्यता की ओर कुछ-कुछ सङ्केत किया था। वामन ने दण्डी की अपेक्षा इसको अधिक महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने इसका अन्तर्भाव कान्ति गुण में कर 'दीप्तरसत्वं कान्तिः' यह कान्ति गुण की परिभाषा की। इस प्रकार काव्य में इसकी अपरिहार्यता और अधिक बढ़ गई। उद्भट ने रसका अधिक सूक्ष्म विवेचन किया। रसको अलङ्कारों की दासता से मुक्त करने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इन्होंने अलङ्कार, रीति, रस और ध्वनि सम्प्रदाय के सङ्गम स्थल पर खड़े होकर विरोधी सिद्धान्तों को मिलाने का स्तुत्य प्रयास किया। यदि विचार पूर्वक देखा जाये तो इसके मूल में यह व्यञ्जना-वृत्ति सर्वाधिक रूप में विद्यमान है। भरत ने प्रारम्भ में ही रसनिष्पत्ति शब्द का

ध्वन्यालोकः

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आ समन्तात् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनः-प्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः। तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति।

[(अनु०) बुध शब्द का अर्थ है काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान्। (क्यों कि काव्य शास्त्र में उन्हीं की सम्मति महत्त्वपूर्ण हो सकती है।) इन विद्वानों के द्वारा ध्वनि इस संज्ञावाली जो काव्य को आत्मा परम्परा से पहले ही समाम्नात की गई थी अर्थात् (सम् सम्यक्) भली प्रकार (आ-समन्तात्) चारों ओर से सभी दिशाओं में विचार करके प्रकट की गई थी, यह ध्वनि यद्यपि सहृदय जनों के मन में प्रकाशमान हो रही है फिर भी दूसरे लोगों ने (असहृदय व्यक्तियों ने) उसका अभाव बतलाया था। उसका अभाव बतलानेवालों के ये (अग्रिम प्रक-रण में वर्णन किये हुये) विकल्प सम्भव हो सकते हैं।]

लोचनम्

काव्यात्मशब्दसन्निधानाद् बुधशब्दोऽत्र काव्यात्मावबोधनिमित्तक इत्यभिप्रायेण विवृणोति-काव्यतत्त्वविद्भिरिति । आत्मशब्दस्य तत्त्वशब्देनार्थं विवृण्वानः

काव्यात्म शब्द के सन्निकट होने से बुध शब्द यहां पर काव्यावबोध निमित्तक है (अर्थात् बुध शब्द से यहां पर काव्यतत्ववेत्ता विद्वान् ही अभिप्रेत है) इस अभिप्राय से विवरण दे रहे हैं (व्याख्या कर रहे हैं) बुध अर्थात् काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों के द्वारा। आत्मशब्द के अर्थ

तारावती

प्रयोग किया था जिसका आशय यह है कि रस वाच्य नहीं होते किन्तु विभावादि विभिन्न उपकरणों के द्वारा उनकी निष्पत्ति होती है। इस प्रकार अलङ्कार, रीति तथा रस तीनों पूर्ववर्ती सम्प्रदायों ने ध्वनि सम्प्रदाय की सीमा का स्पर्श अवश्य किया था यद्यपि सिद्धान्त के रूप में ध्वनि सम्प्रदाय का प्रारम्भ नहीं हुआ था।

प्रस्तुत कारिका पर विचार करने से अवगत होता है कि ध्वनिकार के समय में ध्वनि सिद्धान्त विद्वन्मण्डली में चर्चा का विषय बना हुआ था और जिस प्रकार पिछले दिनों में छायावाद को नवीन सिद्धान्त मानकर प्रायः उसका प्रतिवाद ही किया जाता था तथा उसकी हँसी उड़ाई जाती थी उसी प्रकार ध्वनि सिद्धान्त को भी विरोधियों के विरोध का पर्याप्त सामना करना पड़ा था। ध्वनि विरोध का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उस समय के लक्षण-ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में इस सिद्धान्त को जानबूझ कर सन्निविष्ट नहीं किया; मानों यह सिद्धान्त इस योग्य था ही नहीं कि उन आचार्यों के ग्रन्थों में स्थान पा सकता। ध्वनिकारने विरोधियों के समस्त प्रतिवादों की मीमांसा कर ध्वनि विरोध को तीन श्रेणियों में विभक्त किया —एक तो वे लोग हैं जो ध्वनि की सत्ता ही स्वीकार करना नहीं चाहते। दूसरे वे लोग हैं जो ध्वनि को लक्षणा के अन्दर सन्निविष्ट करते हैं और तीसरे वे लोग हैं जो ध्वनि की सत्ता

लोचनम्

सारत्वमपरशाब्दवैलक्षण्यकारित्वं च दर्शयति इति शब्दः। स्वरूपपरत्वं ध्वनिशब्दस्याचष्टे, तदर्थस्य विवादास्पदीभूततया निश्चयाभावेनार्थत्वायोगात् ।

को तत्त्व शब्द के द्वारा प्रकट करते हुए सारवत्ता तथा दूसरे शब्दप्रतिपाद्य शास्त्रों से विलक्षण-कारिता दिखला रहे हैं। 'इति' शब्द ध्वनि शब्द की स्वरूपपरता को बतला रहा है। क्योंकि उसका अर्थ विवादास्पद होने से निश्चय न हो सकने के कारण यहां पर (ध्वनि को) अर्थ-

तारावती

स्वीकार तो करते हैं किन्तु उसका लक्षण बना सकना असम्भव बतलाते हैं । ध्वनिकार ने अभाववाद और अशक्यवक्तव्यवाद के लिए परोक्ष भूत का प्रयोग किया है और लक्षण वाद के लिए वर्तमान काल का। इसका आशय यह है कि अभाववादी तथा अशक्यवक्तव्यवादी ध्वनि-कार के समय में अतीत की कथा बन गये थे। ध्वनिकार ने उनके विषय में केवल सुना था; ऐसे लोगों का प्रत्यक्ष नहीं किया था। लक्षणा में ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले लोग ध्वनि-कार के समय में ही विद्यमान थे।

प्रस्तुत सूत्र में बुध शब्द के साथ काव्यात्म शब्द का उपादान किया गया है। इस काव्यात्म शब्द का निकटता के कारण बुध शब्द का प्रयोग भी काव्यात्मा को जानने वाले विद्वानों के लिये ही हुआ है। इसी अभिप्राय से मूल में 'बुध' का अर्थ किया गया है काव्य-तत्त्ववेत्ता। यहाँ पर 'काव्यात्मा' शब्द के 'आत्मा' शब्द का अर्थ किया गया है 'तत्त्व'। तत्त्व शब्द का अर्थ है जिसका स्वरूप कभी बाधित न हो। इस प्रकार ध्वनि की साररूपता तथा दूसरे शब्दों से उसकी विलक्षणता व्यक्त की गई है। [आशय यह है कि यहाँ पर ध्वनि को 'काव्यात्मा' कहा है। आत्मा का अर्थ है 'आत्मा के समान'। यहाँ पर ध्वनि और आत्मा में साधर्म्य यही है कि जिस प्रकार आत्मा के स्वरूप का बाध नहीं होता उसी प्रकार ध्वनि के स्वरूप का भी बाध नहीं हो सकता। अतएव जिस प्रकार प्राणिजगत् में आत्मा सारभूत पदार्थ है और उसकी विशेषता शब्द से व्यक्त नहीं की जा सकती उसी प्रकार काव्य में ध्वनि सारभूत पदार्थ है और उसकी विशेषता शब्देतर संवेद्य नही हो सकती।]

अभियुक्तों ने कहा है कि 'इतिलोकेऽर्थपदार्थकस्य शब्दपदार्थकत्वकृत्' अर्थात् सामान्य तया किसी वाक्य के अन्दर आने वाले शब्दों का अर्थ अभिप्रेत होता है; किन्तु जिन शब्दों के बाद 'इति' शब्द जोड़ दिया जाता है उन शब्दों का अर्थ नहीं लिया जाता अपितु शब्दपरता ही उनमें अभिप्रेत होती है। यहाँ पर 'ध्वनिरिति' शब्द में ध्वनि शब्द के बाद इति शब्द का प्रयोग किया गया है जो कि ध्वनि शब्द की स्वरूपपरता को बतलाता है। आशय यह है कि ध्वनि का अर्थ विवादास्पद है अतएव निश्चय न होने के कारण अर्थ का उपादान नहीं हो सकता। अतएव स्वरूपपरता को व्यक्त करने के लिये इति शब्द लिखा गया है। इसी अभिप्राय से आलोक में 'ध्वनिरिति संज्ञितः' यह अर्थ किया गया है। किन्तु

लोचनम्

एतद्विवृणोति—संज्ञित इति। वस्तुतस्तु न तत्संज्ञामात्रेणोक्तम्, अपि स्वस्यैव ध्वनिशब्दवाच्यं प्रत्युत सारभूतम्। नह्युभयथा बुधास्तादृशमानेयुरित्यभिप्रायेण विवृणोति-सहृदयेत्यादिना। एवं तु युक्ततरम्। इतिशब्दो भिन्नक्रमो वाक्यार्थ-परामर्शकः, ध्वनिलक्षणोऽर्थः काव्यस्यात्मेति यः समाम्नात इति। शब्दपदार्थकत्वे हि ध्वनिसंज्ञितोऽर्थ इति का सङ्गतिः। एवं हि ध्वनिशब्दः काव्यस्यात्मेत्युक्तं

वत्ता का योग नहीं हो सकता। [इसी का विवरण दे रहे हैं—'संज्ञितः' यह शब्द। वास्तव में यह संज्ञामात्र से ही नहीं कहा गया है; अपितु ध्वनिशब्दका वाच्य है ही प्रत्युत वह सबका सार-भूत है। अन्यथा वुध लोग वैसी वस्तु को आम्नात नहीं करते, इस अभिप्राय से विवरण दे रहे हैं—'तस्य सहृदय' इत्यादि के द्वारा। यह तो अधिक उचित है—'इति' शब्द भिन्न क्रम वाला (होकर) वाक्यार्थ का परामर्शक हो जाता है। ध्वनि लक्षणवाला अर्थ काव्य की आत्मा (होता है) 'यह' जो कहा गया है यह (अर्थ इस वाक्य का हो जाता है।) निस्सन्देह यदि पदार्थ शब्द माना जावेगा (अर्थात् यदि 'ध्वनिरिति' का अर्थ ध्वनि शब्द किया जावेगा) तो ध्वनि संज्ञावाला अर्थ यह कहने पर (ग्रन्थ की) सङ्गति ही क्या होगी? इस प्रकार निस्सन्देह ध्वनि शब्द काव्य की आत्मा होता है यह कहा हुआ हो जावेगा जैसे

तारावती

वास्तविकता यह है कि यहाँ पर ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल संज्ञा के लिए ही नहीं किया गया है किन्तु उसका वाच्यार्थ भी अभिप्रेत है। क्योंकि ध्वनि शब्द का वाच्यार्थ विद्यमान है ही और इतना ही नहीं अपितु वही तत्त्व समस्त वाङ्मय का सार है। नहीं तो विद्वान् लोग उस प्रकार के (सारहीन) तत्त्व को प्रकाशित करते ही नहीं। इसी लिये मूलकार ने ध्वनि का विशेषण दिया 'सहृदय व्यक्तियों में प्रकाशमान'। [यहाँ पर लोचनकार ने आलोक की व्याख्या में दो परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों की स्थापना की है—(१) 'ध्वनिरिति' में इति के कारण ध्वनि शब्द स्वरूपपरक है और ध्वनि शब्द विवाद का विषय है; क्योंकि अनिश्चय के कारण अर्थपरता सम्भव नहीं। (२) ध्वनि शब्द का वाच्यार्थ ही विवाद का विषय है क्योंकि वह न केवल निश्चित है अपितु समस्त वाङ्मय का सारभूत है। इस विरोध के निराकरण के लिये लोचनकार ने ग्रन्थ की सङ्गति इस प्रकार मिठाई है।] इति शब्द का क्रम बदल कर अन्वय इस प्रकार कर लिया जाना चाहिये कि वह शब्द वाक्यार्थ का द्योतक हो जावे—'ध्वनिलक्षण अर्थ जो कि काव्य की आत्मा के रूप में माना गया है।' इस प्रकार की वाक्यरचना से उसमें अर्थपरता आ जावेगी और विरोध जाता रहेगा। यदि उसकी शब्दपरता स्वीकार की जावेगी तो अर्थ हो जावेगा 'ध्वनि संज्ञा' इस अर्थ के मानने पर ग्रन्थ की सङ्गति ही क्या होगी? इस प्रकार तो 'ध्वनि' शब्द काव्य की आत्मा है यह अर्थ हो जावेगा जैसे अनुकरण में 'गवित्ययमाह' में 'गो शब्द

लोचनम्

भवेत्, गवित्ययमाहेति यथा। न च विप्रतिपत्तिस्थानमसदेव, प्रत्युत सत्येव धर्मिणि धर्ममात्रकृता विप्रतिपत्तिरित्यलमप्रस्तुतेन भूयसा सहृदयजनोद्वेजनेन। बुधस्यैकस्य तथाभिधानं स्यात्, नतु भूयसां तद्युक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्। तदेव व्याचष्टे-परम्परयेति। अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः। न च बुधाः भूयांसोऽनादरणीयं वस्त्वादरेणोपदिशेयुः। एतत्त्वादरेणोपदिष्टम्। तदाह-सम्यगाम्नातपूर्व इति।

'गवित्ययमाह' में होता है। विप्रतिपत्ति का स्थान केवल असत्य ही नहीं होता अपितु धर्मी के होने पर ही धर्म मात्र के लिये उत्पन्न हुई विप्रतिपत्ति हो होती है—इस प्रकार के सहृदयजनों को उद्विग्न करने वाले बहुत अधिक अप्रस्तुत (विस्तार) की आवश्यकता नहीं है। किसी एक बुध (विद्वान्) का उस प्रकार का कथन प्रामादिक भी हो सकता है; किन्तु बहुतों की वह बात (प्रामादिक मानना) उचित नहीं है। इसीलिये बुधैः में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। वही व्याख्या कर रहे हैं। परम्परा के द्वारा इत्यादि। अभिप्राय यह है कि उन्होंने विशिष्ट पुस्तक में विनाही सन्निवेश किये हुये अविच्छिन्न प्रवाह के द्वारा यह बात कही है। बहुत से बुध अनादरणीय वस्तु का आदर के साथ उपदेश नहीं करते; इसका उपदेश आदर के साथ दिया गया है। वही बात कह रहे हैं समाम्नातपूर्व यह। पूर्वशब्द के उपादान से

तारावती

का यह अर्थ हो जाता है। यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि यदि ध्वनि के वाच्यार्थ की सत्ता स्वीकार कर ली जावे तो विप्रतिपत्ति ही किस बात की होगी? इसका उत्तर यह है कि विप्रतिपत्ति केवल उसी विषय में नहीं होती जिसकी सत्ता विद्यमान नहीं; अपितु धर्मी के होने पर भी धर्म मात्र में भी विप्रतिपत्ति हो जाती है। इतना पर्याप्त है। अधिक अप्रासङ्गिक कथन के द्वारा सहृदयों को उद्विग्न करना ठीक नहीं। [यहाँ पर लोचनकार ने निष्कर्ष यही निकाला है कि यहाँ 'इति' शब्द का क्रम बदल कर ध्वनि शब्द की अर्थपरता ही अभिप्रेत होती है। ध्वनि तत्त्व विद्यमान है ही फिर उसमें विप्रतिपत्ति कैसी? इस प्रश्न का उत्तर लोचनकार ने यह दिया है कि असत् वस्तु के विषय में ही विप्रतिपत्ति नहीं होती सत् वस्तु में भी धर्म मात्र में विप्रतिपत्ति हो सकती है। जैसे शब्द की सत्ता में ही उसके नित्यत्व अनित्यत्व के विषय में विप्रतिपत्ति होती है। प्रस्तुत प्रकरण में भी ध्वनितत्त्व के विद्यमान होने पर ही विप्रतिपत्ति होती है कि उसको गुण अलङ्कार इत्यादि में सन्निविष्ट किया जावे या उसकी पृथक् सत्ता ही स्वीकार कर उसे काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया जावे। यह है लोचन का सार! किन्तु वास्तविकता यह है कि ध्वनि की शब्दपरता भी यहाँ पर असङ्गत नहीं है। भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य के लिये उपादेय उपकरणों पर कभी विवाद नहीं किया गया; विवाद केवल नामकरण का रहा है। काव्य में वाच्यार्थ-व्यतिरिक्त अर्थ भी अभिप्रेत होता है

लोचनम्

पूर्वंग्रहणेनेयं प्रथमता नात्र सम्भाव्यत इत्याह, व्याचष्टे च – सम्यगासमन्ताद् म्नातः प्रकटित इत्यनेन। तस्येति। यस्याधिगमाय प्रत्युत प्रयतनीयं का तत्राभावसम्भावना। अतः किं कुर्मः, अपारं मौर्ख्यमभाववादिनामितिभावः।

यह कहा है कि यही पहले है इसकी सम्भावना यहाँ पर नहीं की जाती। व्याख्या भी 'सम्यक् आसमन्तात् म्नातः प्रकटितः' इन शब्दों के द्वारा की है। 'तस्य जगदुः''—जिस की प्राप्ति के लिये प्रत्युत प्रयत्न करना चाहिये वहाँ अभाव की सम्भावना भी क्या हो सकती है ? इसलिये हम क्या करें। आशय यह है कि अभाववादियों की मूर्खता अपार है।

तारावती

इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है। विवाद का विषय केवल यही है कि वाच्यार्थ व्यतिरिक्त गम्यमान अर्थ को ध्वनि संज्ञा प्रदान की जानी चाहिये या उसका अन्तर्भाव कहीं अन्यत्र कर दिया जाना चाहिये। इसीलिये ध्वनि शब्द के बाद इति शब्द का प्रयोग कर उसकी स्वरूपपरता प्रतिपादित की गई है।

सम्भवतः लोचन की इस व्याख्या को देख कर ही महिमभट्ट ने प्रस्तुत वाक्यरचना पर आक्षेप किया है, तथा लिखा है कि—यहाँ पर प्रक्रम-भेद नामक दोष है। इनके मत में 'इति' शब्द का प्रयोग 'काव्यस्यात्मेति' इस प्रकार होना चाहिये। क्योंकि दूसरे चरण में जो 'तस्य' का प्रयोग किया गया है और जो अभाववाद, भाक्तत्ववाद और अशक्यवक्तव्यत्ववाद की स्थापना की गई है उसका ध्वनि से ही सम्बन्ध होना चाहिए। ध्वनि के ही अभाव इत्यादि की स्थापना करनी है। किन्तु ध्वनि के बाद इति शब्द का प्रयोग कर दिया गया है जिससे उसके पदार्थत्व का विपर्यास हो जाता है; दूसरा ध्वनि शब्द यहाँ पर है नहीं। इससे 'तस्य' का ठीक अन्वय बन ही नहीं पाता। किन्तु इस आक्षेप का उत्तर अभिनवगुप्त की व्याख्या में पहले से ही विद्यमान था अतः इस पर विशेष विचार अनपेक्षित है।

बुध शब्द में बहुवचन से व्यक्त होता है कि अनेक विद्वानों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यदि केवल किसी एक विद्वान् ने ही प्रतिपादन किया होता तो उसका प्रामादिक हो सकना भी सम्भव हो सकता था। किन्तु बहुतों का प्रामादिक हो सकना सङ्गत नहीं कहा जा सकता। परम्परा शब्द से व्यक्त होता है कि यद्यपि किसी विशिष्ट पुस्तक में इस सिद्धान्त का समावेश नहीं किया गया फिर भी विद्वान् लोग निरन्तर इसका प्रतिपादन करते आये हैं और उनका प्रवाह अविच्छिन्न बना रहा। बहुत से विद्वान् अनादरणीय वस्तु का आदर से उपदेश कभी नहीं करते इसका तो आदर से उपदेश किया गया है। यही बात 'समाम्नातपूर्वः' शब्द से व्यक्त होती है। 'पूर्व' शब्द के उपादान का आशय यही है कि यह सिद्धान्त इसी समय पहली बार नहीं लिखा जा रहा है। इसीलिये आलोक में व्याख्या की गई है—ठीक रूप में चारों ओर से यह सिद्धान्त प्रकट किया गया है। 'तस्य' (उसका) का आशय यह है कि जिसके प्राप्त करने के

लोचनम्

न चास्माभिरभाववादिनां विकल्पाः श्रुताः किन्तु सम्भाव्य दूषयिष्यन्ते; अतः परोक्षत्वम्। न च भविष्यद्वस्तु दूषयितुं युक्तम्, अनुपपन्नत्वादेव। तदपि बुद्ध्यारोपितं दूष्यत इति चेत्, बुद्ध्यारोपितत्वादेव भविष्यत्त्वहानिः। अतो भूतकालोन्मेषात् पारोक्ष्याद्विशिष्टाद्यतनत्वप्रतिभानाभावाच्च लिटा प्रयोगः कृतः जगदुरिति। तद्व्याख्यानायैव संभाव्यदूषणं प्रकटयिष्यति। सम्भावनापि

हमलोगों के द्वारा अभाववादियों के विकल्प सुने नहीं गये हैं किन्तु सम्भावना करके उनमें दोष दिखलाये जावेंगे। इसीलिये परोक्षत्व (का प्रयोग किया गया है।) भविष्य की वस्तु में दोष दिखलाना उचित है नहीं क्योंकि वह अभी उपपन्न ही नहीं हुई। यदि कहो कि वह बुद्धि में आरोपित कर दूषित की जा रही है तो बुद्धि में आरोपित होने के कारण ही उसमें भविष्यत्त्व की हानि हो जाती है। इसलिये भूतकाल के उन्मेष से, परोक्ष होने से, और विशिष्ट रूप से अद्यतनत्व का प्रतिभास न होने से लिट् (लकार) के द्वारा प्रयोग किया गया है—'जगदुः' यह। उस (लिट् लकार) की व्याख्या करने के लिये ही सम्भावना करके दोषों को प्रकट

तारावती

लिये प्रयत्न करना चाहिये उसका भी लोग अभाव बतलाते हैं। उसके अभाव की सम्भावना ही क्या हो सकती है। तस्य, शब्द जिस प्रकार की कण्ठध्वनि से उच्चरित हुआ है उससे व्यक्त होता है कि लेखक (ध्वनिकार) को महान् आश्चर्य है कि लोग उसका भी अभाव बतलाते हैं। 'उसका' पर जोर देने से व्यक्त होता है कि 'हम क्या करें; अभाववादियों की बहुत बड़ी मूर्खता है।'

'जगदुः' क्रिया में अनद्यतन परोक्षभूत का प्रयोग किया गया है। इस क्रिया में परोक्ष भूत का अर्थ यह है कि अभाववादियों के विकल्प सुने नहीं गये हैं किन्तु सम्भावना करके ही उनका खण्डन किया जावेगा। भूतकाल के प्रयोग का आशय यह है कि भविष्य वस्तु का खण्डन किया ही नहीं जा सकता। पहले वस्तु को हृदय में स्थापित कर लिया जाता है फिर उस पर विचार किया जाता है। हृदय में स्थापित कर लेने से भूतकाल आ गया और अद्यतन का प्रतिभास होता नहीं है। इसीलिये भूतानद्यतन परोक्ष का प्रयोग किया गया है। आशय यह है कि उस ध्वनि की व्याख्या करने के लिये ही पक्षों की सम्भावना कर उनका खण्डन किया जावेगा। [वस्तुतः परोक्ष भूत का प्रयोग केवल सम्भावना का ही द्योतक नहीं किन्तु किसी पुरानी परम्परा की ओर भी इङ्गित करता है जिसका ज्ञान ध्वनिकार को था; आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त को नहीं था।] 'सम्भवन्ति' इस क्रिया के प्रयोग का आशय यह है कि असम्भव की सम्भावना नहीं की जा सकती; अन्यथा न तो सम्भावनाओं का ही अन्त आ सकता है और न दोषों की परिसमाप्ति ही हो सकती है। इसीलिये जिन सम्भावित पक्षों का अग्रिम पृष्ठों में निरूपण किया जायेगा उनके लिये पहले ही 'सम्भवन्ति' इस क्रिया का निर्देश किया गया है। यद्यपि यहाँ पर 'सम्भाव्यन्ते' इस कर्मवाच्य क्रिया का भी प्रयोग किया जा

लोचनम्

नेयमसम्भवतो युक्ता अपितु सम्भवत एव। अन्यथा सम्भावनानामपर्यवसानं स्याद् दूषणानां च। अतः सम्भावनामभिधायिष्यमाणां समर्थयितुं पूर्वं सम्भवन्तीत्याह। सम्भाव्यन्त इति तूच्यमानं पुनरुक्तार्थमेव स्यात्। न च सम्भवस्यापि सम्भावना, अपितु वर्तमानतैव स्फुटेति वर्तमानेनैव निर्देशः। ननु च सम्भवद्वस्तुमूलया सम्भावनया यत्सम्भावितं तद्दूषयितुमशक्यमित्याह—विकल्पा इति। न तु वस्तु सम्भवति तादृक् इति इय सम्भावना, अपितु विकल्पा एव। ते च तत्त्वावबोधवन्ध्यतया स्फुरेयुरपि। अतएव आचक्षीरन् इत्यादयोऽत्र सम्भावनाविषयाः लिङ्प्रयोगाः अतीतपरमार्थे पर्यवस्यन्ति।

करेंगे। असम्भव की यह सम्भावना भी उचित नहीं है। अपितु सम्भव की ही (सम्भावना उचित है)। अन्यथा सम्भावनाओं और दूषणों का पर्यवसान कभी हो ही न सके। इसलिये जिस सम्भावना को आगे चलकर कहेंगे उसका समर्थन करने के लिये पहले ही 'सम्भवन्ति' यह कहा है। यदि सम्भाव्यन्ते 'सम्भावना की जाती है' यह कहा गया होता तो पुनरुक्तार्थ ही हो जाता। सम्भव की भी सम्भावना हो सकती है ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसका वर्तमान होना ही स्फुट है अतः वर्तमान के द्वारा ही निर्देश किया गया है। सम्भव वस्तु मूलक सम्भावना के द्वारा जो वस्तु सम्भावित की गई हो उसको दूषित करना अशक्य है यह आशङ्का करके उत्तर दे रहे हैं—विकल्पा इति। वस्तु तो उस प्रकार की सम्भव ही नहीं है जिससे यह सम्भावना की गई है अपितु (ये) विकल्प ही हैं। और वे तत्त्वज्ञान में बन्ध्य (कुण्ठित) होने के कारण स्फुरित भी हो सकें इसीलिये 'आचक्षीरन्' इत्यादि सम्भावना विषयक लिङ्लकार के प्रयोग अतीत के तात्पर्यार्थ में पर्यवसित होते है (आशय यह है कि जिन अभाव पक्षों की कल्पना की गई है वे केवल सम्भावित पक्ष ही हैं सम्भव नहीं हैं; जिनकी बुद्धि तत्त्वज्ञान में कुण्ठित है उन्हीं के मस्तिष्क में वे स्फुरित हो सकते हैं। इसी बात को प्रकट करने के लिये आचक्षीरन् इत्यादि शब्दों में लिङ्लकार का प्रयोग किया गया है जिसका तात्पर्यार्थ होता है भूतकाल।) जैसे—

तारावती

सकता था किन्तु अगले प्रकरण में 'आचक्षीरन्' इत्यादि क्रियाओं में लिङ्लकार का प्रयोग किया जायेगा। उस लिङ्लकार से कर्मवाच्य क्रिया की पुनरुक्ति हो होती। इसीलिये कर्तृवाच्य का प्रयोग किया गया है कर्मवाच्य का नहीं। 'सम्भवन्ति' में वर्तमान काल के प्रयोग का आशय यह है कि जो वस्तु सम्भव है वह केवल सम्भावना का ही विषय नहीं होती किन्तु वर्तमानता तो उसमें रहती ही है।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सम्भावना के मूल में सम्भव वस्तु हो तो उसका प्रतिषेध किस प्रकार किया जा सकेगा। इसी प्रश्न का उत्तर देने के मन्तव्य से आलोककार ने विकल्प शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का अभिप्राय यह है कि जिस

लोचनम्

यदिनामास्य कायस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत् ।
दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत् ॥

इत्यत्र । यद्येवं कायस्य दृष्टता स्यात्तदैवमवलोक्येतेति भूतप्राणतैव । यदि न स्यात्ततः किं स्यादित्यत्रापि, किं वृत्तं यदि पूर्ववत्समभवनस्य सम्भावनेत्यलम-

'शरीर के अन्दर जो कुछ है यदि वह बाहर होवे तो यह संसार दण्ड लेकर कुत्तों कौओं से इसको बचाता फिरे।'

यहाँ पर। 'यदि शरीर का इस प्रकार देखा जाना होवे तो इस प्रकार का दिखलाई पड़े' इस वाक्य के अर्थ का प्राण भूतकाल ही है। 'यदि न हो तो क्या हो' यहाँ पर भी। (इसका अर्थ यही है कि) क्या हुआ यदि पहले के समान होने की सम्भावना नहीं हुई' इस प्रकार के अप्रासङ्गिक बहुत कहने की आवश्यकता नहीं। उसमें सङ्केत की अपेक्षा से

तारावती

वस्तु की सम्भावना की गई है वह सर्वथा सम्भव नहीं है। क्योंकि है तो वह सम्भावना ही। फिर इसके लिये 'सम्भवन्ति' इस क्रिया का प्रयोग क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह है कि तत्त्व ज्ञान की दिशा में जिनकी बुद्धि कुण्ठित रहती है उनके मस्तिष्क में ये पक्ष स्फुटित हो सकते हैं। इसीलिये 'आचक्षीरन्' इत्यादि क्रियाओं में लिङ् का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ सम्भावना होता है और जिसका पर्यवसान 'अतीत' रूप तात्पर्यार्थ में होता है। [जिस प्रकार 'जगदुः' में बुद्ध्युपारूढ होने के कारण भूतकाल का प्रयोग किया गया है उसी प्रकार लिङ् का पर्यवसान भी भूतकाल में ही होता है।] जैसे 'इस शरीर के अन्दर जो कुछ है यदि वह बाहर भी होता तो यह संसार दण्ड लेकर कुत्ते कौओं को ही भगाया करता।' यहाँ पर 'यदि इस प्रकार का शरीर दृष्टिगत हुआ करता तो इस प्रकार की घटना दिखलाई पड़ती' इस वाक्य का पर्यवसान भूतकाल में ही होता है। [केवल विधि वाक्यों में ही नहीं निषेध वाक्यों में भी सम्भावनार्थक लिङ् का तात्पर्य अतीत में ही हुआ करता है। जैसे] 'यदि ऐसा नहीं होता तो क्या होता' यहाँ पर भी अर्थ का पर्यवसान अतीत में ही होता है। यदि पहले कहीं बात समान होने की सम्भावना नहीं हुई तो क्या हुआ ? [अर्थात् यदि शरीर का अन्दर जैसा बाहर नहीं हुआ तो वह बात नहीं हुई कुत्ते कौओं से शरीर की रक्षा नहीं करनी पड़ी। इस प्रकार निषेध वाक्य में भी सम्भावनार्थ लिङ् का प्रयोग भूतके अर्थ में ही पर्यवसित होता है] अब और अधिक अप्रासङ्गिक वर्णन की आवश्यकता नहीं। [यहाँ पर विकल्प शब्द के प्रयोग के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जिन पक्षों की सम्भावना की जा रही है वे पक्ष परमार्थतः सम्भव नहीं हैं; केवल तत्त्व ज्ञान से विमुख व्यक्ति ही उनको सम्भव मान सकते हैं। सत्य जैसे प्रतीत होने वाले किन्तु वस्तुतः असत्य प्रमाणों और युक्तियों के बल पर विरुद्ध कल्पना कर लेना विकल्प कहलाता है। पातञ्जल दर्शन में विकल्प शब्द की

लोचनम्

प्रकृतेन बहुना। तत्र समयापेक्षणेन शब्दाऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्य-व्यतिरिक्तं नास्ति व्यङ्ग्यम्, सदपि वा तदभिधावृत्त्याक्षिप्तं शब्दावगतार्थ-बलाकृष्टत्वाद्भाक्तम्, तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं कुमारीष्विव भर्तृसुख-मतद्विस्सु इति त्रय एवैते प्रधानविप्रतिपत्तिप्रकाराः।

(करते हुये) शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है' यह मानकर वाच्य से भिन्न व्यङ्ग्य नहीं होता, अथवा होते हुए भी अभिधावृत्ति के द्वारा आक्षिप्त (होकर) शब्द के अवगत अर्थ के बल पर आकृष्ट किया हुआ भाक्त प्रयोग ही है। उसके द्वारा आक्षिप्त न होकर के भी कहा नहीं जा सकता जिस प्रकार उस बात को न जानने वाली कुमारियों में प्रियतम का सुख (नहीं कहा जा सकता), इस प्रकार विप्रतिपत्ति के ये तीन प्रधान प्रकार हैं।

तारावती

व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' अर्थात् जहाँ वस्तु की सत्ता न हो किन्तु शब्दज्ञान मात्र से जिसकी प्रतीति हो जाती हो उसे विकल्प कहते हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में लिखा है—'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' अर्थात् जहाँ अर्थ (वस्तु) की सत्ता विलकुल न हो किन्तु शब्द का प्रयोग कर दिया जावे तो उससे एक प्रकार का ज्ञान स्फुटित अवश्य हो जायगा। वैयाकरणों के मत में बौद्ध पदार्थ ही शाब्दबोध का विषय होता है। इस समस्त प्रकरण का आशय यही है कि अग्रिम पृष्ठों में जिन ध्वनि विरोधी पक्षों की उद्भावना की जावेगी वे वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं अपितु असत् पक्षों को ही बुद्धिगम्य बताया गया है।] संक्षेप में जिन ध्वनि विरोधी पक्षों की उद्भावना की जा सकती है वे ये हैं—(१) वही शब्द अर्थ का प्रतिपादन कर सकता है जिसका सङ्केत ग्रहण हो गया हो। सङ्केतित अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं; अतः वाच्यार्थ से भिन्न कोई व्यङ्ग्यार्थ हो ही नहीं सकता। (२) यदि वाच्यार्थ से भिन्न-कोई भी अर्थ सम्भव है तो वह वाच्यार्थ के बल पर आकृष्ट किया हुआ उसका सहयोगी अर्थ ही हो सकता है। उसका समावेश लक्ष्यार्थ में हो जावेगा उसके लिये अलग से व्यञ्जना वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं। (३) यदि कोई ऐसा भी अर्थ सम्भव है जिसका किसी प्रकार का सम्बन्ध वाच्यार्थ से नहीं है और वह वाच्यार्थ से आक्षिप्त नहीं किया जा सकता तो जैसे पुरुषसहवास का आनन्द न जानने वाली कुमारिकाओं को उस सुख का परिचय नहीं दिया जा सकता उसी प्रकार इस ध्वनितत्त्वका निर्वचन भी सर्वथा असम्भव है। वस, विरोध के यही तीन प्रकार हैं। [प्रथम पक्ष को अभाववाद की संज्ञा प्रदान की जा सकती है जो कि विपर्ययमूलक हैं क्योंकि विरोधी ज्ञान पर आधारित है। दूसरे पक्षको भाक्तवाद कहा जा सकता है जो कि सन्देह-मूलक है। तीसरा पक्ष अशक्यवक्तव्यत्ववाद के नाम से अभिहित किया जा सकता है जो कि अज्ञातमूलक है।]

रुय्यक के अलङ्कार सर्वस्व की विमर्शिनी टीका में जयरथ ने १२ ध्वनि विरोधों का

लोचनम्

तत्राभावविकल्पस्य त्रयः प्रकाराः—शब्दार्थगुणालङ्काराणामेव शब्दार्थशोभाकारित्वाल्लोकशास्त्रातिरिक्तसुन्दरशब्दार्थरूपस्य काव्यस्य न शोभाहेतुः कश्चिदन्योऽस्ति योऽस्माभिर्न गणित इत्येकः प्रकारः। यो वा न गणितः स शोभाकार्येव न भवतीति द्वितीयः। अथ शोभाकारी भवति तर्ह्यस्मदुक्त एव गुणे वालङ्कारे वान्तर्भवति, नामान्तरकरणे तु कियदिदं पाण्डित्यम्; अथाप्युक्तेषु गुणेष्वलङ्कारेषु वा नान्तर्भावः, तथापि किञ्चिद्विशेषलेशमाश्रित्य नामान्तरकरणमुपमाविच्छित्तिप्रकाराणामसंख्यत्वात्। तथापि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभाव एव। तावन्मात्रेण च किं कृतम्? अन्यस्यापि वैचित्र्यस्य शक्योत्प्रेक्ष्यत्वात्। चिरन्तनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे एव शब्दार्थालङ्कारत्वेनेष्टे। तत्प्रपञ्चदिक्प्रदर्शनं त्वन्यैरलङ्कारकारैः कृतम्। तद्यथा 'कर्मण्यण्' इत्यत्र कुम्भकाराद्युदाहरणं श्रुत्वा स्वयं नगरकारादिशब्दा उत्प्रेक्ष्यन्ते। तावता क आत्मनि बहुमानः। एवं प्रकृतेऽपीति तृतीयः प्रकारः। एवमेकस्त्रिधा विकल्पः, अन्यौ च द्वाविति पञ्च विकल्पाः इति तात्पर्यार्थः।

उनमें अभाव विकल्प के तीन प्रकार हैं-शब्द, अर्थ गुण और अलङ्कारों के ही शब्द और अर्थ के शोभाकारक (धर्म) होने के कारण लोक और शास्त्र से भिन्न सुन्दर शब्दार्थ से बने हुये काव्य का शोभा हेतु कोई अन्य (धर्म) है ही नहीं जो हम लोगों के द्वारा न गिना गया हो—यह एक प्रकार है; अथवा जो न गिना गया हो वह शोभाकारी ही नहीं होता यह दूसरा है, यदि शोभाकारी होता है तो हमारे कहे हुये गुण अथवा अलङ्कार में अन्तर्भाव हो जाता है, दूसरे नाम रखने में तो यह कितना पाण्डित्य है। और भी यदि कहे हुए गुणों और अलङ्कारों में अन्तर्भाव नहीं होता तथापि कुछ विशेषता का अंश लेकर दूसरा नाम रक्खा जाता है क्योंकि उपमा विच्छित्ति के अनेक प्रकार होते हैं। तथापि गुणों और अलङ्कारों से व्यतिरिक्तत्व का अभाव ही है। केवल उतने से ही क्या किया गया? और भी वैचित्र्य की उत्प्रेक्षा की जा सकती है। निस्सन्देह चिरन्तन भरतमुनि इत्यादिकों ने यमक और उपमा ही शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप में इष्ट (बतलाये हैं)। उनके प्रपञ्च की दिशा का प्रदर्शन अन्य अलङ्कारकारों ने कर दिया। वह इस प्रकार—'कर्मण्यण्' यहाँ पर 'कुम्भकार' इत्यादि उदाहरणों को सुनकर स्वयं नगरकार इत्यादि शब्दों की उत्प्रेक्षा की जा सकती है। उतने से अपने विषय में बहुत अधिक सम्मान देने का क्या अवसर? इसी प्रकार प्रकृत विषय में भी यह तीसरा प्रकार है। इस प्रकार एक तो तीन प्रकार का विकल्प है; अन्य दो प्रकार, इस प्रकार पाँच विकल्प होते हैं, यही तात्पर्यार्थ है।

तारावती

उल्लेख किया है। किन्तु उनका इन्हीं तीन प्रकारों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः ध्वनि के मुख्य विरोधी पक्ष ये तीन ही हैं।

ध्वन्यालोकः

तत्र केचिदाचक्षीरन्—शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च

[(अ०) प्रथम पक्ष—सम्भवतः यहाँ पर कुछ लोग यह कहें कि 'इसमें तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। इनमें शब्दगत चारुता में हेतु अनुप्रास इत्यादि प्रसिद्ध ही हैं। अर्थगत चारुता में हेतु उपमा इत्यादि भी प्रसिद्ध ही हैं। वर्ण-

तारावती

प्रथम पक्ष अभाववाद के तीन प्रकार हैं—(१) लोक और शास्त्र की सीमा का अतिक्रमण करने वाले शब्द और अर्थ ही काव्य का स्वरूप हैं। शब्द और अर्थ में शोभा का आधान करने वाले धर्म शब्द गुण, अर्थ गुण, शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार ही हैं। इनके अतिरिक्त शोभाधायक कोई अन्य धर्म है ही नहीं जिसकी गणना हम न कर चुके हों। यह पहला प्रकार है। (२) जिसका साहित्य शास्त्र में अब तक विचार नहीं किया गया वह धर्म शोभाधायक हो ही नहीं सकता। यह दूसरा प्रकार है। (३) यदि शोभाधायक धर्मान्तर प्राप्त भी हो जावे तो उसका अन्तर्भाव हमारे कहे हुये गुणों और अलङ्कारों में ही हो जावेगा। यह दूसरा नाम रख देने में ही आपका कौनसा पाण्डित्य है। यदि कहो कि उक्त गुणों और अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता तो भी विशेषता के किसी अंश को लेकर दूसरा नाम रक्खा जा सकता है। उपमा में विच्छित्ति के इतने प्रकार हैं कि उनकी संख्या ही नियत नहीं की जा सकती। ऐसी दशा में भी (अर्थात् उपमा इत्यादि किसी अलङ्कार के प्रकार के अन्दर ही उस ध्वनि को सन्निविष्ट कर देने पर भी) ध्वनि गुणों और अलङ्कारों से भिन्न सिद्ध नहीं होती। दूसरा नाम रख देने से ही क्या हो जावेगा? ध्वनि ही नहीं और भी-अनेक विचित्रताओं की कल्पना की जा सकती है। भरतमुनि इत्यादि आचार्यों ने शब्दालङ्कार के रूप में यमक और अर्थालङ्कार के रूप में उपमा को ही अभीष्ट बतलाया था। अन्य अलङ्कारकारों ने उन्हीं दो अलङ्कारों की दिशा में उन्हीं के प्रपञ्च के रूप में अलङ्कारों की इतनी अधिक संख्या बढ़ा दी [जिस प्रकार अन्य अलङ्कारों का अन्तर्भाव शब्दालङ्कार यमक और अर्थालङ्कार उपमा में ही कर दिया, उसी प्रकार ध्वनि इत्यादि किसी भी नवीन कल्पना का समावेश भी उन्हीं में हो सकता है। नया नाम करण करने की क्या आवश्यकता? यदि भविष्य में भी कोई नया नाम प्रकट होता है तो उसका भी समावेश इन्हीं दो में हो जावेगा।] यह ऐसे ही समझना चाहिये जैसे व्याकरण की सामान्य विधियों के अनेक विशेष रूप होते हैं और सबका समाहार उसी सामान्य विधि में हो जाता है। जैसे 'कर्मण्यण्' सूत्र से कुम्भकारः बनता है। उसीसे नगरकारः भी बन सकता है। उसमें कोई नवीनता नहीं मानी जाती।

इस प्रकार अभाववाद के तीन पक्ष तथा लक्षणावाद पक्ष और अशक्यवक्तव्यत्व पक्ष, ये पांच पक्ष ध्वनि-विरोधियों के सम्भव हैं। अगले प्रकरण में इन्हींपर क्रमशः विचार किया जा रहा है।

ध्वन्यालोकः

ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

संघटना धर्म जो माधुर्य इत्यादि हैं उनकी भी प्रतीति होती है। कुछ लोगों के द्वारा पकाशित की हुई उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ भी सुनने में आई हैं किन्तु वे उपर्युक्त अलङ्कारादिकों से पृथक् नहीं कही जा सकती। उनका भी समावेश अलङ्कारादिकों में हो जाता है। वैदर्भी इत्यादि रीतियों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। अर्थात् वे भी अलङ्कारादिकों से पृथक् नहीं कही जा सकती। फिर उन सबसे भिन्न ध्वनि नाम की यह कौन सी नई बला है।

लोचनम्

तानेव क्रमेणाह—शब्दार्थशरीरं तावदित्यादिना। तावद्ग्रहणेन न कस्याप्यत्र विप्रतिपत्तिरिति दर्शयति। तत्र शब्दार्थौ न तावद्ध्वनिः, यतः संज्ञामात्रेण हि को गुणः? अथ शब्दार्थयोश्चारुत्वं स ध्वनिः। तथापि द्विविधं चारुत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठं सङ्घटनाश्रितं च। तत्र शब्दानां स्वरूपमात्रकृतं चारुत्वं शब्दालङ्कारेभ्यः सङ्घटनाश्रितं तु शब्दगुणेभ्यः। एवमर्थानां चारुत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठमुपमादिभ्यः। सङ्घटनापर्यवसितं त्वर्थगुणेभ्य इति न गुणाव्यतिरिक्तो ध्वनिः कश्चित्। सङ्घटनाधर्मा इति। शब्दार्थयोरितिशेषः। यद् गुणालङ्कारव्यतिरिक्तं तच्चारुत्वकारि न भवति नित्यानित्यदोषा असाधुदुःश्रवादय इव चारुत्वहेतुश्च ध्वनिः, तत्र तद्व्यतिरिक्त इदं व्यतिरेकी हेतुः।

उन्हीं को क्रमशः कहते हैं—शब्दार्थशरीरं तावत् इत्यादि के द्वारा। 'तावत्' शब्द के उपादान से यह दिखलाते हैं कि इस विषय में किसी की विप्रतिपत्ति नहीं है। उसमें—शब्द और अर्थ तो ध्वनि नहीं है क्योंकि केवल संज्ञा में ही क्या गुण है? (अर्थात् शब्द और अर्थ का ही दूसरा नाम (ध्वनि) रख देना व्यर्थ है। यदि शब्द और अर्थ को (जो) चारुता है, वह ध्वनि है, तथापि दो प्रकार की चारुता होती है—स्वरूप मात्र में रहने वाली और संघटना में रहने वाली। उनमें शब्दों के स्वरूपमात्र से उत्पन्न होने वाली चारुता शब्दालङ्कारों से और सङ्घटनाश्रित शब्दगुणों से, इसी प्रकार अर्थ की स्वरूपमात्र में रहने वाली चारुता उपमा इत्यादि से और सङ्घटना पर्यवसित तो अर्थगुणों से (गतार्थ हो जाती है) इस प्रकार गुणों और अलङ्कारों से भिन्न ध्वनि कोई होती नहीं। 'सङ्घटना धर्मा इति' शब्द और अर्थ के, यह शेष है। (अर्थात् शब्द और अर्थ के सङ्घटना धर्म भी प्रतीत होते हैं।) जो गुणों और अलङ्कारों से व्यतिरिक्त होता है वह नित्यानित्य दोष 'असाधु' 'दुःश्रव' इत्यादि के समान चारुता को उत्पन्न करने वाला नहीं होता। और ध्वनि चारुता हेतु होती है अतः उससे व्यतिरिक्त नहीं होती, यह व्यतिरेकी हेतु है।

तारावती

मूल में 'तावत्' शब्द का प्रयोग किया गया है—'शब्दार्थशरीरं' 'तावत्' 'काव्यम्' तावत् शब्द का अर्थ है निश्चय ही (देखें शब्द कल्पद्रुम कोश) तावत् शब्द के प्रयोग से यह प्रकट किया गया है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीरादि हैं इस विषय में किसी को भी विरोध नहीं है। (अधिकतर विद्वानों ने शब्द और अर्थ के साहित्य को ही काव्य कहा है-'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (भामह) 'शब्दार्थौ सहितौ। वक्रकविव्यापारशालिनि' इत्यादि (कुन्तक) 'तददोषौ शब्दार्थौ' (मम्मट) इत्यादि। जिन आचार्यों ने केवल शब्दगत काव्य माना है उन्होंने भी अर्थ के साहचर्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की है जैसे—शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' (दण्डी) 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' (पण्डितराज) इत्यादि) [अब प्रश्न यह है कि आप शब्द और अर्थ को ध्वनि कहते हैं या उनकी किसी विशेषता को] आप शब्द और अर्थ को ध्वनि नहीं कह सकते। क्योंकि शब्द और अर्थ को एक नया नाम दे देने से क्या लाभ ? अतएव शब्द और अर्थ की विशेषता (सुन्दरता) को ही ध्वनि कहना पड़ेगा। सुन्दरता दो प्रकार की होती है (१) स्वरूप में रहने वाली सुन्दरता और सङ्घटन में रहने वाली सुन्दरता। उनमें शब्दों के स्वरूपमात्र से होने वाली सुन्दरता शब्दालङ्कारों से और सङ्घटनाश्रित रमणीयता शब्द गुणों से गतार्थ हो जाती है। इसी प्रकार अर्थों की स्वरूपमात्र गत रमणीयता उपमा इत्यादिकों से और सङ्घटना पर्यवसितरमणीयता अर्थ गुणों से गतार्थ हो जाती है। गुण और अलङ्कारों के भेदक तत्त्व का प्रश्न भी साहित्य शास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने गुणों और अलङ्कारों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया था। किन्तु इस बात पर प्रकाश नहीं डाला था कि इनका परस्पर भेदक तत्त्व क्या है ? सर्वप्रथम वामन ने अलङ्कारों से गुणों के भेदक तत्त्व की व्याख्या की। उन्होंने लिखा है कि 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः' 'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' उन्होंने दूसरा भेदकतत्त्व बतलाया नित्यता और अनित्यता का। गुण नित्य धर्म होते हैं और अलङ्कार अनित्य। भट्टोद्भट को यह मत ठीक नहीं जँचा। उन्होंने लिखा है कि लोक में तो शौर्य इत्यादि गुण समवायवृत्ति (नित्य सम्बन्ध) से रहते हैं और अलङ्कार हार इत्यादि संयोग वृत्ति (अनित्य सम्बन्ध) से रहते हैं, यह कहा जा सकता है किन्तु काव्य में गुणों और अलङ्कारों का भेद केवल भेडाचाल है। ठीक रूप में ध्वनिवादियों ने ही गुणों और अलङ्कारों के भेद की स्थापना की। ध्वनिवादियों का कहना है कि रस काव्य का जीवन है। जिस प्रकार शौर्य इत्यादि गुण आत्मा के ही धर्म होते हैं उसी प्रकार काव्य के ओज इत्यादि भी रस के ही प्रत्यक्ष धर्म होते हैं। कोमल सङ्घटना कोमल रसों के लिए अनिवार्य होती है और कठोर सङ्घटना कठोर रसों के लिये। इसके प्रतिकूल अलङ्कार अङ्गभूत शब्द और अर्थ का उपकार करते हुए उस अङ्गी आत्माभूत रस का उपकार करते हैं। (दे० काव्य प्रकाश उ० ८) इन गुण और अलङ्कारों से भिन्न ध्वनि नाम की कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। मूल में जो सङ्घटना धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है उसका आशय है शब्द

लोचनम्

ननु वृत्तयो रीतयश्च यथा गुणालङ्कारव्यतिरिक्ताश्चारुत्वहेतवश्च तथा ध्वनिरपि तद्व्यतिरिक्तश्च चारुत्वहेतुश्च भविष्यतीत्यसिद्धो व्यतिरेक इत्यनेनाभिप्रायेणाह-तदनतिरिक्तवृत्तय इति। नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्। तथा

(प्रश्न) रीतियाँ और वृत्तियाँ भी जैसे गुणालङ्कार व्यतिरिक्त होती हैं और चारुत्व हेतु भी होती हैं, उसी प्रकार ध्वनि भी उनसे व्यतिरिक्त (होते हुये) चारुत्व हेतु हो जावेगी इस प्रकार व्यतिरेक (व्यतिरेकी हेतु) असिद्ध है। इस अभिप्राय से कह रहे हैं—तदनतिरिक्त-वृत्तयः इति। वृत्तियों और रीतियों का तद्व्यतिरिक्तत्व (शब्द, अर्थ, शब्द सौन्दर्य, अर्थ सौन्दर्य, शब्द सङ्घटना सौन्दर्य, अर्थ सङ्घटना सौन्दर्य इनसे भिन्नत्व) सिद्ध नहीं ही है। वह

तारावती

और अर्थ के सङ्घटना धर्म [यहाँ पर अनुमान प्रमाण से साध्यसिद्धि की गई है। ध्वनि पक्ष है; गुण और अलङ्कार से भिन्न न होना साध्य है; चारुता में कारण होना हेतु है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—ध्वनि गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होती, क्योंकि चारुता में हेतु होती है। जो जो चारुता में हेतु होते हैं वे गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होते।] यहाँ पर व्यतिरेकी हेतु के द्वारा साध्यसिद्धि होगी। [अन्वय व्याप्ति इस प्रकार की बनती है—'जो पदार्थ चारुता में हेतु होते हैं वे गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होते, इसका कोई उदाहरण मिल ही नहीं सकता क्योंकि ऐसा कोई चारुता-हेतु होता ही नहीं जो गुण और अलङ्कारों से भिन्न हो अतएव व्यतिरेकी हेतु से साध्य सिद्धि करनी पड़ेगी।] व्यतिरेक व्याप्ति इस प्रकार बनेगी—'जो पदार्थ गुण अलङ्कारों से भिन्न होते हैं वे चारुता-हेतु नहीं हो सकते।' जैसे नित्य दोष 'असाधु' इत्यादि अनित्य दोष 'दुःश्रव' इत्यादि गुण और अलङ्कारों से भिन्न होने के कारण चारुता-हेतु नहीं होते ध्वनि भी चारुता-हेतु है अतएव वह गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होती। इसी को व्यतिरेकी हेतु कहते हैं।

[यहाँ पर ध्वनि-विरोधी ने व्यतिरेकी हेतु के द्वारा ध्वनि का अन्तर्भाव गुण और अलङ्कारों में सिद्ध किया था। पूर्व पक्षी उसमें हेतु दोष दिखला रहा है।] वृत्तियाँ और रीतियाँ गुण और अलङ्कारों से भिन्न भी होती है और चारुता हेतु भी होती हैं। इसी प्रकार ध्वनि भी गुणालङ्कार अतिरिक्त भी हो सकती है और चारुता-हेतु भी हो सकती है। इस प्रकार ऊपर दिखलाया हुआ व्यतिरेकी हेतु असिद्ध हो जाता है। [तर्क शास्त्रमें हेतु दोषों को हेत्वाभास कहते हैं। हेतु यदि साध्य से भिन्न स्थानों में पाया जावे तो वहाँ पर अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। ऊपर के अनुमान में हेतु है—रमणीयता में कारण होना, यह हेतु साध्य गुण और अलङ्कारों से भिन्न वृत्तियों और रीतियों में भी मिल जाता है। अतएव यहाँ पर अनेकान्तिक हेत्वाभास होने से साध्य असिद्ध हो जाता है। वस्तुतः यहाँ

लोचनम्

ह्यनुप्रासानामेव दीप्तमसृणमध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुषत्वललितत्वमध्यमत्व-स्वरूपविवेचनाय वर्गत्रयसम्पादनार्थं त्रिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः। वर्तन्तेऽनुप्रासभेदाः आस्विति, यदाहुः —

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥

पृथक्पृथगिति। परुषानुप्रासा नागरिका। मसृणानुप्रासा उपनागरिका, ललिता। नागरिकया विदग्धया उपमितेतिकृत्वा। मध्यमकोमलपरुषमित्यर्थः। अतएव वैदग्ध्यविहीनस्वभावा सुकुमारपरुषग्राम्यवनितासादृश्यादियं वृत्तिर्ग्राम्येति। तत्र तृतीयः कोमलानुप्रास इति वृत्तयोऽनुप्रासजातय एव। नचेह वैशेषिकव-द्वृत्तिर्विवक्षिता येन जातौ जातिमतो वर्तमानत्वं स्यात्, तदनुग्रह एव हि तत्र वर्तमानत्वम्।

इस प्रकार–दीप्त कोमल और मध्यम वर्णनीय (वर्ण्य विषय) के उपयोगी होने के कारण परुषत्व ललितत्व तथा मध्यमत्व के स्वरूप विवेचन के लिये तीन वर्ग बनाने के लिये तीन अनुप्रास जातियों को वृत्ति कहा है—वर्तमान रहते हैं अनुप्रास भेद जिनमें, यह (वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति है।) जैसा कि कहते हैं—

'इन तीनों वृत्तियों में समान रूप वाले व्यञ्जनों के न्यास को कवि लोग सदा पृथक्-पृथक् अनुप्रास (कहने की) इच्छा करते हैं।'

पृथक्-पृथक् (का अर्थ यह है)—परुष अनुप्रास वाली वृत्ति को नागरिका कहते हैं। कोमल अनुप्रास वाली वृत्ति को उपनागरिका या ललिता कहते हैं। नागरिका विदग्धा से इसको उपमा दी गई है इस आधार पर। मध्य (वह होता है जो) न कोमल हो न परुष यह अर्थ है। अतएव वैदग्ध्य विहीन स्वभाव वाली अकोमल और अपरुष ग्राम्य वनिता के सादृश्य से यह वृत्ति ग्राम्या इस (नामवाली होती है)। उनमें तृतीय (ग्राम्या वृत्ति) कोमलानुप्रास (कहलाती है)। इस प्रकार वृत्तियाँ वैशेषिक के समान कही जाना अभीष्ट नहीं है जिससे जाति में जाति का वर्तमानत्व न हो; उन पर अनुग्रह करना ही वर्तमानत्व है।

तारावती

पर आश्रयासिद्ध और स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास भी दिखलाये जा सकते हैं। आश्रयासिद्ध वहाँ पर होता है जहाँ पक्ष का नितान्त अभाव हो। ध्वनि विरोधी के मत में ध्वनिका सर्वथा अभाव होता ही है। स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास वहाँ पर होता है जहाँ पक्ष में हेतु का अभाव हो। ध्वनि विरोधी के मत में ध्वनि में चारुता होती ही नहीं अतएव यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। किन्तु प्रस्तुत तर्क ध्वनिवादी की ओर से उपस्थित किया गया है। अतएव अनैकान्तिक हेत्वाभास ही यहाँ पर समझा जाना चाहिये। आशय यह है कि जिस प्रकार वृत्तियाँ और रीतियाँ गुणालङ्कार व्यतिरिक्त होते हुये भी चारुता हेतु हो सकती हैं

तारावती

उसी प्रकार ध्वनि भी गुणालङ्कार व्यतिरिक्त होते हुये भी चारुता-हेतु हो सकती है। अग्रिम प्रकरण में इसी हेत्वाभास पर विचार किया जा रहा है।] वृत्तियों और रीतियों का गुण और अलङ्कारों से भिन्न होना सिद्ध नहीं है। दीप्त, कोमल और मध्यम विषयों में उपयोगी होने के कारण अनुप्रास के ही कठोर, कोमल और मध्यम इन तीन स्वरूपों की विवेचना करने के मन्तव्य से तीन वर्ग कर लिये गये हैं। यही तीन वृत्तियाँ हैं जो कि अनुप्रास की ही आश्रित जातियाँ हैं। वृत्ति शब्द 'वृतु वर्तने' धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर बनता है, जिसका अर्थ है वर्तमान होना अर्थात् जिनमें अनुप्रास के भेद वर्तमान हों उन्हें वृत्ति कहते हैं। जैसा कि उद्भट ने लिखा है—'कवि लोग सर्वदा इन तीनों वृत्तियों में पृथक् पृथक् ऐसे अनुप्रास की इच्छा करते हैं जिसमें समान रूपवाले व्यञ्जनों का प्रयोग किया जाता है।'

पृथक् पृथक् का अर्थ है—अनुप्रास का प्रयोग तीन प्रकार का होता है—(१) जहाँ पर अनुप्रास में परुष वर्णों का प्रयोग होता है उसे परुषा या नागरिका वृत्ति कहते हैं। (२) जहाँ पर कोमल वर्णों का प्रयोग होता है उसे उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। उपनागरिका शब्द का अर्थ है नगर निवासिनी ललना के समान वैदग्ध्य पूर्ण। जिस प्रकार नागरिक ललना अपने हाव-भाव के द्वारा आकर्षण करती है उसी प्रकार उपनागरिका वृत्ति अपनी मधुरता अथवा कोमलता से जन समूह के मन को आकर्षित करती है। (३) जहाँ पर न अधिक कठोर वर्णों का प्रयोग हो और न अधिक कोमल वर्णों का ही प्रयोग हो उसे मध्यमा अथवा ग्राम्या वृत्ति कहते हैं। जिस प्रकार ग्राम वनिता में किसी प्रकार का वैदग्ध्य नहीं होता, न उसमें सौकुमार्य ही होता है और न पारुष्य ही। इसी साम्य के आधार पर इस वृत्ति को ग्राम्या वृत्ति कहते हैं। तृतीय वृत्ति ग्राम्या की एक रूढ़िसंज्ञा कोमलानुप्रास भी है जिसका कि भट्टोद्भट इत्यादि आचार्यों ने प्रयोग किया है। वस्तुतः इसमें कोमल अनुप्रास होने का नियम नहीं है। यह केवल नाम पड़ गया है। इस प्रकार वृत्तियाँ अनुप्रास की जातिवाली ही होती हैं उनसे भिन्न नहीं (भामह ने अनुप्रास के दो भेद किये थे-ग्राम्यानुप्रास और अनुप्रास। सम्भवतः अनुप्रास से उनका अभिप्राय उपनागरिकानुप्रास से था। उद्भट ने वृत्तियों की संख्या तीन कर दी—ग्राम्या, उपनागरिका और परुषा। इनका विशेष परिचय उद्भट ने काव्यालङ्कार सार संग्रह में दिया है) यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि वृत्तियाँ भी जातिवाचक होती हैं और अनुप्रास की भी जाति कही जाती है। वैशेषिकों का मत है कि जाति में जाति नहीं रहती फिर वृत्तियों में अनुप्रास जाति कैसे रह सकती है? इसका उत्तर-यहाँ पर वृत्तियों में अनुप्रास का वर्तमानत्व अनुग्राह्यानुग्राहक भाव से ही माना जाता है।

लोचनम्

यथाह कश्चित्—'लोकोत्तरे हि गाम्भीर्ये वर्तन्ते पृथिवीभुजः। इति।'

तस्माद् वृत्तयोऽनुप्रासादिभ्योऽनतिरिक्तवृत्तयो नाभ्यधिकव्यापाराः। अतएव व्यापारभेदाभावान्न पृथगनुमेयस्वरूपा अपीति वृत्तिशब्दस्य व्यापारवाचिनोऽभिप्रायः। अनतिरिक्तत्वादेव वृत्तिव्यवहारो भामहादिभिर्न कृतः। उद्भटादिभिः प्रयुक्तेऽपि तस्मिन्नार्थः कश्चिदधिको हृदयपथमवतीर्ण इत्यभिप्रायेणाह—गताः श्रवणगोचरमिति। रीतयश्चेति। तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरमिति-

जैसा कि किसी ने कहा है—'पृथ्वी का भोग करने वाले (राजा लोग) लोकोत्तर गाम्भीर्य में वर्तमान रहते हैं!'

अतएव वृत्तियाँ अनुप्रास इत्यादि से अभिन्न वृत्तिवाली हैं। अर्थात् उनका कार्य अधिक नहीं है। अतएव व्यापार भेद के न होने से उनका स्वरूप पृथक् अनुमान करने के योग्य नहीं है इस प्रकार वृत्ति शब्द से व्यापारवाची का अभिप्राय है। अतिरिक्त न होने के कारण ही वृत्ति का व्यवहार भामह इत्यादि ने नहीं किया है। उद्भट इत्यादि के द्वारा प्रयुक्त भी उसमें कोई अधिक अर्थ हृदय पथ में अवतीर्ण नहीं हुआ, इस अभिप्राय से कहते हैं—श्रवणगोचरता को प्राप्त हुई है यह। रीतयश्च इति। (रीतियाँ भी) उनसे अभिन्न वृत्तिवाली

तारावती

जैसा कि किसीने कहा—'राजा लोग लोकोत्तर गाम्भीर्य में वर्तमान रहते हैं। पर वर्तमान होने का यह आशय है कि राजा लोगों पर गाम्भीर्य का अनुग्रह होता है जिससे उनमें सभी कार्यों के निर्वाह की शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार अनुग्राह्यानुग्राहक भाव से ही वृत्तियों में अनुप्रास का वर्तमानत्व होता है। अनुग्राह्यानुग्राहक भाव का आशय है—रसाभिव्यञ्जन के सामर्थ्य का आधान करना। आशय यह है कि वृत्तियों का व्यापार अनुप्रासादि से अधिक नहीं होता। [अनुप्रास का कार्य भी रसाभिव्यञ्जन करना और उसमें सहायक होना है और वृत्तियों का व्यापार भी यही है।] अतएव अनुप्रास के विना वृत्तियों के स्वरूप का अनुमान ही नहीं हो सकता और नहीं अनुप्रास से भिन्न वृत्तियों के स्वरूप का अभिधान ही किया जा सकता है। यही कारण है कि भामह इत्यादि ने वृत्ति का व्यवहार किया ही नहीं। उद्भट इत्यादि ने वृत्तियों का व्यवहार किया है किन्तु उनमें कोई नवीनता नहीं दिखला पाये। इसीलिये आलोककार ने 'सुनने में आई हैं' कह कर अपनी अरुचि प्रकट की है।

यही दशा वैदर्भी इत्यादि रीतियों की भी है। वे भी गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं कही जा सकतीं किन्तु सुनने में आई हैं। 'उनसे अतिरिक्त नहीं होती' में 'उनसे' शब्द का वृत्तियों के प्रसङ्ग में अर्थ है 'अलङ्कारों से' और रीतियों के प्रसङ्ग में अर्थ है 'गुणों से'। रीतियाँ माधुर्य इत्यादि गुणों से पृथक् नहीं होतीं। [क्षरणार्थक दिवादिधातु 'री' से संज्ञा

लोचनम्

सम्बन्धः । तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः, तेषाञ्च समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योऽन्य-मेलनक्षमत्वेन पानक इव गुडमरिचादिरसानां सङ्घातरूपतागमन दीप्तललितम-ध्यमवर्णनीयविषय गौडीयवैदर्भपाञ्चालदेशहेवाकप्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधं रीति-रित्युक्तम् । जातिश्च जातिमतो नान्या समुदायश्च समुदायमतो नान्य इति वृत्तिरीतयो न गुणालङ्कारव्यतिरिक्ता इति स्थित एवासौ व्यतिरेकी हेतुः। तदाह— तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति । नैष चारुत्वस्थानं शब्दार्थरूपत्वाभावात् । नापि चारुत्वहेतुः गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वादिति । तेनाखण्डबुद्धिसमास्वाद्यमपि काव्य-मपोद्धारबुद्ध्या यदि विभज्यते तथाप्यत्र ध्वनिशब्दवाच्यो न कश्चिदतिरिक्तोऽर्थो लभ्यत इति नाम शब्देनाह ।

श्रवण गोचर हुई हैं यह सम्बन्ध (योजना) है। तत् शब्द से यहाँ पर माधुर्य इत्यादि गुण (लिये जाते हैं।) और उनके समुचित वृत्ति में अर्पण करने पर जो एक दूसरे से मेलन की क्षमता के कारण गुड मरिच इत्यादि रसों के पानक के समान सङ्घात रूप में आना है (तथा जो) दीप्त ललित और मध्मम वर्ण्य विषय वाला है गौडीय, वैदर्भ और पाञ्चाल के स्वभाव की प्रचुरता की दृष्टि से वही तीन प्रकार की रीतियाँ होती हैं यह कहा गया है। जाति जातिमान् से भिन्न नही होती और समुदाय समुदायी से भिन्न नहीं होता। इस प्रकार रीतियाँ और वृत्तियाँ गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त नहीं होतीं। इस प्रकार यह व्यतिरेकी हेतु स्थित ही है। वही कह रहे हैं—उनसे व्यतिरिक्त यह कौन सी ध्वनि है ? यह चारुता का स्थान नहीं है, क्योंकि इसका स्वरूप शब्द और अर्थ नहीं हैं। नहीं ही यह चारुत्व में हेतु है, क्योंकि गुणों और अलङ्कारों से भिन्न है। अतएव अखण्ड बुद्धि से आस्वादन करने योग्य भी काव्य यदि अपोद्धार (विभाजन) की बुद्धि से विभक्त किया जाता है तथापि यहाँ पर ध्वनि शब्दवाच्य कोई अतिरिक्त अर्थ नहीं प्राप्त होता यह नामशब्द के द्वारा कहा है।

तारावती

में क्तिन् प्रत्यय होकर 'रीति' शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है प्रवाह। काव्य के जिस तत्त्व में प्रवाह पर विचार किया जाता है उसे रीति कहते हैं। प्रारम्भ में दण्डी ने काव्य के दो मार्ग बतलाये थे--वैदर्भमार्ग और गौड मार्ग। दोनों प्रदेशों में काव्य के पृथक् पृथक् आदर्श थे जिनका दण्डी ने विस्तार से वर्णन किया है। आगे चलकर वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मान लिया, वैदर्भी तथा गौडी रीतियों में पाञ्चाली का समावेश और कर दिया। इस प्रकार वामन ने तीन रीतियाँ मानी हैं। जिस प्रकार वृत्तियों का समावेश अनुप्रास में हो जाता है उसी प्रकार रीतियों का समावेश माधुर्यादि गुणों में हो जाता है] जिस प्रकार गुड़ मिर्च इत्यादि मिलाकर पानक रस तैय्यार किया जाता है और मिलने की

लोचनम्

यथाह कश्चित्—'लोकोत्तरे हि गाम्भीर्ये वर्तन्ते पृथिवीभुजः। इति।'

तस्माद् वृत्तयोऽनुप्रासादिभ्योऽनतिरिक्तवृत्तयो नाभ्यधिकव्यापाराः। अतएव व्यापारभेदाभावान्न पृथगनुमेयस्वरूपा अपीति वृत्तिशब्दस्य व्यापारवाचिनोऽभिप्रायः। अनतिरिक्तत्वादेव वृत्तिव्यवहारो भामहादिभिर्न कृतः। उद्भटादिभिः प्रयुक्तेऽपि तस्मिन्नार्थः कश्चिदधिको हृदयपथमवतीर्ण इत्यभिप्रायेणाह—गताः श्रवणगोचरमिति। रीतयश्चेति। तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरमिति-

जैसा कि किसी ने कहा है—'पृथ्वी का भोग करने वाले (राजा लोग) लोकोत्तर गाम्भीर्य में वर्तमान रहते हैं!'

अतएव वृत्तियाँ अनुप्रास इत्यादि से अभिन्न वृत्तिवाली हैं। अर्थात् उनका कार्य अधिक नहीं है। अतएव व्यापार भेद के न होने से उनका स्वरूप पृथक् अनुमान करने के योग्य नहीं है इस प्रकार वृत्ति शब्द से व्यापारवाची का अभिप्राय है। अतिरिक्त न होने के कारण ही वृत्ति का व्यवहार भामह इत्यादि ने नहीं किया है। उद्भट इत्यादि के द्वारा प्रयुक्त भी उसमें कोई अधिक अर्थ हृदय पथ में अवतीर्ण नहीं हुआ, इस अभिप्राय से कहते हैं—श्रवण-गोचरता को प्राप्त हुई है यह। रीतयश्च इति। (रीतियाँ भी) उनसे अभिन्न वृत्तिवाली

तारावती

जैसा कि किसीने कहा—'राजा लोग लोकोत्तर गाम्भीर्य में वर्तमान रहते हैं। पर वर्तमान होने का यह आशय है कि राजा लोगों पर गाम्भीर्य का अनुग्रह होता है जिससे उनमें सभी कार्यों के निर्वाह की शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार अनुग्राह्यानुग्राहक भाव से ही वृत्तियों में अनुप्रास का वर्तमानत्व होता है। अनुग्राह्यानुग्राहक भाव का आशय है—रसाभिव्यञ्जन के सामर्थ्य का आधान करना। आशय यह है कि वृत्तियों का व्यापार अनुप्रासादि से अधिक नहीं होता। [अनुप्रास का कार्य भी रसाभिव्यञ्जन करना और उसमें सहायक होना है और वृत्तियों का व्यापार भी यही है।] अतएव अनुप्रास के बिना वृत्तियों के स्वरूप का अनुमान ही नहीं हो सकता और नहीं अनुप्रास से भिन्न वृत्तियों के स्वरूप का अभिधान ही किया जा सकता है। यही कारण है कि भामह इत्यादि ने वृत्ति का व्यवहार किया ही नहीं। उद्भट इत्यादि ने वृत्तियों का व्यवहार किया है किन्तु उनमें कोई नवीनता नहीं दिखला पाये। इसीलिये आलोककार ने 'सुनने में आई हैं' कह कर अपनी अरुचि प्रकट की है।

यही दशा वैदर्भी इत्यादि रीतियों की भी है। वे भी गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं कही जा सकतीं किन्तु सुनने में आई हैं। 'उनसे अतिरिक्त नहीं होती' में 'उनसे' शब्द का वृत्तियों के प्रसङ्ग में अर्थ है 'अलङ्कारों से' और रीतियों के प्रसङ्ग में अर्थ है 'गुणों से'। रीतियाँ माधुर्य इत्यादि गुणों से पृथक् नहीं होतीं। [क्षरणार्थक दिवादिधातु 'री' से संज्ञा

लोचनम्

सम्बन्धः । तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः, तेषाञ्च समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योऽन्य-मेलनक्षमत्वेन पानक इव गुडमरिचादिरसानां सङ्घातरूपतागमन दीप्तललितम-ध्यमवर्णनीयविषय गौडीयवैदर्भपाञ्चालदेशहेवाकप्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधं रीति-रित्युक्तम् । जातिश्च जातिमतो नान्या समुदायश्च समुदायमतो नान्य इति वृत्तिरीतयो न गुणाऽलङ्कारव्यतिरिक्ता इति स्थित एवासौ व्यतिरेकी हेतुः । तदाह—तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति । नैष चारुत्वस्थानं शब्दार्थरूपत्वाभावात् । नापि चारुत्वहेतुः गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वादिति । तेनाखण्डबुद्धिसमास्वाद्यमपि काव्य-मपोद्धारबुद्ध्या यदि विभज्यते तथाप्यत्र ध्वनिशब्दवाच्यो न कश्चिदतिरिक्तोऽर्थो लभ्यत इति नाम शब्देनाह ।

श्रवण गोचर हुई हैं यह सम्बन्ध (योजना) है। तत् शब्द से यहाँ पर माधुर्य इत्यादि गुण (लिये जाते हैं ।) और उनके समुचित वृत्ति में अर्पण करने पर जो एक दूसरे से मेलन की क्षमता के कारण गुड मरिच इत्यादि रसों के पानक के समान सङ्घात रूप में आना है (तथा जो) दीप्त ललित और मध्यम वर्ण्य विषय वाला है गौडीय, वैदर्भ और पाञ्चाल के स्वभाव की प्रचुरता की दृष्टि से वही तीन प्रकार की रीतियाँ होती हैं यह कहा गया है । जाति जातिमान् से भिन्न नही होती और समुदाय समुदायी से भिन्न नहीं होता । इस प्रकार रीतियाँ और वृत्तियाँ गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त नहीं होतीं। इस प्रकार यह व्यतिरेकी हेतु स्थित ही है। वही कह रहे हैं—उनसे व्यतिरिक्त यह कौन सी ध्वनि है ? यह चारुता का स्थान नहीं है, क्योंकि इसका स्वरूप शब्द और अर्थ नहीं हैं। नहीं ही यह चारुत्व में हेतु है, क्योंकि गुणों और अलङ्कारों से भिन्न है । अतएव अखण्ड बुद्धि से आस्वादन करने योग्य भी काव्य यदि अपोद्धार (विभाजन) की बुद्धि से विभक्त किया जाता है तथापि यहाँ पर ध्वनि शब्दवाच्य कोई अतिरिक्त अर्थ नहीं प्राप्त होता यह नामशब्द के द्वारा कहा है ।

तारावती

में क्तिन् प्रत्यय होकर 'रीति' शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है प्रवाह । काव्य के जिस तत्त्व में प्रवाह पर विचार किया जाता है उसे रीति कहते हैं । प्रारम्भ में दण्डी ने काव्य के दो मार्ग बतलाये थे--वैदर्भमार्ग और गौड मार्ग । दोनों प्रदेशों में काव्य के पृथक् पृथक् आदर्श थे जिनका दण्डी ने विस्तार से वर्णन किया है । आगे चलकर वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मान लिया, वैदर्भी तथा गौडी रीतियों में पाञ्चाली का समावेश और कर दिया । इस प्रकार वामन ने तीन रीतियाँ मानी हैं । जिस प्रकार वृत्तियों का समावेश अनुप्रास में हो जाता है उसी प्रकार रीतियों का समावेश माधुर्यादि गुणों में हो जाता है] जिस प्रकार गुड़ मिर्च इत्यादि मिलाकर पानक रस तैय्यार किया जाता है और मिलने की

लोचनम्

ननु माभूदसौ शब्दार्थस्वभावः, मा च भूच्चारुत्वहेतुः तेन गुणालङ्कारव्यतिरिक्तोऽसौ स्यादित्याशङ्क्य द्वितीयमभाववादप्रकारमाह–अन्य इति। भवत्वेवम्। तथापि नास्त्येव ध्वनिर्यादृशस्तवलिलक्षयिषितः काव्यस्य ह्यसौ कश्चिद्वक्तव्यः। न चासौ नृत्तगीतवाद्यस्थानीयः काव्यस्य कश्चित्। कवनीयं काव्यं, तस्य भावश्च काव्यत्वम्। न च नृत्तगीतादि कवनीयमित्युच्यते।

(पक्षान्तर) निस्सन्देह यह शब्द और अर्थ के स्वभाव वाला न हो और वह चारुता में भी हेतु न हो इससे यह गुणालङ्कारव्यतिरिक्त हो जावे यह आशङ्का करके द्वितीय अभाववाद के प्रकार को कह रहे हैं—अन्य इति। ऐसा हो जावे तथापि नहीं होता है ध्वनि जैसी कि तुम लक्षित करना चाहते हो। काव्य की यह कोई (सम्बन्धित) कही जानी चाहिये। काव्य की यह कोई नृत्य गीत वाद्य स्थानीय तो है नहीं। कवनीय को काव्य कहते हैं। उसकी भाववाचक संज्ञा है काव्यत्व। नृत्य गीत इत्यादि कवनीय होते हैं यह नहीं कहा जाता।

तारावती

योग्यता होने के कारण सभी वस्तुओं का सङ्घात रूप में एकीकरण हो जाता है उसी प्रकार जब माधुर्य इत्यादि गुणों का समुचित वृत्ति में मिलन होता है और उनका एक सङ्घात रूप बन जाता है तब उन्हें रीति कहने लगते हैं। इस प्रकार दीप्त, कोमल और मध्यम वर्णनीय विषय के अनुसार गौड, विदर्भ और पञ्चाल देश के कवियों के स्वभाव की प्रचुरता के आधार पर रीति तीन प्रकार की बतलाई गई है। [वामन ने लिखा है—'रीति काव्य की आत्मा होती है। विशिष्ट पदरचना को रीति कहते हैं। विशिष्ट का अर्थ है जिस पद रचना की आत्मा गुण हो।' रीति तीन प्रकार की होती है गौड़ी वैदर्भी और पाञ्चाली। गौडी रीति में ओज, कान्ति गुण होते हैं,। पाञ्चाली रीति में माधुर्य और सौकुमार्य होता है, वैदर्भी में दोनों का समन्वय होता है। आनन्दवर्धन से पहले यही तीन रीतियाँ काव्य शास्त्र में प्रतिष्ठित थीं। विश्वनाथ ने लाटी रीति का समावेश कर इनकी संख्या चार कर दी और भोजराज ने मागधी और अवन्तिका इन दो और रीतियों को मिलाकर कुल संख्या ६ कर दी। इन सब रीतियों का गुणों में ही समावेश हो जाता है।] जातिमान् से जाति पृथक् नहीं होती और अवयव से अवयवी भिन्न नहीं होता। इस प्रकार वृत्तियाँ और रीतियाँ गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होतीं। अतएव उक्त व्यतिरेकी हेतु में कोई दोष नहीं आता। इसलिये आलोककार ने लिखा है कि 'उनसे भिन्न ध्वनि यह क्या वस्तु है? यहाँ पर 'ध्वनिर्नाम' इस वाक्य में नाम शब्द का अर्थ यह है कि ध्वनि न तो चारुता का स्थान है क्योंकि वह शब्द और अर्थ से भिन्न है और न चारुता में हेतु है क्योंकि गुण और अलङ्कार से भिन्न है। अतएव यद्यपि काव्य का आस्वादन अखण्ड बुद्धि के द्वारा ही किया जाता है। तथापि यदि आस्वादन के उपकरणों को पृथक् दिखलाया जावे तो ध्वनि शब्द वाच्य कोई अतिरिक्त तत्त्व प्राप्त ही नहीं होता। यही नाम शब्द का अर्थ है।'

ध्वन्यालोके

अन्ये ब्रूयुः—नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः, सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्ते प्रस्थानव्यतिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति। न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।

दूसरा पक्ष— सम्भवतः दूसरे लोग कहें कि ध्वनि है ही नहीं, क्योंकि काव्य का ऐसा कोई प्रकार काव्य की सीमा में सन्निविष्ट नहीं हो सकता जो कि प्रसिद्ध स्थान (गुण, अलङ्कार, रीति वृत्ति) से भिन्न हो। सहृदयों को आनन्द देनेवाले शब्द और अर्थ से युक्त होना ही काव्य का लक्षण है। उक्त प्रस्थान से भिन्न और कोई मार्ग है ही नहीं जिसमें यह लक्षण घट जाता हो। ध्वनि सिद्धान्त के अन्दर आने वाले (उसे स्वीकार करने वाले) कतिपय सहृदयों की कल्पना करके ध्वनि में यदि काव्य व्यवहार प्रवर्तित भी किया जावे तो भी वह सभी विद्वानों के मन को ग्रहण नहीं कर सकता अर्थात् ऐसा सिद्धान्त सभी को मान्य नहीं हो सकता।

तारावती

प्रथम पक्ष में यह सिद्ध किया गया है कि ध्वनि न तो शब्द और अर्थ के स्वभाव वाली (उनका ही स्वरूप) होती है और न उनकी चारुता में हेतु होती है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि ध्वनि गुण और अलङ्कारों में सन्निविष्ट नहीं की जा सकती, उनसे भिन्न होती है। उनसे भिन्न होते हुये भी ध्वनि काव्य में रमणीयता का आधान कर सकती है। इसी अरुचि को लेकर द्वितीय अभाववाद की अवतारणा की गई है। इस पक्षवालों का आशय यह है कि कोई व्यक्ति ध्वनि को शब्द अर्थ और उनके चारुता हेतुओं से पृथक् मान भी ले तब जैसी ध्वनि को आप लक्षित कराना चाहते हैं वैसी सिद्ध नहीं हो सकती। ध्वनि सिद्धान्तवादियों का कथन है कि ध्वनि काव्य की आत्मा है। यदि ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध करना है तो काव्य से इसका कोई न कोई सम्बन्ध बतलाना ही पड़ेगा। जिस प्रकार नाटक में नृत्य गीत इत्यादि के द्वारा रससृष्टि में सहायता ली जाती है किन्तु काव्य से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार यदि ध्वनि नाम का कोई ऐसा पदार्थ है जो नृत्य गीत इत्यादि के समान ही काव्य का उपकारी होता है तो उसका काव्य से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। काव्य उसे ही कहते हैं जो कविता का विषय हो सके। काव्य शब्द 'कवृ वर्णे' धातु से बना है जिसका अर्थ है शब्दों के द्वारा सौन्दर्य के साथ किसी विषय को निबद्ध करना। नृत्य गीत इत्यादि काव्य का विषय हो ही नहीं सकते, अतः इन्हें काव्य में सन्निविष्ट करना उचित नहीं। इसी प्रकार ध्वनि भी काव्य का विषय नहीं हो सकती, अतः उसे भी काव्य से संबद्ध नही किया जा सकता।

लोचनम्

प्रसिद्धेति । प्रसिद्धं प्रस्थानं शब्दार्थौ तद्गुणालङ्काराश्चेति, प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत्प्रस्थानम् । काव्यप्रकारस्येति । काव्यप्रकारत्वेन तव स मार्गोऽभिप्रेतः, 'काव्यस्यात्मा' इत्युक्तत्वात् । ननु कस्मात्तत्काव्यं न भवतीत्याह—सहृदयेति । मार्गस्येति नृत्तगीताक्षिनिकोचनादिप्रायस्येत्यर्थः । तदिति । सहृदयेत्यादि काव्यलक्षणमित्यर्थः ।

ननु ये तादृशमपूर्वं काव्यरूपतया जानन्ति त एव सहृदयाः । तदभिमतत्वं च नाम काव्यलक्षणमुक्तप्रस्थानातिरेकिण एव भविष्यतीत्याशङ्कयाह—न चेति ।

प्रसिद्धेति । प्रसिद्ध प्रस्थान है शब्द और अर्थ तथा उनके गुण और अलङ्कार । प्रस्थान करते हैं अर्थात् जिस मार्ग से-परम्परा से व्यवहार करते हैं उसे प्रस्थान कहते हैं । काव्यप्रकारस्येति । वह मार्ग काव्य के प्रकार के रूप में तुम्हें अभिप्रेत हैं, क्योंकि 'काव्य की आत्मा' यह कहा गया है । वह काव्य क्यों नहीं होता इसका उत्तर दे रहे हैं—सहृदयेति । मार्गस्येति । अर्थात् नृत्त गीत अक्षिनिकोचन इत्यादि के तुल्य । तदिति । सहृदयहृदयाह्लादक शब्द और अर्थ से युक्त होना काव्य का लक्षण है ।

(प्रश्न) जो उस प्रकार के अपूर्व (ध्वनि तत्त्व) को काव्य के रूप में जानते हैं वे ही सहृदय हैं—उनका अभिमत होना ही काव्यलक्षण (में प्रयोजक) है (और वह उक्त प्रस्थान से भिन्न के लिये ही होगा) यह शङ्का कर के कह रहे हैं—नचेति । निस्सन्देह जैसे

तारावती

प्रस्थान शब्द प्र उपसर्ग 'स्था' धातु से संज्ञा अर्थमें ल्युट् प्रत्यय होकर बना है जिसका अर्थ होता है—ऐसा मार्ग जो परम्परा से प्रतिष्ठित हो चुका हो अर्थात् जिस मार्ग से परम्परागत रूप में व्यवहार होता चला आ रहा हो । यह प्रतिष्ठित प्रस्थान है शब्द और अर्थ तथा उनसे सम्बन्धित गुण और अलङ्कार । आशय यह है कि तुम ध्वनि को काव्य की आत्मा कहते हो अतएव काव्य के प्रकार के रूप में तुम्हें वही मार्ग अभीष्ट है और वह हो नहीं सकता, क्योंकि सहृदयों के हृदयों को आनन्द देने वाले शब्द और अर्थ तथा उनके गुण और अलङ्कारों को ही काव्य कहते हैं; परम्परागत रूप में इन्हें ही काव्य के मार्ग के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है । इनसे भिन्न यदि ध्वनि नाम का कोई मार्ग काव्यशोभा के आधान में सहायक होता है तो वह नृत्य, गीत, अक्षिनिकोचन इत्यादि अभिनय के समान काव्यसम्बद्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि सहृदयों को आनन्द देने वाले शब्द और अर्थ से युक्त होना रूप लक्षण उनमें नहीं घटता ।

यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि सहृदयों को अभिमत होना ही काव्य का लक्षण है और सहृदय वे ही होते हैं जो पहले व्याख्यान की हुई ध्वनि को ही काव्य का स्वरूप मानते हैं । इस प्रकार का काव्यलक्षण उक्त प्रस्थान से अतिरिक्त मार्ग में ही लागू

लोचनम्

यथाहि खड्गलक्षणं करोमीत्युक्त्वा आतानवितानात्मा प्राव्रियमाणः सकलदेहाच्छादकः सुकुमारश्चित्रतन्तुविरचितः संवर्तनविवर्तनसहिष्णुरच्छेदकः सुच्छेद्य उत्कृष्टः खड्ग इति ब्रुवाणः परैः पटः खल्वेवंविधो भवति न खड्ग इत्युक्त्या पर्यनुयुज्यमान एवं ब्रूयात् ईदृश एव खड्गो ममाभिमत इति तादृगेवैतत् । प्रसिद्धं हि लक्षणं भवति न कल्पितमितिभावः । तदाह सकलविद्वदिति । विद्वांसोऽपि हि तत्समयज्ञा एव भविष्यन्तीति शङ्कां सकलशब्देन निराकरोति । एवं हि कृतेऽपि न किञ्चित्कृत स्यादुन्मत्तता परं प्रकटितेति भावः ।

'खड्गलक्षण करूँगा' यह कह कर 'आतान वितान योग्य स्वरूप वाला, तह किया जानेवाला, समस्त देह को ढकने वाला, सुकुमार, विचित्र तन्तुओं से बनाया हुआ, समेटने और फैलाने को सहन करने वाला, न काटनेवाला किन्तु भली भांति कट जानेवाला उत्कृष्ट खड्ग होता है' यह कहते हुए दूसरों के यह कह कर आक्षेप किये जाने पर कि 'इस प्रकार का वस्त्र होता है खड्ग नहीं यह कहे कि मेरा अभिमत तो इसी प्रकार का खड्ग है । यह वैसा ही है । आशय यह है कि प्रसिद्ध ही लक्ष्य होता है कल्पित नहीं । यही कह रहे हैं—सकल विद्वदिति । विद्वान् भी निस्सन्देह उस (ध्वनि) के सङ्केत को जानने वाले होंगे इस शङ्का का निराकरण सकल शब्द से किया है । (अर्थात् कुछ ऐसे भी विद्वान् मिल जावेंगे जो कि ध्वनि को मानते हों । किन्तु सबके न मानने से ध्वनि सिद्ध नहीं हो सकती ।) ऐसा किये जाने पर भी कुछ किया हुआ नहीं होगा किन्तु तुम्हारी उन्मत्तता ही प्रकटित होगी, यह भाव है ।

तारावती

होता है । इसका उत्तर यह है कि यदि कोई विद्वान् 'खड्ग का लक्षण करूंगा' यह प्रतिज्ञा करके कहने लगे कि 'जो लम्बा चौड़ा हो, तह किया हो, देह को ढकने वाला हो, सुकुमार हो, रंग विरंगे तन्तुओं वाला हो, फैलाया समेटा जा सके उसे खड्ग कहते हैं ।' दूसरे व्यक्ति के यह कहने पर कि 'ऐसा खड्ग नहीं ऐसा तो वस्त्र होता है' वह आग्रह करता ही चला जावे कि मैं तो उसे खड्ग ही कहूँगा' तो उस समय उसकी बात मानने को कोई उद्यत न होगा । इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति आग्रह करता हो चला जावे कि 'मैं तो काव्य की आत्मा को ध्वनि ही कहूंगा' तो दूसरे लोग उसकी इस बात को स्वीकार करने के लिये कभी उद्यत न होंगे । लक्ष्य कभी कल्पित नहीं होता वह सर्वदा प्रसिद्ध हो होता है । जो लोग प्रसिद्ध लक्ष्य की ठीक रूप में व्याख्या कर सकें वे ही उस विषय के पूर्ण विद्वान् कहे जा सकते हैं, वे ऐसी व्याख्या को कभी स्वीकार नहीं कर सकते । यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि कुछ विद्वान् ऐसे भी निकल आवेंगे जो ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानेंगे । इसका उत्तर यह है कि कुछ लोगों के मान लेने से ही ध्वनि प्रतिष्ठित नहीं हो सकती । सभी

लोचनम्

यस्त्वत्राभिप्रायं व्याचष्टे—जीवितभूतो हि ध्वनिस्तावत्तवाभिमतः, जीवितं च नाम प्रसिद्धप्रस्थानातिरिक्तमलङ्कारकारैरनुक्तत्वात्तच्च न काव्यमिति लोके प्रसिद्धमिति। तस्येदं सर्वं स्ववचनविरुद्धम्। यदि हि तत्काव्यस्यानुप्राणकं तेनाङ्गीकृतं पूर्वपक्षवादिना तच्चिरन्तनैरनुक्तमिति प्रत्युत लक्षणार्हमेव भवति। तस्मात् प्राक्तन एवात्राभिप्रायः।

जिसने यहाँ पर अभिप्राय की व्याख्या की है—जीवन के रूप में ध्वनि तुम्हें अभीष्ट है और जीवन प्रसिद्ध प्रस्थान से अतिरिक्त ही होता है क्योंकि उसको अलङ्कारकारों ने कहा नहीं है और वह काव्य नहीं हो सकता यह। उसका यह सब अपने ही वचन के विरुद्ध है। यदि निस्सन्देह उस पूर्वपक्षवादी ने उसे (ध्वनि को) काव्य का लक्षण मान लिया तो उसको प्राचीनों ने नहीं कहा है अतः प्रत्युत (आपके तर्क के विरुद्ध) वह लक्षण के योग्य ही (सिद्ध) होता है। अतएव पहले बतलाया हुआ ही यहाँ पर अभिप्राय है।

तारावती

विद्वान् उसे स्वीकार नहीं कर सकते। यही आलोककार के सकल शब्द का आशय है। ऐसी दशा में कुछ लोगों की मान्यता से कोई लाभ नहीं होगा अपितु ऐसे लोगों की उन्मत्तता ही प्रकट होगी। [यहाँ पर अनुमान से साध्य सिद्धि की प्रक्रिया यह होगी—ध्वनि काव्य नहीं हो सकती, (प्रतिज्ञा) क्यों कि यह शब्द और अर्थ से व्यतिरिक्त है (हेतु), जो कुछ शब्द और अर्थ से व्यतिरिक्त होता है वह काव्य नहीं हो सकता जैसे नृत्य गीत इत्यादि काव्य नहीं होते (उदाहरण) ध्वनि भी उसी प्रकार की होती है (उपनय) अतएव वह भी उसी प्रकार काव्य नहीं हो सकती (निगमन)। अनुमान की दूसरी प्रक्रिया यह होगी—ध्वनि काव्यसम्बद्ध नहीं होती (प्रतिज्ञा), क्योंकि गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त होती है (हेतु), जो वस्तुयें गुण और अलङ्कार से भिन्न होती हैं वे काव्य नहीं हो सकती जैसे नृत्य गीत इत्यादि (उदाहरण), यह ध्वनि भी उसी प्रकार की (गुणालङ्कार व्यतिरिक्त) है (उपनय), अतः यह भी वैसी ही (काव्य के क्षेत्र से बाहर) है। (निगमन)

किसी आचार्य ने यहाँ पर कहा है—ध्वनि काव्य-जीवन के रूप में तुम्हेंअभीष्ट है, किन्तु जीवन प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त होता है—क्योंकि अलङ्कारकारों ने उसका अभिधान नहीं किया है अतः वह ध्वन्यात्मक जीवन काव्य से भिन्न है यह बात लोक में प्रसिद्ध है।' किन्तु उनका यह सब अपने ही कथन के विरुद्ध है। यदि काव्य में प्राण प्रतिष्ठा करनेवाली ध्वनि अङ्गीकार कर ही ली गई और अलङ्कार शास्त्र के आचार्यों ने उसका लक्षण किया भी नहीं तो उसका लक्षण करना ही चाहिये। इस प्रकार यह पूर्वपक्ष नहीं हो सकता। अतएव पहले कहा हुआ अभिप्राय ही ठीक है। [प्रथम और द्वितीय पक्षों में इतना ही भेद है कि प्रथम पक्ष में कहा गया था शब्द अर्थ गुण और अलङ्कार से भिन्न

ध्वन्यालोकः

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः—न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तिष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात्।

किञ्च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते।

तीसरा पक्ष—फिर सम्भवतः दूसरे लोग उसके अभाव को दूसरे ही रूप में कहें। (वह कह सकते हैं कि) ध्वनि नाम को कोई अपूर्व वस्तु सम्भव नहीं है। यह ध्वनि रमणीयता का अतिक्रमण नहीं करती। अतएव उसका उक्त रमणीयता हेतुओं में ही अन्तर्भाव कर दिया जाना चाहिये। अथवा उसी में से किसी एक का नाम ध्वनि रख दिया जावे तो अपूर्व नाम रख देने से ही उस पर बहुत कम कहना शेष रह जावेगा।

दूसरी बात यह है कि वाणी के अनन्त विकल्प हो सकते हैं। अतएव ऐसा कोई सूक्ष्म भेद सम्भव भी हो सकता है। जिसका परिगणन प्रसिद्ध काव्यलक्षणकार आचार्यों ने न किया हो, किन्तु फिर भी झूठी सहृदयत्व की भावना को लेकर वास्तविकता की ओर से अपनी आंखें मूंदकर जो ये लोग ध्वनि-ध्वनि चिल्लाते हुये नाचते फिरते हैं उसमें मुझे कोई औचित्य दिखलाई नहीं पड़ता। महात्मा आचार्यों ने सहस्रों की संख्या में अलङ्कारों के प्रकार प्रकाशित किये हैं। तथा भविष्य में भी प्रकाशित किये जावेंगे। इनकी यह दशा सुनाई नहीं पड़ती।

लोचनम्

ननु भवत्वसौ चारुत्वहेतुः, शब्दार्थगुणालङ्कारान्तर्भूतश्च तथापि ध्वनिरित्यमुया भाषया जीवितमित्यसौ न केनचिदुक्त इत्यभिप्रायमाशङ्क्य तृतीयाभाववादमुपन्यस्यति—पुनरपर इति। कामनीयकमिति। कमनीयस्य कर्म। चारुत्वहेतुतेति यावत्।

(प्रश्न) निस्सन्देह यह चारुत्व हेतु होवे और शब्द अर्थ गुण और अलङ्कारों के अन्तर्भूत भी (होवे) तथापि 'ध्वनि' इसप्रकार का उस भाषा के द्वारा 'जीवन है' यह किसी के द्वारा नहीं कहा गया इस अभिप्राय की आशङ्का करके (उत्तर के रूप में) तृतीय अभाववाद को उपन्यस्त कर रहे हैं—पुनरपरे इति। कामनीयकमिति। कमनीय के कर्म को कामनीयक कहते हैं। आशय यह है कि चारुता की बुद्धि उत्पन्न करने में कारण।

लोचनम्

ननु विच्छित्तीनामसंख्यत्वात् काचित्तादृशी विच्छित्तिरस्माभिर्दृष्टा या नानुप्रासादौ नापि माधुर्यादावुक्तलक्षणेऽन्तर्भवेदित्याशङ्क्याभ्युपगमपूर्वकं परिहरति—वाग्विकल्पानामिति। वक्तीति वाक् शब्दः। उच्यत इति वागर्थः। उच्यतेऽनयेति वागभिधाव्यापारः। तत्र शब्दार्थवैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः। अभिधावैचित्र्य-

(प्रश्न) निस्सन्देह विच्छित्तियों के असंख्य होने के कारण कोई ऐसी विच्छित्ति हम लोगों के द्वारा देखी गई, जो न अनुप्रास इत्यादि में नहीं माधुर्य इत्यादि उक्त लक्षण में अन्तर्भूत हो सके, यह आशङ्का कर स्वीकृति के साथ उसका उत्तर दे रहे हैं—वाग्विकल्पानामिति। वाक् शब्द का (व्युत्पत्तिलभ्य) अर्थ है जो कहे अर्थात् शब्द, जो कहा जावे वह वाक् अर्थात् अर्थ, जिसके द्वारा कहा जावे वह वाक् अर्थात् अभिधा व्यापार। उनमें शब्द

तारावती

काव्यशोभाधायक कोई वस्तु है ही नहीं। इस पक्ष में कहा गया है कि 'यदि इनसे भिन्न ध्वनि नाम की कोई वस्तु मान भी ली जावे तो भी काव्य से उसका कोई सम्बन्ध सिद्ध ही नहीं हो सकता। वह धर्म शोभाधायक नहीं हो सकता।

यहाँ पर ध्वनिवादियों का यह अभिप्राय बतलाया जा सकता है कि 'ध्वनि रमणीयता में कारण हो सकती है और वह शब्द, अर्थ तथा गुण और अलङ्कार में अन्तर्भूत भी की जा सकती है तथापि किसी ने भी ध्वनि शब्द का उच्चारण कर उसे काव्य का जीवन नहीं बतलाया है; अतएव उसका प्रकथन करना ही चाहिये। इसी अरुचि को लेकर तृतीय पक्ष की अवतारणा की है। [इस पक्ष का सारांश यह है कि यदि ध्वनि को चारुता हेतु मान भी लें और वह शब्द अर्थ गुण और अलङ्कारों के अन्तर्गत भी सिद्ध हो जावे तो भी ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती। ध्वनि भी चारुताहेतुओं में एक है; अतएव उपर्युक्त चारुताहेतुओं में ही उसका अन्तर्भाव कर दिया जाना उचित प्रतीत होता है। चारुता-हेतु तो वे ही हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। यह सारा विवाद उन्हीं में से एक का नाम रख देने के कारण खड़ा किया जा रहा है।] यहाँ पर कामनीयक शब्द का प्रयोग किया गया है। 'कमनीय शब्द से वुञ् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है यदि यह प्रत्यय यहाँ पर भाव अर्थ में माना जावेगा तो इसका अर्थ हो जावेगा 'रमणीयता'! अतएव यहाँ पर यह प्रत्यय 'कर्म' अर्थ में माना जाना चाहिये जिससे इस शब्द का अर्थ हो जावेगा रमणीय का कर्म अर्थात् रमणीयता की बुद्धि उत्पन्न करने में कारण गुण और अलङ्कार।

(प्रश्न) विच्छित्ति के प्रकारों की संख्या नियत नहीं की जा सकती। अतएव हमें विच्छित्ति का कोई ऐसा प्रकार दिखलाई पड़ा जिसका अन्तर्भाव न तो उक्त लक्षण वाले अनुप्रास इत्यादि में ही हो सकता है और न माधुर्य इत्यादि में ही। अतः ध्वनि नाम का

लोचनम्

प्रकारोऽप्यसंख्येयः। प्रकारलेश इति। स हि चारुत्वहेतुगुणो वाऽलङ्कारो वा। स च सामान्यलक्षणेन सङ्गृहीत एव। यदाहुः—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति। तथा—'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा-वाचामलङ्कृतिः' इति। ध्वनिर्ध्वनिरिति। वीप्सया सम्भ्रमं सूचयन्ननादरं दर्शयति—नृत्यत इति। तल्लक्षणकृद्भिस्तद्युक्तकाव्यविधायिभिस्तच्छ्रवणोद्भू-तचमत्कारैश्च प्रतिपत्तृभिरिति शेषः। ध्वनिशब्दे कोऽत्यादर इति भावः। एषा दशेति। स्वयं दर्पः परैश्च स्तूयमानतेत्यर्थः। वाग्विकल्पाः वाक्प्रवृत्तिहेतु-प्रतिभाव्यापारा इति वा।

और अर्थ के वैचित्र्य का प्रकार भी संख्यातीत है। प्रकार लेश इति। निस्सन्देह वह चारुत्व में हेतु गुण या अलङ्कार (हो सकता है।) और वह सामान्य लक्षण के द्वारा सङ्गृहीत ही हो गया। जैसा कि कहा है—'काव्य शोभा के करनेवाले धर्म गुण होते हैं; उसकी अतिशयता में हेतु तो अलङ्कार होते हैं, यह तथा 'वक्र अभिधेय और शब्द की उक्ति वाणी के अलङ्कार (की संज्ञा) के रूप में अभीष्ट है यह। ध्वनिर्ध्वनिरिति। वीप्सा (दो बार कथन) के द्वारा सम्भ्रम को सूचित करते हुये अनादर दिखला रहे हैं—नृत्यत इति।

उसका लक्षण करनेवाले, उससे युक्त काव्य की रचना करने वाले तथा उससे उद्भूत चमत्कार वाले सहृदयों के द्वारा यह इतना (वाक्य में) शेष रह गया। आशय यह है कि ध्वनि शब्द में कौन बहुत अधिक आदर है? एषा दशेति। अर्थ यह है कि स्वयं दर्प और दूसरों के द्वारा प्रशंसा किया जाना। वाग्विकल्पा इति। अथवा वाणी की प्रवृत्ति में हेतु प्रतिभा व्यापार के प्रकार।

तारावती

पृथक् पदार्थ मानना ही चाहिये। इस प्रश्न का उत्तर पूर्व पक्ष की बात मानते हुये मूल में 'वाग्विकल्पानाम्···एषा दशा श्रूयते' इन शब्दों में दिया गया है। यहाँ पर 'वाक् शब्द' का प्रयोग किया गया है। यह शब्द 'वच्' धातु से क्विप् प्रत्यय हो कर बनता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से हो सकती है—(१) कर्ता अर्थ में वक्तीति वाक् अर्थात् जो अर्थ को कहे उस 'शब्द' को वाक् कहते हैं। (२) कर्म अर्थ में—'उच्यते इति वाक्' अर्थात् जो कहा जावे उसे 'वाक्' कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से अर्थ का बोध हो जाता है और (३) करण के अर्थ में 'उच्यते अनया इति वाक्' अर्थात् जिस व्यापार के द्वारा अर्थ कहा जावे वह 'अभिधा व्यापार'। इस प्रकार यहाँ पर यह आशय निकलता है कि शब्द की विचित्रता भी अनन्त प्रकार की होती है; अर्थ की विचित्रता भी अनन्त प्रकार की होती है और अभिधा व्यापार की विचित्रताओं का भी परिसंख्यान नहीं किया जा सकता। मूल के

ध्वन्यालोकः

तस्मात्प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्। तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादि सालङ्कृति
व्युत्पन्नैरचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुकृतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

अतएव ध्वनि सर्वथा प्रवादमात्र है। उसमें अधिक पीसने योग्य कोई भी तत्त्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता। यही बात एक दूसरे कवि ने इस प्रकार कही है:—

जिसमें न तो अलङ्कार से युक्त मन को प्रसन्न करनेवाली कोई वस्तु है, जो न विचित्र बचनों द्वारा रची गई है और न जिसमें वक्रोक्ति है जड़ लोग उसी काव्य की प्रेम से ध्वनि युक्त कह कर प्रशंसा करते हैं। नहीं पता यदि कोई पुण्यात्मा उनसे उसका स्वरूप पूछ दे तो वे क्या कहेंगे।

तारावती

प्रकारलेश शब्द का आशय यह है कि शब्द और अर्थ को विचित्रतायें अनन्त हैं—इस प्रकार यदि यह मान भी लिया जावे कि कोई ऐसा प्रकार सम्भव है जिसको काव्य के प्रसिद्ध लक्षणकार आचार्यों ने नहीं दिखलाया है तो भी उसका संग्रह सामान्य लक्षण के द्वारा हो ही जाता है। सामान्यलक्षण ये हैं—'काव्य-शोभाकारक धर्मों को गुण कहते हैं और उसमें विशेषता का आधान करने वाले धर्मों को अलङ्कार कहते हैं।' वक्रता पूर्ण (चमत्कार कारण) शब्द और अर्थ को अलङ्कार कहते हैं।' ध्वनि ध्वनि कह कर नाचते फिरते हैं' इस वाक्य में दो बार 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया गया है इससे सम्भ्रम व्यक्त होता है। 'नृत्यते' शब्द से ध्वनिवादियों का ध्वनिसिद्धान्तविषयक आदर व्यक्त होता है। ये नाचने वाले हैं लक्षणकार आचार्य, ध्वनि सिद्धान्त को मान कर काव्य रचना करने वाले कवि और उसको सुनकर चमत्कृत होने वाले सहृदय। आशय यह है कि ध्वनिसिद्धान्त को आदर देने का कोई कारण नहीं। 'अन्य अलङ्कारों की यह दशा नहीं सुनी जाती' इस वाक्य में 'यह दशा' का अर्थ है कि अन्य अलङ्कारों के प्रवर्तक न तो स्वयं दर्प करते हैं और न दूसरे लोग ही उनकी प्रशंसा करते हैं। वाग्विकल्प शब्द का एक अर्थ यह भी हो सकता है—प्रतिभा के व्यापार अनेक प्रकार के होते हैं जिनसे वाणी प्रवृत्त हुआ करतो है। (राजशेखर ने काव्य मीमांसा में यह पद्य उद्धृत किया है—

आसंसारमुदारैः कविभिः प्रतिदिनगृहीतसारोऽपि।
अद्याप्यभिन्नमुद्रो विभाति वाचां परिस्पन्दः॥

अर्थात् यद्यपि संसार के प्रारम्भ से लेकर उदार कवि प्रतिदिन सार ग्रहण करते चले

लोचनम्

तस्मात्प्रवादमात्रमिति । सर्वेषाममभाववादिनां साधारण उपसंहारः । यतः शोभाहेतुत्वे गुणालङ्कारेभ्यो न व्यतिरिक्तः, यतश्च व्यतिरिक्तत्वे न शोभाहेतुः, यतश्च शोभाहेतुत्वेऽपि नादरास्पदं तस्मादित्यर्थः । न चेयमभावसम्भावना निर्मूलैव दूषितेत्याह—तथा चान्येनेति । ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथ-नाम्ना कविना । यतो न सालङ्कृति अतो न मनःप्रह्लादि । अनेनार्थालङ्कारा-णामभाव उक्तः । व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैरिति शब्दालङ्काराणाम् । वक्रोक्तिः उत्कृष्टा सङ्घटना तच्छून्यमिति शब्दार्थगुणानाम् । वक्रोक्तिशून्यशब्देन सामान्य-लक्षणाभावेन सर्वालङ्काराभाव उक्त इति केचित् । तैः पुनरुक्तत्वं न परिहृत-मेवेत्यलम् । प्रीत्येति गतानुगतिकानुरागेणेत्यर्थः । सुमतिनेति । जडेन पृष्टो भ्रूभङ्ककटाक्षादिभिरेवोत्तरं ददत्तत्स्वरूपं काममाचक्षीतेति भावः ।

तस्मात्प्रवादमात्रमिति । सभी अभाववादियों का यह साधारण उपसंहार है । क्योंकि शोभा हेतु होनेपर गुणों और अलङ्कारों से व्यतिरिक्त नहीं है, और क्योंकि व्यतिरिक्त होने पर शोभाहेतु नहीं है और क्योंकि शोभा हेतु होने पर भी आदरास्पद नहीं है इसलिये—यह आशय है । नहीं ही यह अभाव सम्भावना निर्मूल ही दूषित की गई है । यह कह रहे हैं—तथा चान्येनेति । ग्रन्थकार के समान काल में होने वाले मनोरथ नाम के कवि के द्वारा । क्योंकि अलङ्कार से युक्त नहीं है । इसलिये मनको आह्लाद देनेवाली नहीं है । इससे अर्था-लङ्कारों का अभाव बतलाया गया है 'व्युत्पन्न वचनों के द्वारा रचना नहीं की गई' इससे शब्दालङ्कारों का (अभाव बतलाया गया ।) वक्रोक्ति उत्कृष्ट सङ्घटन (को कहते हैं ।) उससे शून्य का अर्थ है शब्द और अर्थ गुणों से शून्य वक्रोक्ति शून्य शब्द से समान्यलक्षण के अभाव से सभी अलङ्कारों का अभाव कहा गया है यह कुछ लोग कहते हैं । उन्होंने तो फिर पुनरुक्तत्व दोष का भी निराकरण नहीं कर पाया (उनके खण्डन के लिये) इतना कहना ही पर्याप्त है । प्रीत्येति । भेड़ चाल के अनुराग से यह अर्थ है । सुमतिनेति । मूर्ख के द्वारा पूछे जाने पर भ्रूभङ्ग कटाक्ष इत्यादि के द्वारा ही उत्तर देते हुये उस के स्वरूप को मनमाने ढंग से कहदे (किन्तु विद्वानों के द्वारा पूछे जाने पर क्या करेगा ?) यह भाव है ।

तारावती

आए हैं और फिर भी वाणी के परिस्पन्द की मुद्रा अबतक भङ्ग नहीं हुई । आशय यह है जहाँ इतने अलङ्कार घड़ते चले जा रहे हैं वहाँ ध्वनि नाम का एक अलङ्कार और सही, उसके लिए इतना शोर मचाने की क्या आवश्यकता ।

'अतएव ध्वनि प्रवादमात्र है' यह समस्त अभाववादियों का सामान्य उपसंहार है । चाहे प्रथम पक्ष के अनुसार यह मानें कि यदि ध्वनि गुण और अलङ्कारों से भिन्न कोई तत्त्व है

तारावती

ही नहीं, चाहे द्वितीय पक्ष के अनुसार यह मानें कि यदि ध्वनि गुण और अलङ्कारों से भिन्न है तो वह शोभा हेतु नहीं हो सकती, चाहे तृतीय पक्ष के अनुसार यह मानें कि यदि ध्वनि को शोभाहेतु मान भी लें तो भी (अन्य नवीन अलङ्कारों के समान) उसके अधिक आदर का कोई कारण नहीं, इन तीनों ही पक्षों में ध्वनि प्रवाद मात्र सिद्ध होती है। यद्यपि अभाव वादों की सम्भावना मात्र की गई है तथापि यह सम्भावना सर्वथा निर्मूल नहीं।

इसीलिये यहाँ पर एक पद्य का उद्धरण दिया गया है, जो कि आलोककार के सम-सामयिक मनोरथ नामक कवि का बनाया हुआ है। 'जिसमें कोई अलङ्कार युक्त, मन को प्रसन्न करने वाली वस्तु नहीं है' इस वाक्य में 'अलङ्कार युक्त' हेतु है—क्योंकि उनमें, अलङ्कार नहीं होते अतः वे मन को आनन्द देने वाले भी नहीं होते। इससे उस प्रकार के काव्य में अर्थालङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। 'विचित्र शब्दों से रचना नहीं की गई' से शब्दालङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। वक्रोक्ति शब्द का अर्थ है उत्कृष्ट सङ्घटना, वक्रोक्तिशून्य शब्द का अर्थ है शब्द और अर्थ गुणों से रहित। कुछ लोगों का मत है कि यहाँ पर 'वक्रोक्ति शून्य' शब्द से सभी प्रकार के अलङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। क्योंकि वक्रोक्ति अलङ्कारों का सामान्य लक्षण है। और उस सामान्य लक्षण से रहित होने का आशय है सभी प्रकार के अलङ्कारों से रहित होना। इस विषय में मुझे केवल इतना ही कहना है कि अलङ्कारों के अभाव की बात तो पहले ही 'सालंकृति' इत्यादि शब्द के द्वारा ही कह दी गई, वक्रोक्तिशून्य शब्द का भी वही अर्थ करने पर केवल पुनरुक्ति ही होगी इसका कोई समाधान नहीं किया गया। 'ध्वनि की प्रेम पूर्वक प्रशंसा करते हैं' इस वाक्य में प्रेम पूर्वक शब्द का अर्थ है एक दूसरे की देखा देखी ! क्योंकि लोक की भेड़चाल होती है और जो सिद्धान्त लोक में प्रचलित हो जाता है उसके प्रति लोगों में स्वतः प्रेम उत्पन्न हो जाता है। 'किसी विद्वान् के द्वारा पूछे जाने पर वे उसका स्वरूप क्या बतलावेंगे' इस वाक्य में 'विद्वान्' शब्द का अर्थ यह है कि मूर्खों के पूछने पर तो चाहे जो कुछ बतलाया जा सकता है, उन्हें भ्रूभङ्ग और कटाक्ष इत्यादि के द्वारा उत्तर देकर ही शान्त किया जा सकता है और उसका मनमाना स्वरूप बतलाया जा सकता है।

यह पद्य मनोरथ कवि का बतलाया गया है, मनोरथ कवि का उल्लेख राजतरङ्गिणी में जयापीड के राज्यकाल के प्रसङ्ग में किया गया है। यदि ये वही जयापीड हैं तो यह सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवर्धन के पहले ही ध्वनिकारिकायें लिखी जा चुकी थीं। सम्भव है कि अभिनव गुप्त का ग्रन्थकार से अभिप्राय ध्वनिकार से ही हो अथवा ये कोई अन्य मनोरथ कवि हों।

ध्वन्यालोकः

भाक्तमाहुस्तमन्ये । अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः ।

(अनु०) अन्य लोग उसे भाक्त कहते हैं । अर्थात् अन्य लोग ध्वनिसंज्ञावाली उस काव्य की आत्मा को गुणवृत्ति कहा करते हैं ।

लोचनम्

एवमेतेऽभावविकल्पाः श्रृङ्खलाक्रमेणागताः नत्वन्योन्यासम्बद्धा एव । तथाहि तृतीयाभावप्रकारनिरूपणोपक्रमे पुनः शब्दस्यायमेवाभिप्रायः । उपसंहारैक्यं च सङ्गच्छते ।

अभाववादस्य सम्भावनाप्राणत्वेन भूतत्वमुक्तम् । भाक्तवादस्त्वविच्छन्नः पुस्तकेष्वित्यभिप्रायेण भाक्तमाहुरिति नित्यप्रवर्तमानापेक्षयाभिधानम् ।

इस प्रकार ये अभाव विकल्प श्रृङ्खलाक्रम से आये हैं; एक दूसरे से असम्बद्ध ही नहीं हैं । वह इस प्रकार कि तृतीय अभाव प्रकार के निरूपण के उपक्रम में पुनः शब्द का यही अभिप्राय है, उपसंहार की एकता भी (श्रृखलाक्रम को मानने से) असङ्गत हो जाती है ।

अभाववाद का प्राण है सम्भावना । अतः उसमें भूतकाल कहा गया है । भाक्तवाद तो पुस्तकों में विच्छेदन रहित (रूप में आया) है इस अभिप्राय से 'भाक्तमाहुः' इस नित्यप्रवृत्त वर्तमान की अपेक्षा करते हुये अभिधान किया गया है ।

तारावती

इस प्रकार ये अभाववाद के तीन पक्ष हैं । ये तीनों पक्ष श्रृङ्खलाक्रम से आये हैं; एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं । इसलिये तृतीय अभाववाद के उपक्रम में 'पुनः' शब्द का प्रयोग किया गया है और तीनों वादों का एक ही उपसंहार किया गया है ।

अब लक्षणावाद को लीजिये । पहले बतलाया जा चुका है कि कारिका में अभाववाद और अशक्यवक्तव्यत्ववाद के लिये 'जगदुः' और 'ऊचुः' इन शब्दों में परोक्ष भूत का प्रयोग किया गया है तथा लक्षणा पक्ष के लिये 'आहुः' इस वर्तमान काल का प्रयोग किया है । अभाववाद और अशक्यवक्तव्यवाद का उल्लेख किसी विशेष पुस्तक में नहीं मिलता । अतएव सम्भावना मात्र से ही उन पक्षों का उन्नयन कर लिया गया है । यही उन पक्षों के साथ परोक्ष भूत के प्रयोग का रहस्य है । किन्तु लक्षणा पक्ष अविछिन्न रूप में विभिन्न पुस्तकों में मिलता है । इसलिये उसके साथ वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है । अभाववाद में भूतकाल के साथ सम्भावना व्यक्त होती है । लक्षणा पक्ष के साथ वर्तमान काल का प्रयोग उसके अविछिन्न प्रवाह को कहता है ।

[यहाँ पर संक्षेप में लक्षणा की प्रक्रिया पर विचार कर लेना आवश्यक है । जब हम वाक्य में किसी शब्द का प्रयोग करते हैं तब सर्व प्रथम उसके सङ्केतित अर्थ की उपस्थिति होती है । जैसे 'गङ्गा में घर' इस वाक्य के प्रयोग करने पर यहाँ 'गङ्गा' का अर्थ 'प्रवाह'

तारावती

उपस्थित होता है। फिर अन्वय अथवा तात्पर्य अनुपपन्न हो जाता है क्योंकि प्रवाह में घर बनाया ही नहीं जा सकता। अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति के कारण जब वाक्य अप्रमाणित हो जाता है और वक्ता का तात्पर्य किसी अन्य अर्थ (तट) में प्रतीत होता है तब उस तट अर्थ में लक्षणा कही जाती है। वास्तव में अन्वयानुपपत्ति लक्षणा का बीज नहीं है। क्योंकि यदि अन्वयानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज मानी जावे तो 'घर' शब्द में 'मगर' की लक्षणा कर लेने से भी वाक्य की अनुपपत्ति जाती रहती है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिये। लक्ष्यार्थबोध के पहले शक्यार्थोपस्थिति आवश्यक तथा अनिवार्य है; क्योंकि शक्यार्थोपस्थिति के अभाव में तात्पर्यानुपपत्ति हो ही नहीं सकती। यह लक्षणा दो प्रकार की होती है—(१) अजहत्स्वार्था या उपादान लक्षणा--जिस लक्षणा में लक्ष्यार्थ की प्रतीति के साथ शक्यार्थ की प्रतीति भी होती रहती है, जैसे 'छाते जा रहे हैं' 'भाले आ रहे हैं' 'कौओं से दही बचाओ' इन वाक्यों में छाता और भालों का आना जाना असम्भव है। अतएव छाता का अर्थ छाता लिये हुये पुरुष और भाला का अर्थ भाला लिये हुये पुरुष हो जाता है। पुरुषों के साथ छाता और भाला का आना जाना भी उपपन्न ही है। इसीलिये इस प्रकार की लक्षणा को अजहत्स्वार्था कहते हैं। इसी प्रकार कौओं से दही बचाओ इस वाक्य में 'कौआ' शब्द का लक्ष्यार्थ है—'दही को नष्ट कर देने वाला कोई पशु'। इन पशुओं के साथ कौआ का भी परित्याग नहीं होता। अतएव यह अजहत्स्वार्था लक्षणा है। (२) दूसरे प्रकार की लक्षणा होती है जहत्स्वार्था या लक्षणलक्षणा। इसमें शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है। जैसे 'गङ्गा में घर' 'कुर्सियाँ शोर मचा रही हैं' इत्यादि वाक्यों में गङ्गा और कुर्सी इन शब्दों के अर्थों का सर्वथा परित्याग हो जाता है और उनसे 'तट' तथा 'कुर्सियों पर बैठे आदमी' यह लक्ष्यार्थ निकल आता है। यही लक्षणा की संक्षिप्त प्रक्रिया है। इसका क्रम इस प्रकार है—सर्व प्रथम शक्यार्थोपस्थिति, फिर तात्पर्यानुपपत्ति और बाद में शक्यार्थसम्बद्ध लक्ष्यार्थ की उपस्थिति। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि लक्ष्यार्थ सर्वदा शक्यार्थ-सम्बद्ध होता है।

लक्षणा के विषय में दो बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है—(१) किन सम्बन्धों से शक्यार्थ के स्थान पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है? और (२) मुख्य शब्द का परित्याग कर लक्षक शब्द के प्रयोग में क्या कारण है? शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध में महर्षि गौतम ने लिखा है—

'सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणबालकराजसक्तु-चन्दनगङ्गाशकटान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः।'

(न्या० २-२-६३)

तारावती

इसका आशय यह है कि सहचरण इत्यादि १० सम्बन्धों से जो पद जिस अर्थ में शक्त नहीं होता है उस पद का उस अर्थ में भी प्रयोग कर दिया जाता है। ये १० सम्बन्ध निम्नलिखित हैं:—

(१) सहचरण—जैसे 'छड़ियाँ जा रही हैं' 'छाते आ रहे हैं;' यहाँ पर पुरुषों के साथ छाते और छड़ी भी जाते आते हैं। इसी सम्बन्ध से पुरुषों पर छड़ियों और छातों का आरोप कर दिया गया है। (२) स्थान (बैठना)—जैसे 'कुर्सियाँ शोर मचा रही हैं' यहाँ पुरुषों पर कुर्सियों का आरोप किया गया है क्योंकि पुरुषों का कुर्सियों पर बैठने का सम्बन्ध है। (३) तादर्थ्य अर्थात् किसी निमित्त किसी वस्तु का होना—जैसे चटाई बनाने के लिये रक्खे हुये खस के लिये कोई चटाई शब्द का प्रयोग करे। (४) वृत्त या व्यवहार—जैसे 'यह राजा यम है' 'यहाँ पर व्यवहार को समानता के कारण राजा में यम का आरोप किया गया है। (५) मान या तौल का सम्बन्ध—जैसे 'एक सेर चावल' यहाँ पर सेर पर चावलों का आरोप इसलिये किया गया है क्योंकि चावल सेर से तौले गये हैं। (६) धारण करने का सम्बन्ध जैसे 'पर्वत जल रहा है' यहाँ पर वनों पर पर्वत का आरोप किया गया है क्योंकि पर्वत वनों को धारण करते हैं। (७) सामीप्य सम्बन्ध—जैसे 'गङ्गा में घर' यहाँ पर तटके लिये गङ्गा शब्द का प्रयोग इसी लिये हुआ है क्योंकि तट गङ्गा के समीप है। (८) योग या सम्मिलनका सम्बन्ध—जैसे कृष्ण एक गुण है। किन्तु योग के कारण कृष्ण गुण का आरोप 'साटक' में कर लिया जाता है और लोग 'काली साड़ी' कहने लगते हैं। यहाँ पर साड़ी पर कृष्ण गुण का आरोप योग के कारण हुआ है। (९) साधन का सम्बन्ध—जैसे 'अन्न प्राण है' अन्न प्राण का साधन है; इसी लिये अन्न पर प्राणों का आरोप कर लिया जाता है। (१०) आधिपत्य सम्बन्ध—जैसे राजा के किसी नौकर के अभिमानी होने पर लोग कहते हैं 'हटो राजा साहब आ रहे हैं।'

उक्त समस्त सम्बन्धों को दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है—सादृश्य सम्बन्ध और तद्भिन्न सम्बन्ध। किसी मूर्ख मनुष्य को बैल कहना सादृश्य सम्बन्ध है, क्योंकि जड़ता मन्दता इत्यादि गुणों के सादृश्य के आधार पर ही इस प्रकार के शब्द का प्रयोग किया जाता है। गुणों पर आधारित होने के कारण इस प्रकार की लक्षणा को गौणी लक्षणा कहते हैं। भिन्न सम्बन्धों में होनेवाली लक्षणा शुद्धा कहलाती है। इस प्रकार सम्बन्ध की दृष्टि से लक्षणा दो प्रकार की मानी जाती है।

अब विचार करना है कि मुख्य शब्द के स्थान पर अमुख्य का प्रयोग होता क्यों है ? आचार्यों ने इसके दो कारण बतलाये हैं (१) परम्परा और (२) कोई प्रयोजन। कुछ शब्दों का प्रयोग अमुख्य अर्थ में स्वभावतः होने लगता है। जैसे 'मण्डप' (माँड पीने वाला) का प्रयोग वितान के अर्थ में; 'कुण्डल' (कुण्ड को ग्रहण करने वाला) का प्रयोग

लोचनम्

भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति भक्तिर्धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः। तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः। यदाहु :—

अभिधेयेन सामीप्यात्सारूप्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥

भाक्त का अर्थ यह है—भजन किया जाता है या पदार्थ के द्वारा सेवन किया जाता है अर्थात् प्रसिद्ध के रूप में उत्प्रेक्षित किया जाता है, उसे भक्ति कहते हैं अर्थात् अभिधेय से सामोप्य इत्यादि धर्म, उससे (भक्ति से) आया हुआ भाक्त होता है अर्थात् लाक्षणिक अर्थ। जैसा कि कहते हैं—

'अभिधेय के साथ सामीप्य से, सारूप्य से, समवाय से, वैपरीत्य से और क्रियायोग से लक्षणा ५ प्रकार की मानी गई है।'

तारावती

कर्णाभरण के अर्थ में तथा 'कुशल' (कुशों को बोनने वाला) का प्रयोग दक्ष के अर्थ में। इन शब्दों के प्रयोग में न तो इनके मूल अर्थ की प्रतीति होती है और न प्रयोग के कारण का ही पता चलता है। इन शब्दों का शक्यार्थ के समान प्रयोग होता है। इस प्रकार की लक्षणा को निरूढा लक्षणा कहते हैं।

दूसरे प्रकार की लक्षणा प्रयोजनवती कहलाती है; क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग विशेष प्रयोजन को लेकर हुआ करता है। जैसे यदि एक गांव के अनेक व्यक्ति किसी स्थान पर चले जावें और उनको देख कर जो व्यक्ति यह कहने लगे 'आज अमुक गाँव यहीं उपस्थित है।' यहाँ पर गांव के व्यक्तियों के लिये 'गाँव' शब्द का प्रयोग संख्या की अधिकता को व्यक्त करने के मन्तव्य से किया गया है। 'गांव के बहुत से लोग' इन शब्दों से संख्या की अधिकता इतने विशद रूप में प्रतीत नहीं होती जितनी व्यक्तियों के लिये ग्राम शब्द के प्रयोग से होती है। अतएव संख्या की अधिकता की प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है। इसी प्रकार 'घी जीवन है' इत्यादि उदाहरणों में समझना चाहिये।]

लक्षणा के लिये भक्ति शब्द का भी प्रयोग होता है। इसी भक्ति शब्द से भाक्त शब्द बना है। भक्ति की व्युत्पत्ति कई प्रकार की हो सकती है। (१) 'भज सेवायाम्' धातु से कर्म अर्थ में क्तिन् प्रत्यय होकर 'जिसका भजन या सेवन किया जावे' यह व्युत्पत्ति होगी अर्थात् भक्ति सामीप्य इत्यादि ऐसे धर्मों को कहते हैं जो कि लक्ष्यार्थ की प्रतीति के निमित्त के रूप में प्रसिद्ध हो चुके हैं और लक्ष्यार्थ अपने बोध के लिये जिनका सहारा लेता है। अथवा वक्ता या बोद्धा लक्ष्यार्थ की प्रतीति के लिये जिन सामीप्य इत्यादि निमित्त रूप में प्रसिद्ध धर्मों की पर्यालोचना किया करता है उन प्रसिद्ध सामीप्य इत्यादि धर्मों को भक्ति कहते हैं तथा उनसे प्राप्त होने वाला अर्थ भाक्त अर्थात् लाक्षणिक अर्थ कहलाता है। अभियुक्तों का

लोचनम्

गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः, तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः। भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधानिमित्तप्रयोजनमितित्रयसद्भाव उपचारबीजमित्युक्तं भवति।

काव्यात्मानं गुणवृत्तिरिति। सामानाधिकरण्यस्यायं भावः—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये ध्वनिभेदे 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादावुपचारोऽस्ति, तथापि न तदात्मैव ध्वनिः, तद्व्यतिरेकेणापि भावात्। विवक्षितान्यपरवाच्यप्रभेदादौ अविवक्षितवाच्येऽप्युपचार एव न ध्वनिरिति वक्ष्यामः तथा च वक्ष्यति :—

गुण समुदाय में रहनेवाले (गुण समुदाय के बोधक) शब्द का तैक्ष्ण्य इत्यादि जो अर्थ भाग होता है उसे भक्ति कहते हैं, उससे प्राप्त हुये गौण अर्थ को भाक्त कहते हैं। प्रतिपादनीय सामीप्य तैक्ष्ण्य इत्यादि में श्रद्धा की अधिकता को भक्ति कहते हैं। उसको प्रयोजन के रूप में मानकर उससे प्राप्त होने वाला (अर्थ) भाक्त (होता है) इस प्रकार गौण और लाक्षणिक (दोनों भाक्त कहलाते हैं।) और मुख्य अर्थ का भङ्ग (भी) भक्ति कहलाता है। इस प्रकार मुख्यार्थबाध, निमित्त और प्रयोजन इन तीन का होना उपचार बीज है यह कहा हुआ हो जाता है।

काव्यात्मानं गुणवृत्तिरिति। ('तं भाक्तम्' तथा 'तं ध्वनिसंज्ञितं' में) सामानाधिकरण्य का यह भाव है—यद्यपि अविवक्षित वाच्य नामक ध्वनि भेद 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि में उपचार है तथापि तदात्मा ही ध्वनि नहीं होती क्योंकि उसके अभाव में भी हो जाती है। विवक्षितान्यपरवाच्य नामक उपभेद इत्यादि अविवक्षित वाच्य में भी उपचार ही होता है। ध्वनि नहीं यह हम आगे चलकर कहेंगे। उसी प्रकार (ध्वनिकार भी) कहेंगे—

तारावती

कहना है—(१) अभिधेय से सामीप्य सारूप्य समवाय वैपरीत्य और क्रियायोग इन ५ सम्बन्धों में किसी एक से सम्बन्धित होने के कारण लक्षणा ५ प्रकार की होती है। (२) शब्द का व्यवहार गुणों के समुदाय में होता है अर्थात् शब्द स्वसम्बद्ध गुणों का प्रतिपादन किया करता है। अतः शब्द का तीक्ष्णता इत्यादि जो अर्थभाग है उसे भक्ति कहते हैं क्योंकि उस अर्थभाग का सेवन किया जाता है। इस प्रकार गुणों के प्रतिपादन के कारण जो 'गौण' अर्थ निकलता है उसे भाक्त कहते हैं (३) भक्ति शब्द का अर्थ श्रद्धा की अधिकता भी है; अर्थात् बोधनीय अर्थ सामीप्य तीक्ष्णता इत्यादि के प्रति श्रद्धा की अधिकता। [जैसे 'बच्चा अग्नि है' में बच्चे की तेजस्विता का कथन करने में वक्ता की विशेष श्रद्धा है। यहाँ पर सामीप्य शब्द का प्रयोग प्रमादवश हो गया है; क्योंकि सामीप्य इत्यादि तो निमित्त हैं, बोधनीय प्रयोजन नहीं हो सकते।] इस भक्ति को प्रयोजन के रूप में लेकर जो अर्थ होता

लोचनम्

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः ।
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्नचासौ लक्ष्यते तया ॥ इति ॥
कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ॥ इति च ॥

गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च । तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य, तैरुपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा । गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्याऽभिधाव्यापारः । एतदुक्तं भवति ध्वनतीति वा, ध्वन्यत इति वा ध्वननमिति वा यदि ध्वनिः, तथाप्युपचरितशब्दार्थव्यापारातिरिक्तो नासौ कश्चित् । मुख्यार्थे ह्यभिधैवेति पारिशेष्यादमुख्य एव ध्वनिः तृतीयराश्यभावात् ।

रूप भेद होने के कारण यह ध्वनि भक्ति से एकरूपता को धारण नहीं करती । अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति के कारण यह उसके द्वारा लक्षित भी नहीं होती । किसी एक ध्वनिभेद का वह उपलक्षण (भले ही) हो जावे ।' यह भी ।

(गुणवृत्ति शब्द के अर्थ बतलाये जा रहे हैं) गुण का अर्थ है सामीप्य इत्यादि धर्म तथा तैक्ष्ण्य इत्यादि उपायों से जिस (शब्द) की अर्थान्तर में वृत्ति हो अथवा उन उपायों से शब्द की जिसमें (अर्थ में) वृत्ति हो उसे गुणवृत्ति कहते हैं अर्थात् शब्द अथवा अर्थ । अथवा गुणों के द्वारा वर्तमान होना गुण वृत्ति कहलाता है अर्थात् अमुख्य अभिधा व्यापार । यह बात कही गई है—चाहे ध्वनित करने वाले शब्द को ध्वनि कहें चाहे ध्वनित होने वाले अर्थ को ध्वनि कहें, चाहे ध्वनन व्यापार को ध्वनि कहें; उपचरित (गुणवृत्ति) शब्द के अर्थ व्यापार से भिन्न यह कोई वस्तु नहीं है । मुख्य अर्थ में अभिधा ही होती है; अतः परिशेष रहने से अमुख्य में ही ध्वनि होती है क्यों कि कोई तृतीय राशि होती ही नहीं ।

तारावती

है उसे भाक्त कहते हैं । इस प्रकार गौण और लाक्षणिक दोनों अर्थ भाक्त कहलाते हैं । (४) भक्ति, भज धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर भी बनता है जिसका अर्थ होता है भङ्ग करना या तोड़ना । लक्षणा में मुख्य अर्थ को भङ्ग किया जाता है इसलिये इसे भाक्त कहते हैं । इस प्रकार लक्षणा के तीनों तत्त्व मुख्य अर्थ का भङ्ग; निमित्त और प्रयोजन इस भाक्त शब्द से प्रतीतिगोचर हो जाते हैं । यही तीन लक्षणा के बीज हैं जिनसे उपचरित प्रयोग हुआ है ।

'तं भाक्तम्' 'ध्वन्यात्मानं गुणवृत्तिरिति' इन शब्दों में सामानाधिकरण्य का प्रयोग किसी विशेष मन्तव्य से हुआ है । दो पदों का सामानाधिकरण्य सदा एक धर्मी का बोधक होता है । पक्ष का आशय यह है कि ध्वनि गुणवृत्ति दोनों एक दूसरे से अभिन्न हुआ करते हैं । ध्वनिवादी का कहना है कि ध्वनि और गुणवृत्ति पर भी आधारित होती है तथापि गुणवृत्ति ही ध्वनि नहीं होती । यद्यपि अविवक्षितवाच्य नाम ध्वनि भेद में 'निःश्वासान्ध

ध्वन्यालोकः

यद्यपि च ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्—'भाक्तमाहुस्त-मन्ये' इति ।

(अनु०) यद्यपि काव्यलक्षणकारों ने ध्वनि शब्द का उच्चारण कर न तो गुणवृत्ति को ही प्रकाशित किया है और न और ही कोई प्रकार बतलाला है। तथापि अमुख्य वृत्ति से काव्यों में व्यवहार दिखलाते हुये उसका—ध्वनि वर्ण का कुछ स्पर्श अवश्य किया था जिसको परवर्ती आचार्यों ने नहीं लक्षित कर पाया तथा उन्होंने भी लक्षण नहीं बनाया था। यही कल्पित कर कहा गया है 'उसे कुछ लोग ध्वनि बतलाते हैं।'

तारावती

इवादर्शः' इत्यादि स्थानों पर लक्षणा का सहारा लिया जाता है तथापि लक्षणा ही ध्वनि नहीं हो सकती क्योंकि विवक्षितान्यपरवाच्य इत्यादि ध्वनिभेदों में बिना ही लक्षण के ध्वनि हो जाती है। अविवक्षितवाच्य में लक्षणा होती है किन्तु केवल ध्वनि ही नहीं होती यह बात आगे चलकर बतलाई जावेगी। (दे० प्र० उद्योत की १४ वीं तथा १९ वीं कारिका 'भक्त्या······लक्ष्यते तथा' और 'कस्य चित् ·······उपलक्षणम्')।

[आलङ्कारिक लोग दो प्रकार की लक्षणा मानते हैं शुद्धा और गौणी। किन्तु मीमांसक लोग गौणी वृत्ति को लक्षणा से पृथक् मानते हैं। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि भक्ति शब्द से जहाँ लक्षणा के तीनों बीज गतार्थ हो जाते हैं वहाँ गुणवृत्ति का समावेश भी भक्ति शब्द में हो जाता है। जो लोग ध्वनि का लक्षणा में सन्निवेश करते हैं उनका मन्तव्य यह है कि जहाँ कहीं शब्दवाच्यार्थव्यतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है उस सबका समावेश भक्ति लक्षणा या गुणवृत्ति में ही हो जाता है। दूसरी बात यह है कि ध्वनि की समस्त विशेषतायें गुणवृत्ति शब्द में भी विद्यमान हैं।] गुणवृत्ति शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—(१) गुण शब्द का अर्थ है सामीप्य इत्यादि तीक्ष्णता इत्यादि धर्म। इन उपायों से जिस शब्द की दूसरे अर्थ में वृत्ति या व्यवहार हो उस शब्द को गुणवृत्ति कहते हैं अर्थात् लक्षक शब्द। (२) उन उपायों से जिस अर्थान्तर में शब्द का व्यवहार हो वह लक्ष्यार्थ अथवा। (३) गुण के द्वारा वर्तन करना या व्यवहार करना अर्थात् अमुख्य अभिधा (लक्षणा) व्यापार। इसी प्रकार ध्वनि शब्द के भी तीन अर्थ हो सकते हैं—(१) जो ध्वनित हो अर्थात् शब्द; (२) जो ध्वनित किया जावे अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ और (३) जिस प्रक्रिया के द्वारा ध्वनित किया जावे अर्थात् व्यञ्जना व्यापार। इस प्रकार ध्वनि और गुणवृत्ति इन दोनों शब्दों से एक से अर्थ ही निकलते हैं और ध्वनि शब्द के तीनों अर्थ गुणवृत्ति शब्द से भी गतार्थ हो जाते हैं। आशय यह है कि शब्द के दो ही व्यापार होते हैं मुख्य और अमुख्य। मुख्य

लोचनम्

ननु केनैतदुक्तं ध्वनिर्गुणवृत्तिरित्याशङ्क्याह—यद्यपि चेति। अन्यो वेति। गुणालङ्कारप्रकार इति यावत्। दर्शयतेति—भट्टोद्भटवामनादिना। भामहेनोक्तम्—'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः' इति। अभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे—शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च इति। वामनोऽपि 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति। मनाक् स्पृष्ट इति। तैस्तावद्ध्वनिदिगुन्मीलिता यथालिखितपाठकैस्तु स्वरूपविवेकं कर्तुमशक्नुवद्भिस्तत्स्वरूपविवेको न कृतः, प्रत्युतोपालभ्यते, अभग्ननारिकेलवत् यथाश्रुततद्ग्रन्थोद्ग्रहणमात्रेणेति। अत एवाह—परिकल्प्यैवमुक्तमिति। यद्येवं न योज्यते तदा ध्वनिमार्गः स्पृष्ट इति पूर्वपक्षाभिधानं विरुध्यते।

यह किसने कहा कि ध्वनि गुणवृत्ति होती है? यह शङ्का करके कह रहे हैं—'यद्यपि च' इत्यादि। अन्यो वा इति। अर्थात् गुण और अलङ्कार का प्रकार। दर्शयता इति। अर्थात् भट्टोद्भट वामन इत्यादि के द्वारा। भामह के द्वारा कहा गया—'शब्द छन्द अभिधानार्थं..........(काव्य हेतु हैं)' ऐसा यहाँ पर शब्द से अभिधानभेद की व्याख्या करने के लिये भट्टोद्भट ने कहा—शब्दों का अभिधान अर्थात् अभिधा व्यापार मुख्य तथा गुणवृत्ति। वामन ने भी कहा—'सादृश्य से लक्षणा वक्रोक्ति होती है।' मनाक् स्पृष्ट इति। उन्होंने तो ध्वनि की दिशा का उन्मीलन किया था। जैसा लिखा वैसा पढ़ने वालों ने तो स्वरूप विवेक करने में असमर्थ होकर उसके स्वरूप का विवेक नहीं किया; प्रत्युत (वे लोग) बिना टूटे नारियल के फल के समान यथाश्रुत ग्रन्थ को ग्रहण करने के ही द्वारा उपालम्भ दे रहे हैं। इसीलिये कहते है—'परिकल्पित करके इस प्रकार कहा है' यह। यदि इस प्रकारकी योजना न की जावे तो ध्वनिमार्ग का स्पर्श किया गया है यह पूर्वपक्ष का कहना विरुद्ध हो जाता है।

तारावती

व्यापार के लिये अभिधा वृत्ति का नाम लिया जाता है और अमुख्य व्यापार अथवा उपचरित शब्दार्थ को गुणवृत्ति के नाम से अभिहित किया जाता है। तीसरी राशि होती ही नहीं। अतएव अमुख्य व्यापार पर आधारित ध्वनि को भी गुणवृत्ति में ही सन्निविष्ट किया जा सकता है। ध्वनि गुणवृत्ति से पृथक् नहीं कही जा सकती। यही भक्ति अथवा लक्षणा पक्ष है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी ने ध्वनिको गुणवृत्ति का नाम दिया है या नहीं? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ध्वनि शब्द का उल्लेख कर किसी भी आचार्य ने गुणवृत्ति या गुण और अलङ्कार का कोई दूसरा प्रकार प्रकाशित नहीं किया है तथापि काव्य में अमुख्य वृत्ति से व्यवहार करते हुये भट्टोद्भट वामन इत्यादि आचार्यों ने ध्वनि मार्ग का स्पर्श

ध्वन्यालोकः

केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदय-संवेद्यमेव समाख्यातवन्तः।

(अनु०) कुछ लोगों की बुद्धि लक्षण करने में इतनी सुकुमार है कि वे ध्वनि के तत्त्व को वाणी की शक्ति से परे सहृदयहृदयसम्वेद्यमान ही बतलाते हैं।

लोचनम्

शालीनबुद्धय इति अप्रगल्भमतय इत्यर्थः। एते च त्रय उत्तरोत्तरं भव्य-बुद्धयः। प्राच्या हि विपर्यस्ता एव सर्वथा। मध्यमास्तु तद्रूपं जानाना अपि

शालीन बुद्धय इति। अर्थात् अप्रगल्भ मतिवाले। ये तीनों उत्तरोत्तर भव्य बुद्धि वाले हैं। पहले के लोग (अभाववादी) सर्वथा विपर्यस्त हो गये अर्थात् विपर्यय ज्ञान से युक्त हैं और वास्तविक तत्त्व से अनभिज्ञ हैं। बीच के लोग उसके रूप को जानते हुये भी सन्देह से उसे

तारावती

अवश्य किया था। भामह ने काव्य हेतुओं का परिगणन कराते हुये लिखा था 'शब्द, छन्द अभिधान, इतिहासाश्रित कथा, लोकयुक्ति और कला ये काव्य के हेतु होते हैं। (१—९) इस कारिका में शब्द और अभिधान दोनों शब्दों का पृथक् पृथक् उपादन हुआ है। अतएव इन दोनों शब्दों के भेद की व्याख्या करते हुये भट्टोद्भट ने लिखा—'अभिधान शब्द का अर्थ है शब्दों का अभिधा व्यापार। वह दो प्रकार का होता है—मुख्य तथा गुणवृत्ति।' वामन ने भी लिखा था—'सादृश्य में होनेवाली लक्षणा को वक्रोक्ति कहते हैं। इस प्रकार भामह ने अभिधान शब्द के द्वारा उस ध्वनि मार्ग का कुछ स्पर्श अवश्य किया था। उन्होंने केवल ध्वनि की दिशा का उन्मीलन किया था। किन्तु व्याख्याता लोगों ने जैसा पढ़ा था उसका वैसे का वैसा ही अर्थ कर दिया। वे उसके स्वरूप का विवेक करने में असमर्थ थे; अतएव उन्होंने उसका स्वरूप नहीं समझ पाया। अब वे ही लोग उसे उपालम्भ दे रहे हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति नारियल की बाहरी कठोरता को ही नारियल की वास्तविकता समझ जावे उसे तोड़कर उसके आन्तरिक-वास्तविक स्वाद को जानने की चेष्टा न करे। यही दशा उन व्याख्याताओं की हुई जिन्होंने जैसा सुना था वैसा ही ग्रहण कर लिया उसके रहस्य को जानने की चेष्टा नहीं की। आशय यह है कि पुराने आचार्यों ने इस बात की ओर सङ्केत किया था कि ध्वनि और लक्षणा एक ही तत्त्व हैं। व्याख्याताओं की असावधानता के कारण उसकी ठीक व्याख्या नहीं हो सकी। इस सन्दर्भ की ऐसी ही योजना करनी चाहिये; नहीं तो पूर्व पक्ष के प्रकरण में 'ध्वनि' के स्पर्श की बात कहना ठीक नहीं होगा।

पाचवाँ पक्ष अशक्यवक्तव्यत्ववादियों का है जिनकी बुद्धि लक्षण करने में इतनी सुकुमार है कि वे कहते हैं उस ध्वनि का लक्षण बन ही नहीं सकता। सुकुमार का आशय है—'उनकी बुद्धि प्रगल्भ नहीं।'

(अशक्यवक्तव्यत्ववादियों का मत निम्नलिखित पद्य से भी व्यक्त होता है—

ध्वन्यालोकः

तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः ।

(अनु०) अतएव इस प्रकार के मतभेद के होते हुये सहृदयों के आत्मा को आनन्द देने के उद्देश्य से हम उसके स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं ।

लोचनम्

सन्देहेनापह्नवते । अन्त्यास्त्वनपह्नवाना अपि लक्षयितुं न जानत इति क्रमेण विपर्याससन्देहाज्ञानप्राधान्यमेतेषाम् । तेनेति । एकैकोऽप्ययं विप्रतिपत्तिरूपो वाक्यार्थो निरूपणे हेतुत्वं प्रतिपद्यत इत्येकवचनम् । एवंविधासु विमतिष्विति निर्धारणे सप्तमी । आसु मध्ये एकोऽपि यो विमत्तिप्रकारस्तेनैव हेतुना तत्स्वरूपं ब्रूम इति । ध्वनिस्वरूपमभिधेयम् । अभिधानाभिधेयलक्षणो ध्वनिशास्त्रयो-र्व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावः सम्बन्धः । विमतिनिवृत्त्या तत्स्वरूपज्ञानं प्रयोजनम् । शास्त्रप्रयोजनयोः साध्यसाधकभावः सम्बन्ध इत्युक्तम् ।

छिपाते हैं । अन्तिम लोग न छिपाते हुये भी लक्षित करना नहीं जानते । इस क्रम से इसके विपर्यास, सन्देह और अज्ञान की प्रधानता है । तेनेति । यह एक भी विप्रतिपत्तिरूप वाक्यार्थ निरूपण में हेतुता को प्राप्त हो जाता है इसलिये एक वचन का प्रयोग किया गया है ।

'इस प्रकार की विमतियों में' इसमें निर्धारण में सप्तमी है इनके बीच में एक भी जो विमति का प्रकार है उसी हेतु से हम उसका स्वरूप कह रहे हैं । ध्वनिरूप अभिधेय (विषय) है, ध्वनि और शास्त्र का अभिधानाभिधेय नामक (तथा) वक्ता श्रोता का व्युत्पाद्य-व्युत्पादक भाव सम्बन्ध है; विमतिनिवृत्ति के द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान प्रयोजन है, शास्त्र और प्रयोजन का साध्य-साधन-भाव सम्बन्ध है, यह कहा गया है ।

तारावती

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम् ।
वदद्भिरङ्गैः स्फुटरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः ॥

अर्थात् कवि का अभिप्राय शब्द से गोचर नहीं होता; केवल आर्द्र पदों में ही स्फुटित होता है । जो व्यक्ति उस अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त कर मौन हो जाते हैं और उनके रोमाञ्च ही उस आनन्द को कहा करते हैं हम उन्हें हाथ जोड़ कर नमस्कार करते हैं)

ध्वनि विरोधी यही उपर्युक्त ५ पक्ष हैं । उत्तरोत्तर पक्ष वालों की बुद्धि अधिक अच्छी है इनसे अभाववादी सबसे अधिक निकृष्ट कोटि के हैं । क्योंकि अभाववादियों को ध्वनि सिद्धान्त का ज्ञान ही नहीं है । अभाववादियों में सबसे अधिक निकृष्ट कोटि के वे लोग हैं जो ध्वनि को सर्वथा अस्वीकार करते हैं । उनसे अच्छे वे लोग हैं जो ध्वनि को मानते तो हैं किन्तु उसको काव्य से असम्बद्ध बतलाते हैं । उनसे भी अच्छे वे लोग हैं जो ध्वनि को काव्य से सम्बद्ध तो मानते हैं किन्तु उसका अन्तर्भाव अन्यत्र करना चाहते हैं । किन्तु ये समस्त अभाववादी निम्नकोटि में आते हैं यह पक्ष विपर्ययमूलक है । भक्तिवादी मध्यम श्रेणी

ध्वन्यालोकः

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलकविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्, अथच रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ॥ १ ॥

(अनु०) उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्य में उपनिषद्भूत प्रधान तत्त्व है तथा यह तत्त्व अत्यन्त रमणीय है। यद्यपि आचार्य लोग प्राचीन काल से ही काव्य लक्षण करते चले आये हैं। किन्तु उस ध्वनि का उन्मूलन कभी भी सूक्ष्म से सूक्ष्म बुद्धि ने भी नहीं कर पाया। रामायण महाभारत प्रभृति लक्ष्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध व्यवहार वाली उस ध्वनि का लक्षण बनाकर जो लोग निरूपण करना चाहते हैं। उन सहृदयों के हृदयों में आनन्द पूर्ण प्रतिष्ठा तथा स्थिरता को प्राप्त होवे।

तारावती

के हैं। क्योंकि वे ध्वनिको समझते तो हैं किन्तु उसका अन्तर्भाव ऐसे स्थान पर कर देते हैं जहाँ उसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। यह पक्ष सन्देहमूलक हैं। अशक्यवक्तव्यत्ववादी उसका अन्तर्भाव कहीं नहीं करना चाहते किन्तु उनको लक्षण बनाना नहीं आता। अतः वे पूर्वोक्त दोनों पक्षों से अच्छे हैं। यह पक्ष अज्ञान प्रधान है। यहाँ पर 'तेन' इस शब्द में 'तत्' शब्द का तृतीया का एक वचन है। 'तत्' शब्द से पूर्वोक्त तीनों वादों का सङ्कलन हो जाता है। तृतीया से हेतुता सिद्ध होती है और एक वचन से सिद्ध होता है कि विरोधियों का प्रत्येक वाक्यार्थ पृथक्-पृथक् ध्वनि निरूपण में हेतु है। आशय यह है कि 'ध्वनि का स्वरूप बतलाता हूँ' इस वाक्य का तीनों वाक्यों के साथ सम्बन्ध होता है। 'कुछ लोग ध्वनि का अभाव बतलाते हैं' इसलिये हम उसके स्वरूप का विवेचन करते हैं 'कुछ लोग उसे लक्षणा वृत्ति के अन्दर सन्निविष्ट करते हैं' इस लिये हम उसका स्वरूप बतलाते हैं।' इस प्रकार इस वाक्यार्थ का तीनों के साथ सम्बन्ध होगा।

'इस प्रकार की विमतियों में' इसमें निर्धारण (बहुतों में एक इस अर्थ में) में सप्तमी है। इन विमतियों में जो एक भी प्रकार है उसके कारण ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की जा रही है। यहां पर ध्वनि का स्वरूप विषय है। सहृदय अधिकारी हैं। वैमत्य के निराकरण के साथ ध्वनिस्वरूप ज्ञान प्रयोजन है। शास्त्र और प्रयोजन का साधक साध्यभाव सम्बन्ध है। शास्त्र साधक है प्रयोजन साध्य अथवा ध्वनि और शास्त्र का अभिधायकाभिधेय भाव सम्बन्ध है। ध्वनि अभिधेय है और शास्त्र अभिधायक है। इसी प्रकार वक्ता और श्रोता का व्युत्पादक-व्युत्पाद्य भाव सम्बन्ध है। वक्ता व्युत्पादक है और श्रोता व्युत्पाद्य, यही आलोककार का अनुबन्ध चतुष्टय है।

लोचनम्

अथ श्रोतृगतप्रयोजनप्रयोजनप्रतिपादकं 'सहृदयमनःप्रीतये' इति भागं व्याख्यातुमाह-- तस्य हीति। विमतिपदपतितस्येत्यर्थः। ध्वनेः स्वरूपं लक्षयतां सम्बन्धिनि मनसि आनन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः प्रतिष्ठां परैर्विपर्यासाद्युपहतैरनुन्मूल्यमानत्वेन स्थेमानं लभतामिति प्रयोजनं सम्पादयितुं तत्स्वरूपं प्रकाश्यत इति सङ्गतिः।

अब श्रोता के अन्दर रहने वाले प्रयोजन, प्रयोजन के प्रतिपादक 'सहृदयमनः प्रीतये' इस भाग की व्याख्या के लिये कह रहे हैं—'तस्य हि इति' अर्थात् विमति के पद में पड़े हुये (ध्वनिस्वरूप) का ध्वनि के स्वरूप को लक्षित करने वालों के सम्बन्धी मन में आनन्द (प्रतिष्ठा को प्राप्त हो जावे।) आनन्द ऐसा, जिसकी आत्मा है दुःखों से छुटकारा तथा सुख की उपलब्धि तथा जिसका दूसरा पर्याय चमत्कार है। प्रतिष्ठा का अर्थ है विपर्यास इत्यादि से उपहत (व्यक्तियों) के द्वारा उन्मूलन न हो सकने के कारण स्थिरता। (आनन्द प्रतिष्ठा को) प्राप्त हो जावे इस प्रयोजन के सम्पादन के लिये उसका स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है, यह सङ्गति है।

तारावती

प्रस्तुत प्रबन्ध का श्रोताओं के दृष्टिकोण से प्रयोजन है—विमति की निवृत्ति के साथ ध्वनि के स्वरूप को समझ लेना। उस प्रयोजन का प्रयोजन है सहृदयमनःप्रीति। इसी भाग की व्याख्या करने के लिये आलोककारने 'तस्य हि..........आनन्दो लभतां प्रतिष्ठाम्' यह भाग लिखा है। इसका अन्वय इस प्रकार होगा—'ध्वनेः स्वरूपं लक्षयतां मनसि आनन्दो लभतां प्रतिष्ठाम्'! आनन्द का अर्थ है निर्वृत्तिसंज्ञक तत्त्व जिसका दूसरा पर्याय चमत्कार भी हो सकता है। 'प्रतिष्ठा को प्राप्त हो' का आशय यह है—ऐसी स्थिरता को प्राप्त हो जावे जिसका उन्मूलन विपर्यास इत्यादि के द्वारा उपहत बुद्धि वाले (अभाववादी इत्यादि) न कर सकें। 'प्राप्त हो' का आशय यह है कि प्रयोजन को पूरा करने के लिये उसका स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है।

'तेन तत्स्वरूपं ब्रूमः' इस वाक्य से यह अर्थ आ जाता है कि विमति की निवृत्ति के साथ ध्वनि के स्वरूप का निर्वचन करना प्रस्तुत रचना का प्रयोजन है। किन्तु यह प्रयोजन मुख्य नहीं है अपितु मुख्य प्रयोजन प्रीति ही है। स्वरूपज्ञान रूप प्रयोजन प्रीति का अङ्ग मात्र है। इन दोनों प्रयोजनों की यहाँ पर एकवाक्यता हो जाती है। प्रपूर्वक युज् धातु से ल्युट् होकर प्रयोजन शब्द निष्पन्न हुआ है। 'प्रयुङ्क्ते प्रयोजयतीति वा प्रयोजनम्।' अर्थात् जो प्रयुक्त करे या प्रयोजित करे उसे प्रयोजन कहते हैं! आशय यह है कि प्रयोजन का प्राण ही यह है कि विवेचनीय वस्तु के प्रति प्रयुक्त करे या प्रेरित करे। जिसके कारण परिशीलक किसी विवेचनीय वस्तु के परिशीलन की ओर उन्मुख होता है उसे ही

लोचनम्

प्रयोजनं च नाम तत्सम्पादकवस्तुप्रयोक्तृताप्राणतयैव तथाभवतीत्याशयेन प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूम इत्येकवाक्यतया व्याख्येयम्। तत्स्वरूपशब्दं व्याचक्षाणः सङ्क्षेपेण तावत्पूर्वादिरिति विकल्पपञ्चकोद्धरणं सूचयति—सकलेत्यादिना। सकलशब्देन सत्कविशब्देन च प्रकारलेशो कस्मिंश्चिदिति निराकरोति। अतिरमणीयमिति भाक्ताद्व्यतिरेकमाह। 'नहि सिंहो वटुः' 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र रम्यता काचित्। उपनिषद्भूतशब्देन तु अपूर्वसमाख्यामात्रकरण इत्यादि निराकृतम्। अणीयसीभिरित्यादिना गुणालङ्कारान्तर्भूतत्वं सूचयति। अथ चेत्यादिना 'तत्समयान्तःपातिन' इत्यादिना यत् सामयिकत्व शङ्कित तन्निरवकाशीकरोति। रामायणमहाभारतशब्देनादिकवेः प्रभृति सर्वैरेव सूरिभिरस्यादरः कृत इति दर्शयति 'लक्षयता' मित्यनेन 'वाचां' स्थितमविषये इति परास्यति। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम्। लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति। तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयतामित्यर्थः। सहृदयानामिति। येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। यथोक्तम्—

प्रयोजन तो उसके द्वारा सम्पादनीय वस्तु के प्रति प्रयुक्त करना ही प्राण होने से वैसा (ठीक रूप में प्रयोजन) होता है इस आशय से 'प्रीति के लिये उसका स्वरूप बतला रहे हैं' इसके साथ एकवाक्यता के द्वारा व्याख्या की जानी चाहिये। उसके स्वरूप की व्याख्या करते हुये सङ्केत में पहले बतलाये हुये पांचों विकल्पों का उद्धार सूचित कर रहे हैं—सकलेत्यादि। 'सकल शब्द सत्कवि शब्द के द्वारा–कोई प्रकार लेश सम्भव भी हो' इसका निराकरण कर रहे हैं। 'अत्यन्त रमणीय' इससे 'भाक्त' (लाक्षणिक) से पृथक्त्व कहते हैं। 'बटु सिंह है' 'गङ्गा में घर' इन में कोई रमणीयता नहीं ही है। 'उपनिषद्भूत' इस शब्द के द्वारा 'अपूर्वनाममात्र का रखना' इसका निराकरण कर दिया। 'अत्यन्त अणु भी······' इत्यादि के द्वारा गुण और अलङ्कार में अन्तर्भाव नहीं हो सकता यह सूचित करते हैं। 'अथवा रामायण प्रभृति······' इत्यादि के द्वारा जो इसके होने की शङ्का की गई थी उसका निराकरण करते हैं। 'रामायण महाभारत' इत्यादि शब्दों के द्वारा 'आदि कवि से लेकर सभी कवियों ने इसका आदर किया है' यह दिखलाते हैं। 'लक्षित करने वाले' इसके द्वारा 'वाणी के विषय में स्थित नहीं है' इसको परास्त करते हैं। जिसके द्वारा लक्षित किया जावे उसे लक्ष कहते हैं अर्थात् लक्षण। लक्ष से निरूपित करते हैं (उसको कहेंगे) लक्षित करते हैं। उन सबका अर्थात् लक्षण के द्वारा निरूपण करनेवालों का। सहृदयानामिति। काव्यानुशीलन के अभ्यास से जिनके विशद हुये मनोमुकुर में वर्णनीय से तन्मय होने की योग्यता होती है वे अपने हृदय से संवाद (वर्णनीय वस्तु से एकीकरण) को प्राप्त होने वाले सहृदय होते हैं। जैसा कि कहा है—

तारावती

प्रयोजन कहते हैं। पाठक ध्वनिस्वरूपज्ञान के लिये प्रस्तुत रचना के अध्ययन में प्रवृत्त होगा और प्रीति के लिये स्वरूपज्ञान में प्रवृत्त होगा। यही इन दोनों की एक-वाक्यता है।

यहाँ पर आलोककार ने स्वरूप शब्द की विस्तृत व्याख्या करते हुये ध्वनि विरोधी पांचों सिद्धान्तों का निराकरण करने पर एक सूक्ष्म दृष्टिपात किया है; यह ध्वनि समस्त सत्कवियों के काव्य में उपनिषद्भूतप्रधान तत्त्व है—अतः यह कोई नहीं कह सकता कि वह थोड़े से विचारकों द्वारा प्रचलित अलङ्कारों का ही नया प्रकार कल्पित कर लिया गया है। 'यह तत्त्व अन्यत्र रमणीय है' इससे लक्षणा पक्ष का व्यवच्छेद हो जाता है। 'गङ्गा में घर' बालक सिंह' इत्यादि लक्षणा मूलक वाक्यों में कोई रमणीयता नहीं होती जबकि ध्वनिकाव्य अत्यन्त रमणीय हुआ करता है। 'एक नया नाम रखदेने से क्या लाभ ? इस कथन का निराकरण करने के लिये ही कहा गया है कि 'वह तत्त्व समस्तसत्काव्यों का उपनिषद्भूत है। कुछ लोग कहते थे कि 'उस ध्वनि काव्य का अन्तर्भाव गुण अथवा अलङ्कार में कर दिया जाना चाहिये।' इन्हीं लोगों का प्रतिवाद करने के लिये आचार्य ने लिखा है—कि उसका निराकरण सूक्ष्म से सूक्ष्म कवि बुद्धि ने भी कभी नहीं कर पाया।

कतिपय आचार्यों ने यह कह कर उसे सामयिक बतलाया था कि 'कतिपय सहृदयों के मान लेने मात्र से ध्वनि का स्वरूप स्थिरता' को प्राप्त नहीं हो सकता। इन लोगों का निराकरण करने के लिये कहा गया है—रामायण महाभारत प्रभृति समस्त सत्काव्यों में उसका आदर किया गया है। और आदि कवि तक ने उसकी प्रतिष्ठा की है। अतएव ध्वनि केवल कतिपय सहृदयों की मान्यता का विषय नहीं है।' पाँचवां पक्ष यह था कि 'वह ध्वनि वाणी का विषय नहीं हो सकती।' इस पक्ष का निराकरण करने के लिये ही कहा गया है कि 'कतिपय आचार्य उसका निरूपण लक्षण के द्वारा करना चाहते हैं' 'लक्ष' धातु से घञ् प्रत्यय हो कर लक्ष बनता है। 'लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम्।' अर्थात् जिसके द्वारा लक्षित किया जावे उसे लक्ष कहते हैं अर्थात् लक्षण। इस लक्ष को णित् प्रत्यय द्वारा क्रिया बनाई गई है। लक्ष या लक्षण के द्वारा किसी तत्त्व का निरूपण करना 'लक्षक्रियाका अर्थ है। उसका शतृप्रत्ययान्त रूप बना है 'लक्षयताम्' अर्थात् लक्षण के द्वारा निरूपण करने वाले।

['लक्षयतां' का उक्त व्याख्या पर श्री महादेव शास्त्री ने दिव्याञ्जन टिप्पणी में लिखा है—'यहाँ पर कारण में घञ् दुर्लभ है क्योंकि ल्युट् प्रत्यय के द्वारा उस का बाध हो जाता है। किन्तु महाभाष्यकार ने 'उपदेशेऽजनुनासिक' इस सूत्र के उपदेश शब्द की व्युत्पत्ति में करण में घञ् माना है। उसी आधार पर लक्ष धातु से बाहुलक का आश्रय लेकर करण में घञ् किया जा सकता है। मुझे तो ऐसा मालूम पढ़ता है कि 'लक्षयतां' का सीधा अर्थ

लोचनम्

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ इति ॥

आनन्द इति। रसचर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्य-भूतमात्मत्वमिति दर्शयति। तेन यदुक्तम्—

'जो अर्थ हृदय से संवाद रखने वाला होता है उसकी भावनाएँ (निरन्तरचर्वणा) रस चर्वणा-रसोद्भव में हेतु होती हैं। अग्नि के द्वारा शुष्क काष्ठ के समान उसके द्वारा शरीर व्याप्त कर लिया जाता है।"

'आनन्द इति'। रसचर्वणात्मक (आनन्द) की प्रधानता दिखलाते हुये रसध्वनि का ही सर्वत्र मुख्यभूत आत्मत्व दिखला रहे हैं। इससे जो यह कहा था—

तारावती

'निरूपयतां' कर दिया जाना चाहिये निरूपण का अर्थ ही है लक्षण के द्वारा लक्ष्य का बोध। इस प्रकार धात्वर्थ के द्वारा ही लक्षण इत्यादि से निरूपण संगृहीत हो जाता है फिर अगतिक गति और बाहुलक का आश्रय लेकर करण घञन्त के द्वारा व्युत्पादन का प्रयत्न क्यों करना चाहिये यह बुद्धिमानों के विचार का विषय है। 'किन्तु यहाँ पर अगतिक गति का आश्रय व्यर्थ नहीं है। सामान्य अर्थ के द्वारा लक्षणा का संग्रह अगतिक गति है। यहाँ पर ग्रन्थकार विशेष रूप से इस बात पर बल देना चाहता है कि ध्वनि सिद्धान्त का अब तक लक्षण नहीं बनाया गया। किन्तु उसका लक्षण बनाने की कामना लोगों को है। ग्रन्थकार का यह अभिप्राय सामान्य अर्थ के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिये बाहुलक तथा अगतिक गति का आश्रय लिया गया है।]

इस प्रबन्ध के सहृदय अधिकारी हैं। काव्यानुशीलन से जिनके मनोमुकुर विशद हो गये हैं उनका वर्णनीय विषय से तन्मयता प्राप्त कर लेना ही सहृदयता का एक मात्र लक्षण है; जैसा कि कहा गया है—'जिस अर्थ में हृदय को तन्मय कर देने की शक्ति होती है उसकी भावना अथवा निरन्तर चर्वणा ही चर्वणाप्राण रस की अभिव्यक्ति में हेतु होती है। जिस प्रकार सूखे काठ में अग्नि व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार हृदय एकाकार रूप में परिणत कर वह अर्थ सारे शरीर पर प्रभाव डाला करता है। इसी कारण रसचर्वणा के अवसर पर रोमाञ्चादि शारीरिक विकारों का अनुभव होता है।

यहाँ पर आनन्द शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में हुआ है। रस की चर्वणा ही आनन्द की आत्मा अथवा स्वरूप है। आनन्द शब्द के प्रयोग के द्वारा यही दिखलाया गया है कि प्रधानता रसध्वनि की ही होती है और सर्वत्र रसध्वनि ही मुख्य आत्मा मानी जा सकती है। अतएव भट्ट नायक ने जो कहा था कि 'ध्वनि नाम का जो दूसरा व्यञ्जनात्मक व्यापार है यदि वह अभिधा और व्यञ्जना से भिन्न एक नया प्रकार मान भी लिया जावे तो भी वह

लोचनम्

ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनाश्रयः ।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्येंऽशत्वं न रूपता ॥ इति ॥

तदपहस्तितं भवति । तथा ह्यभिधाभावनारसचवर्णात्मकेऽपि त्र्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूतेति भवतोऽप्यविवादोऽस्ति । यथोक्तं त्वयैव—

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक् । इति ।

तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्यभिप्रायेणांशमात्रत्वमिति सिद्धसाधनम् । रसध्वन्यभिप्रायेण तु स्वाभ्युपगमप्रसिद्धसंवेदनविरुद्धमिति । तत्र कवेस्तावत्कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या । यदाह—'कीर्तिं स्वर्गफलामाहुः' इत्यादि । श्रोतॄणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः, यथोक्तम्—

और जो ध्वनि नाम का भी व्यञ्जनात्मक व्यापार (बतलाया गया है) उसके (अभिधा और भावना दो) भेद सिद्ध हो जाने पर भी काव्य में अंशत्व ही होगा (काव्य) रूपता नहीं होगी ।'

वह निराकृत हो जाता है । वह इस प्रकार कि अभिधा भावना और रस आत्मावाले तीन अंशों से युक्त काव्य में रसचर्वणा जीवनरूप में स्थित है, इस विषय में आपको भी विवाद नहीं है । जैसा कि आपने ही कहा है—

'काव्य में सभी रस लेनेवाले होते हैं न ज्ञानार्जन करनेवाले और न (उचित कार्यों में) नियुक्त होनेवाले ।'

इसीलिये वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि के अभिप्राय से (यदि) अंशत्वमात्र (मानो) तो सिद्ध बात का ही सिद्ध करना है । रसध्वनि के अभिप्राय से तो अपने सिद्धान्त, प्रसिद्ध और संवेदन के विरुद्ध है । उसमें कवि की कीर्ति से भी प्रीति ही सम्पादन करने योग्य होती है । जैसाकि कहा है-'कीर्ति को स्वर्ग फलवाली करते हैं' जैसा कि कहा गया है—'

तारावती

अंश ही होगा काव्य का स्वरूप कभी नहीं हो सकता ।' इसका निराकरण स्वतः हो जाता है । वह इस प्रकार—रस, अलङ्कार और वस्तु भेद से ध्वनि तीन प्रकार की बतलाई गई है, उनमें रस-चर्वणा ही काव्य का जीवन होती है इस विषय में तो भट्ट नायक को भी विवाद नहीं है । जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—'काव्य में न तो ज्ञान ही प्रधान है और न उपदेश ही । उसमें एकमात्र रस की प्रधानता है । यदि ध्वनि को अंश मानने से भट्ट नायक का अभिप्राय यह है कि वस्तु तथा अलङ्कार ध्वनियाँ अंश होती हैं तो जो कुछ हमने कहा है उसी को वे भी सिद्ध कर रहे हैं । यदि उनका अभिप्राय रस ध्वनि को अंश मानने से है तो वे स्वयं अपने स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध जा रहे हैं, प्रसिद्धि के भी विरुद्ध है और सहृदयों के स्वसंवेदनसिद्धि तत्त्व के भी विरुद्ध हैं ।

आनन्द शब्द से काव्य के प्रयोजन पर भी प्रकाश पड़ता है । यद्यपि आचार्यों ने काव्य के अनेक प्रयोजन माने हैं तथापि उनमें आनन्द की ही प्रधानता है । कवि के दृष्टिकोण से

लोचनम्

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥ इति ॥

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम् । अन्यथा प्रभुसम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसम्मितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासम्मितत्वलक्षणो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः । चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम् ।

'साधु काव्य का सेवन करना धर्म अर्थ काम और मोक्ष में तथा कलाओं में विचक्षणता कीर्ति और प्रीति को करता है ।'

तथापि उसमें प्रीति ही प्रधान है ! नहीं तो व्युत्पत्ति में हेतु प्रभुसम्मित वेद इत्यादि से तथा मित्रसम्मित इतिहास इत्यादि से व्युत्पत्ति में हेतु काव्य रूप की जायासम्मित लक्षणवाली विशेषता ही क्या रहे । इस प्रकार प्रधानतया आनन्द ही यहाँ पर कहा गया है । चतुर्वर्ग व्युत्पत्ति का भी आनन्द ही पार्यन्तिक (अन्तिम) मुख्य फल है ।

तारावती

काव्य के प्रयोजन कीर्ति और प्रीति हैं । कीर्ति के द्वारा भी प्रीति का ही सम्पादन होता है, जैसा कि कहा गया है—'कीर्ति का फल स्वर्ग है ।' स्वर्ग आनन्द का ही दूसरा नाम है । श्रोता के दृष्टिकोण से व्युत्पत्ति और प्रीति ये दो फल काव्य के प्रयोजन कहे जाते हैं । जैसा कि कहा गया है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा कलाओं में निपुणता कीर्ति और प्रीति ये फल सत्काव्य के आस्वादन से उत्पन्न होते हैं ।' तथापि इनमें प्रीति ही प्रधान है क्योंकि विचक्षणता काव्य का मुख्य नहीं किन्तु गौण प्रयोजन है । उपदेश तीन प्रकार के होते हैं (१) प्रभुसम्मित उपदेश—जैसे वेदशास्त्रों का उपदेश राजाज्ञा के समान अनिवार्य होता है । उसके न मानने पर प्रायश्चित्त रूप दण्ड सहन करना पड़ता है (२) मित्रसम्मित उपदेश—जैसे दर्शन या इतिहास पुराण इत्यादि का उपदेश जिसका मित्र की सम्मति के समान किसी समय खण्डन किया जा सकता है (३) कान्तासम्मित उपदेश—यही काव्य का उपदेश होता है । जिसमें प्रणयिनी के प्रणय की भाँति सर्वदा आनन्द की ही प्रधानता होती है । उससे पड़नेवाला प्रभाव यद्यपि गौण होता है फिर भी स्थायी तथा अनिवार्य होता है । राजाज्ञा के प्रतिकूल आन्दोलन किया जा सकता है, मित्रों की सम्मति ठुकराई जा सकती है किन्तु आनन्दानुभूति के साथ प्रणयिनी जो प्रभाव जमा देती है उसके पालन में एक प्रकार की बाध्यता सी आ जाती है । इसी प्रकार वेद-शास्त्रादि के उपदेश ठुकराये जा सकते हैं किन्तु काव्यानुशीलन से पड़े हुए प्रभाव का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता । चारो वर्गों की व्युत्पत्ति का भी अन्तिम लक्ष्य आनन्द ही है । आचार्य कुन्तक ने तो इसे काव्यरसास्वाद से भी बढ़कर बतलाया है—

लोचनम्

आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदहृदयेषु प्रतिष्ठां देवतायतनादिवदनश्वरीं स्थितिं गच्छत्विति भावः। यथोक्तम्—

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः॥ इति॥

यया मनसि प्रतिष्ठा एवंविधमस्य मनः सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृदिति यावत् यथा 'युद्धे प्रतिष्ठा परमार्जुनस्य' इति स्वनामप्रकटीकरणं श्रोतॄणां प्रवृत्त्यङ्गमेव सम्भावनाप्रत्ययोत्पादनमुखेनेति ग्रन्थान्ते वक्ष्यामः। एवं ग्रन्थकृतः कवेः श्रोतुश्च मुख्यं प्रयोजनमुक्तम्॥ १॥

आनन्द इति। आनन्द यह ग्रन्थकार का नाम है। इससे वे आनन्दवर्धनाचार्य इस शास्त्र के द्वारा सहृदयों के हृदयों में प्रतिष्ठा अर्थात् देवमन्दिर के समान न नष्ट होनेवाली स्थिति को प्राप्त होवें, यह भाव है। जैसा कहा गया है—

'स्वर्ग को गये हुये भी अच्छे निबन्ध के बनानेवालों का कथनीय काव्यमय शरीर आतङ्करहित विद्यमान ही रहता है।'

जिस प्रकार (सहृदयों के) मन में प्रतिष्ठा हो इसप्रकार का इनका मन है, आशय यह है कि यह ग्रन्थकार निस्सन्देह सहृदयचक्रवर्त्ती है। जैसा 'युद्ध में अर्जुन की बड़ी प्रतिष्ठा है।' यह अपने नाम का प्रकट करना (बहुत बड़ी) सम्भावना का विश्वास उत्पन्न करने के द्वारा प्रवृत्ति का अङ्ग है। यह ग्रन्थ के अन्त में हम कहेंगे। इस प्रकार ग्रन्थकार, कवि और श्रोता का मुख्य प्रयोजन कहा गया है॥ १॥

तारावती

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥

यही आनन्द शब्द का अर्थ है। 'आनन्द' आनन्दवर्धनाचार्य ग्रन्थकार का भी नाम है। इसप्रकार इसका आशय यह है कि आनन्दवर्धनाचार्य सहृदयों के हृदयों में उसी प्रकार प्रतिष्ठा को प्राप्त हों जिस प्रकार देवताओं के मन्दिरों में देवताओं को अखण्ड प्रतिष्ठा होती है। कहा भी है—

आशय यह है कि ग्रन्थकार का मन तथा यह शास्त्र इस प्रकार का है इसकी प्रतिष्ठा सहृदयों के मन में हो सके। अर्थात् ग्रन्थकार निस्सन्देह सहृदयचक्रवर्ती है। प्रतिष्ठा का अर्थ है अत्यधिक सम्मोहपूर्ण स्थिति। जैसे—'अर्जुन की युद्ध में बहुत बड़ी प्रतिष्ठा है।' यह हम ग्रन्थ के अन्त में कहेंगे कि यहाँ पर ग्रन्थकार ने अपना नाम इसलिए लिया है कि सहृदयों के हृदयों में ग्रन्थकार के प्रति सम्मान की भावना तथा आप्तत्व बुद्धि उत्पन्न हो जावे

ध्वन्यालोकः

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ २ ॥

(अनु०) लक्षण के द्वारा ध्वनि का निरूपण प्रारम्भ किया है; उसी की भूमिका बनाने के लिये यह कहा जा रहा है :—

'काव्य की आत्मा के रूप में स्थित सहृदयश्लाघनीय जो अर्थ है उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेद कहे गये हैं ॥ २ ॥

लोचनम्

ननु 'ध्वनिस्वरूपं ब्रूमः' इति प्रतिज्ञाय वाच्यप्रतीयमानाख्यौ द्वौ भेदावर्थस्येति वाच्याभिधाने का सङ्गतिः कारिकाया इत्याशङ्क्य सङ्गतिं कर्तुमवतरणिकां करोति तत्रेति । एवं विधेऽभिधेये प्रयोजने च स्थिते इत्यर्थः ।

भूमिरिव भूमिका । यथा अपूर्वनिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिर्विरच्यते तथा ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये निर्विवादसिद्धवाच्याभिधानं भूमिः । तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात् । वाच्येन समशीर्षिकया गणन तस्याप्यनपह्नवनीयत्वं प्रतिपादयितुम् । स्मृताविस्यनेन 'यः समाम्नातपूर्वः' इति दृढयति ।

निस्सन्देह 'ध्वनिस्वरूप को कहते हैं' यह प्रतिज्ञा करके वाच्य और प्रतीयमान नाम के अर्थ के दो भेद हैं—इस वाच्य के अभिधान में कारिका की क्या सङ्गति है ? यह आशङ्का करके सङ्गति करने के लिये अवतरण दे रहे हैं—तत्रेति । अर्थात् इस प्रकार के अभिधेय और प्रयोजन के स्थित होने पर ।

भूमि के समान भूमिका । जिस प्रकार अपूर्व निर्माण करने की इच्छा होने पर पहले भूमि बनाई जाती है उसी प्रकार प्रतीयमान नामक ध्वनिस्वरूप के निरूपण का लक्ष्य होने पर निर्विवाद सिद्ध वाच्य का अभिधान भूमि है । क्योंकि उसी की पीठ पर प्रतीयमान नामक अधिक अंश का उल्लेख हो सकता है । वाच्य के समान शीर्ष के रूप में गिनना उसके भी छिपाये न जा सकने का प्रतिपादन करने के लिये है । 'स्मृतौ' इसके द्वारा 'जो पहले

तारावती

जिससे वे ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त हो सकें । इस प्रकार ग्रन्थकार, कवि तथा श्रोता तीनों के दृष्टिकोण से प्रयोजन का प्रकथन किया गया है ॥ १ ॥

दूसरी कारिका में अर्थ के दो भेद किये गये हैं—वाच्य और प्रतीयमान । यहाँ पर प्रश्न उठता है कि प्रतिज्ञा तो यह की थी कि 'ध्वनि का स्वरूप कह रहे हैं ।' किन्तु दो भेदों में वाच्य को भी सम्मिलित किया है । इस ग्रन्थ की सङ्गति कैसे बैठती है ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए आलोककार ने अवतरण लिखा है कि 'वहाँ पर यह कारिका ध्वनि सिद्धान्त के लक्षण की भूमिका है ।' 'वहाँ पर' का आशय है उक्त अभिधेय औ

लोचनम्

'शब्दार्थशरीरं काव्यमिति' यदुक्तं, तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मना तदनुप्राणकेन भाव्यमेव। तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग: एव सन्निविशते सर्वजनसंवेद्यधर्मत्वात्स्थूलकृशादिवत्। अर्थ: पुन: सकलजनसंवेद्यो न भवति। न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेश:, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात्। तदाह—सहृदयश्लाघ्य इति। स एक एवार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्ध्या विभाज्यते। तथाहि तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदया: श्लाघन्ते? तद्भवितव्यं तत्र केनचिद्विशेषेण। यो विशेष:, स प्रतीयमानभागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते। वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे। अत एव अर्थ इत्येकतयोपक्रम्य सहृदयश्लाघ्य इति समाम्नात किया गया था' इसको पुष्ट कर रहे हैं। 'काव्य शब्द और अर्थ शरीरवाला होता है' यह जो कहा गया था, उसमें शरीर ग्रहण से ही उसकी अनुप्रापक कोई आत्मा होनी ही चाहिये। उसमें शरीर तो शब्दभाग में ही सन्निविष्ट हो जाता है क्योंकि स्थूल और कृश के समान सर्वजनसंवेद्य धर्मवाला (तो वही) है। इसके प्रतिकूल अर्थ सर्वजनसंवेद्य नहीं होता। निस्सन्देह अर्थ मात्र से ही काव्य का नाम नही पड़ जाता क्योंकि लौकिक वैदिक वाक्यों में वह बात नहीं होती। यही कह रहे हैं—सहृदयश्लाघ्य इति। वह एक ही अर्थ दो शाखाओं के रूप में विवेकियों के द्वारा। विभाग बुद्धि से विभक्त किया गया है।

वह इस प्रकार—अर्थरूपता के समान होते हुये भी क्या कारण है कि किसी को ही सहृदय लोग श्लाघा करते हैं। तो उसमें कुछ विशेष होना चाहिये। जो विशेष है वह प्रतीयमान भाग विशेष होने के कारण ज्ञानियों के द्वारा आत्मा के रूप में व्यवस्थापित किया जाता है। वाच्यार्थ सम्मिलन से विमोहित हृदयवालों के द्वारा तो उसके पृथक् होने में विप्रतिपत्ति उठाई जाती है जैसे चार्वाकों के द्वारा आत्मा के पृथक् होने में (आपत्ति उठाई

तारावती

प्रयोजन के होते हुए। भूमिका शब्द का अर्थ है भूमि के समान। ध्वनि एक प्रासाद है, जिस प्रकार नवीन प्रासाद का निर्माण करने के लिए पहले भूमि तैय्यार की जाती है, उसी प्रकार ध्वनिरूपी प्रासाद के लिए भूमिका के रूप में निर्विवाद सिद्ध वाच्यार्थ का अभिधान किया गया है। क्योंकि अर्थ का अधिक भाग प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ के आधार पर ही प्रतीतिगोचर होता है। वाच्यार्थ के समकक्ष प्रतीयमान अर्थ को गिनाने का आशय यह है कि जिस प्रकार वाच्यार्थ का अपलाप नहीं किया जा सकता उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ का भी अपलाप नहीं हो सकता। कारिका में स्मृतौ शब्द आया है—इसका अर्थ यह है कि मनु इत्यादि धर्मशास्त्रकारों ने जिस प्रकार स्मृतियाँ लिखी हैं उसी प्रकार सहृदयश्लाघ्य अर्थ के दो भेदों का प्रकथन पुराने आचार्यों ने किया है। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि 'ध्वनि पहले समाम्नात की जा चुकी है।'

तारावती

'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं' इसमें शरीर शब्द कथन से ही यह सिद्ध होता है कि इस शरीर में कोई न कोई आत्मा अवश्य होनी चाहिए। तभी काव्य जीवित कहा जा सकेगा। शब्द आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि उसको तो शरीर स्थानीय ही माना जा चुका है और जिस प्रकार सभी व्यक्ति शरीर के स्थूलत्व तथा कृशत्व का भी श्रावण प्रत्यक्ष कर सकते हैं। अतएव शब्द भिन्न ही कोई आत्मा होनी चाहिए। अर्थ दो प्रकार का होता है—एक अर्थ ऐसा होता है कि उसमें ऐसी कोई विशेषता नहीं होती जो सहृदयों को आकर्षित कर सके और दूसरा अर्थ ऐसा होता है जिसकी प्रशंसा सहृदय लोग स्वयं करने लगते हैं। इन दोनों में प्रथम प्रकार का साधारण अर्थ काव्य का शरीर-स्थानीय ही माना जाता है और द्वितीय प्रकार का अर्थ काव्य की आत्मा होता है। शब्द के समान अर्थ सर्वजनसंवेद्य नहीं होता। दूसरी बात यह है कि अर्थ की सत्तामात्र से ही 'काव्य' संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि लौकिक और वैदिक वाक्यों में अर्थ तो होता है किन्तु उन्हें हम काव्य नहीं कहते। यही बात इन शब्दों में कही गई है कि 'सहृदयश्लाघ्य अर्थ को काव्यात्मा की संज्ञा प्राप्त होती है।' एक ही अर्थ को दो शाखाओं में विभक्त कर लिया जाता है। वह इस प्रकार—यद्यपि काव्यार्थ और लौकिक अर्थ में इस बात में समानता है कि दोनों को 'अर्थ' की संज्ञा प्राप्त होती है तथापि इसका क्या कारण है कि सहृदय लोग काव्यार्थ की तो प्रशंसा करते हैं लौकिक अर्थ की प्रशंसा नहीं करते। अतएव काव्यार्थ में लौकिक अर्थ की अपेक्षा कोई न कोई विशेषता माननी ही पड़ेगी। जो विशेषता होती है वही प्रतीयमान भाग कहलाता है। विशेषता में हेतु होने के कारण विद्वान् लोग प्रतीयमान अर्थ को ही आत्मा के रूप में व्यवस्थापित करते हैं। किन्तु उसमें वाच्यार्थ का मिश्रण रहता है जिसमें व्यामोह में पड़कर दोनों अर्थों की एकता समझकर कतिपय असहृदय व्यक्ति प्रतीयमान अर्थ को मानने का विरोध करते हैं। जैसे चार्वाक लोग शरीर से पृथक् आत्मा को मानने में विप्रतिपत्ति करते हैं। इस लिए 'अर्थः' इस शब्द में एकवचन का निर्देश किया है और उसका विशेषण दिया है 'सहृदयश्लाघ्य'। यह विशेषण काव्यार्थ की विशेषता के हेतु को अभिव्यक्त करता है। भेद शब्द का अर्थ है अंश। दोनों अर्थों के सम्मिश्रण के कारण एकता की बुद्धि से एक वचन का प्रयोग कर दिया गया है और विभागबुद्धि से दो अंश बतला दिये गये हैं। यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि दोनों अर्थ—वाच्य और प्रतीयमान काव्य की आत्मा होते हैं।

यहाँ पर टीकाकारों ने प्रायः एक शङ्का उठाई है कि ध्वनिकार ने प्रतिज्ञा तो ध्वनि-विवेचन के लिए की थीं, बीच में वाच्यार्थ का वर्णन क्यों करने लगे? इस सन्दर्भ से विश्वनाथ जैसे आचार्य को भी भ्रम हो गया और उन्होंने लिखा है कि जब ध्वनि सदा प्रतीयमान ही होती है तब उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेद कर देना स्ववचोव्याघात

लोचनम्

विशेषणद्वारा हेतुमभिधायापोद्धारदृशा तस्य द्वौ भेदावंशावित्युक्तम्, न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति।

जाती है।) इसीलिये उपक्रम में 'अर्थ' यह एक वचन के रूप में कहकर 'सहृदयश्लाघ्य' इस विशेषण के द्वारा हेतु कह कर अपोद्धार (विभाग) की वृद्धि से उसके दो भेद अर्थात् अंश होते हैं यह कहा, यह नहीं कहा कि काव्य की दोनों आत्मा होती हैं।

तारावती

है। अभिनव गुप्त ने इस सम्भावित आक्षेप का उत्तर यह दिया है कि 'यह ध्वनि-विवेचन की भूमिकामात्र है।' इसका आशय यह है कि केवल अर्थ की सत्ता ही काव्यसंज्ञा-प्रवर्तिका नहीं होती। लौकिक वैदिक वाक्यों में अर्थ होते हुए भी उन्हें काव्यसंज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती। किसी भी वाक्य को काव्य संज्ञा तभी प्राप्त हो सकती है जब उसमें किसी प्रकार की रमणीयता हो। अर्थ का यही रमणीयता प्रयोजक अंश प्रतीयमान अर्थ कहा जाता है। इस अर्थ में वाच्यार्थ का भी मिश्रण रहता है। अतएव भूमिका के रूप में वाच्यार्थ का उल्लेख मात्र किया गया है। पूरे सन्दर्भ का आशय यही है कि रमणीयता केवल प्रतीयमान अर्थ में होती है।

यद्यपि महान् आचार्यों पर कटाक्षनिक्षेप उचित प्रतीत नहीं होता तथापि इस व्याख्या से न तो पूर्वापर ग्रन्थ की सङ्गति बैठती है और न विश्वनाथ के आक्षेप का उत्तर ही हो पाता है। यहाँ पर सहृदयश्लाघनीय अर्थ को काव्य की आत्मा कहा गया है और उसी आत्मा के दो भेद किये गये हैं वाच्य और प्रतीयमान। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि रमणीयता वाच्यार्थ में नहीं होती। मेरी समझ में इस ग्रन्थ की सङ्गति इस प्रकार लगाना अधिक युक्तियुक्त होगा—'सहृदयश्लाघनीय अर्थ ही काव्य की आत्मा है, प्राचीन आचार्यों ने इस आत्मा की जिस रूप में व्याख्या की है उसका विवेचन करने से ज्ञात होता है कि यह आत्मा दोनों रूपों में मानी जाती रही है वाच्य भी और प्रतीयमान भी।' यहाँ पर 'स्मृतौ' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार धार्मिक व्याख्या देनेवाले आचार्य किसी विषय में वैकल्पिक पक्षों की व्यवस्था देते हैं उसी प्रकार साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने जो व्यवस्था दी है उससे सिद्ध होता है कि पुराने आचार्य काव्य की आत्मा के रूप में स्थित अर्थ को दोनों रूपों में मानते थे।' 'उभौ' शब्द का द्विवचन और 'वाच्यप्रतीयमानाख्यौ' का द्वन्द्व भी इसी आशय की ओर इङ्गित करते हैं। अग्रिम कारिका में भी यही बात कही गई है। 'उपमा' इत्यादि प्रकार किसी के मत में काव्य की आत्मा हैं ही! यहाँ पर उनका उल्लेख ध्वनि की भूमिका के रूप में ही किया गया है। इससे पुरानी परम्परा से प्रस्तुत रचना का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

ध्वन्यालोकः

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ।

(अनु०) जिस प्रकार शरीर में आत्मा की सत्ता होती है उसी प्रकार ललित और उचित सन्निवेश के कारण सुन्दर प्रतीत होनेवाले काव्य में भी सहृदयश्लाघनीय जो अर्थ साररूप में स्थित होता है उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो अर्थ हुआ करते हैं।

लोचनम्

कारिकाभागगतं काव्यशब्दं व्याकर्तुमाह—काव्यस्य हीति। ललितशब्देन गुणालङ्कारानुग्रहमाह। उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यत इतिभावः। योऽर्थ इति यदानुवदन् परेणाप्येतत्तावदभ्युपगतमिति दर्शयति तस्येत्यादिना। तदभ्युपगम एव द्व्यंशत्वे सत्युपपद्यत इति दर्शयति। तेन यदुक्तम्—'चारुत्वहेतुत्वाद्गुणालङ्कार-व्यतिरिक्तो न ध्वनिः' इति, तत्र ध्वनेरात्मस्वरूपत्वाद्धेतुरसिद्ध इति दर्शितम्। न ह्यात्मा चारुत्वहेतुर्देहस्येति भवति। अथाप्येवं स्यात्तथापि वाच्येऽनैकान्तिको हेतुः। न ह्यलङ्कार्य एवालङ्कारः, गुणी एव गुणः। एतदर्थमपि वाच्यांशोपक्षेपः। अतएव वक्ष्यति—'वाच्यः प्रसिद्धः' इति॥ २॥

कारिका भाग में आये हुये काव्य शब्द की व्याख्या करने के लिये कहते हैं—काव्यस्य होति। ललित शब्द के द्वारा गुण और अलङ्कार का अनुग्रह बतलाया है। उचित शब्द से औचित्य रस-विषयक ही होता है यह दिखलाते हुये रस ध्वनि का जीवित होना सूचित करते हैं। आशय यह है कि उस (जीवितभूत रस) के अभाव में किस को लेकर यह औचित्य सर्वत्र उद्घोषित किया जाता है। 'योऽर्थः' में 'यत्' शब्द से अनुवाद करते हुये दूसरे लोगों के द्वारा यह स्वीकार ही किया गया है यह दिखलाते हैं। 'तस्य' इत्यादि के द्वारा उस (प्रतीयमान) का मानना दो अंशों के होने पर ही उपपन्न होता है, यह दिखलाते हैं। इससे जो यह कहा था—चारुत्व-हेतु होने के कारण गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त ध्वनि नहीं है' ध्वनि के आत्मस्वरूप होने के कारण उसमें हेतु असिद्ध है यह दिखला दिया। आत्मा देह का चारुत्व हेतु होता है यह निस्सन्देह नहीं होता। यदि ऐसा हो भी तथापि वाच्य में अनैकान्तिक हेतु आ जाता है। अलङ्कार्य ही अलङ्कार नहीं होता। गुणी ही गुण नहीं होता। इसके लिये भी वाच्यांश का उपक्षेप (किया गया)। इसीलिये कहेंगे—'वाच्य जो प्रसिद्ध है।' इत्यादि॥ २॥

ध्वन्यालोकः

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः, काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।
ततो नेह प्रतन्यते ॥३॥

केवलमनूद्यते पुनर्यथायोगम्

(अनु०) उनमें जो वाच्य अर्थ प्रसिद्ध है। दूसरे (उद्भट इत्यादि) आचार्यों ने उपमा इत्यादि भेदों के द्वारा बहुत प्रकार से उसकी व्याख्या कर दी है। [दूसरे आचार्यों से अभिप्राय काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों से है] अतएव यहाँ पर उसका विस्तार नहीं किया जा रहा है । केवल आवश्यकतानुसार उसका अनुवाद मात्र किया जा रहा है ।

तारावती

कारिका भाग में आये हुए काव्य शब्द की व्याख्या करने के लिये कहा गया है कि काव्य का सन्निवेश ललित और उचित होता है। अतएव काव्य में रमणीयता आ जाती है। ललित शब्द का आशय है–काव्य में गुण और अलङ्कार की सहायता से चारुता आती है। उचित शब्द का आशय है रसविषयक औचित्य। इससे सिद्ध होता है कि काव्य का जीवन रसध्वनि ही है। यदि रसध्वनि को काव्य का जीवन नहीं माना जावेगा तो सर्वत्र औचित्य की जो यह घोषणा की जाती है उसका क्या मन्तव्य होगा ? (क्षेमेन्द्र की 'औचित्य विचार चर्चा' औचित्यसम्प्रदाय का एकमात्र ग्रन्थ है। किन्तु तृतीय उद्योत में आनन्दवर्धन ने औचित्य का बड़े ही विस्तार से समर्थन किया है। उनका कहना है कि औचित्य सिद्धान्त का एकमात्र आधार रस ही है। शब्द और अर्थ का औचित्य भी रसपर्यवसायी ही है। वस्तुतः क्षेमेन्द्र भी औचित्य की आत्मरूपता का प्रतिपादन करते-करते रसप्रवण औचित्य पर ही आ गये हैं।

कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः ।
मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मनः ॥)

'जो वाच्य अर्थ है' इस वाक्य में 'जो' शब्द का अर्थ है कि 'वाच्यार्थ को विरोधी भी मानते हैं।' 'उसके दो भेद होते हैं' इस वाक्य में 'उस' शब्द का अभिप्राय यह है कि दो अंशों के होने पर ही उसकी सत्ता सिद्ध होती है। जब सुन्दर अर्थ को काव्यात्मा के रूप में स्वीकार कर लिया तब 'चारुत्व हेतु होने के कारण ध्वनि गुणालङ्कार-व्यतिरिक्त नहीं होती' इस कथन में स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। क्योंकि आत्मा कभी भी शरीर की चारुता में हेतु नहीं होती। यदि दुर्जनतोषन्याय से आत्मा को चारुत्वहेतु मान भी लिया जावे तो भी हेतु में व्यभिचार तो आ ही जावेगा। कारण यह है कि जो स्वयं अलङ्कार्य है वह अलङ्कार कैसे हो सकता है ? जो स्वयं गुणी है वह गुण कैसे हो सकता है ? यदि हम प्रतीयमान अर्थ को ही गुण और अलङ्कार मान लेंगे तो गुणी और अलङ्कार्य कौन होगा ? ॥ २ ॥

लोचनम्

तत्रेति । द्व्यंशत्वे सत्यपीत्यर्थः । प्रसिद्ध इति । वनितावदनोद्यानेन्दूदयादि-लौकिक एवेत्यर्थः । 'उपमादिभिः प्रकारैः स व्याकृतो बहुधे'ति सङ्गतिः । अन्यै-रिति कारिकाभागं काव्येत्यादिना व्याचष्टे । 'ततो नेह प्रतन्यत' इति विशेषाभ्य-नुज्ञेति दर्शयति केवलमित्यादिना ॥ ३ ॥

तत्रेति । अर्थात् दो अंशों के होने पर भी । प्रसिद्ध इति । अर्थात् वनितावदन, उद्यान, चन्द्रोदय इत्यादि लौकिक ही उद्दीपन । इसकी सङ्गति इस प्रकार होगी—'उपमा इत्यादि प्रकारों से उसकी बहुधा व्याख्या की गई है।' 'अन्यैः' इस कारिकाभाग की 'काव्यलक्ष्म-विधायिभिः' इसके द्वारा व्याख्या की गई है। 'इसीलिये यहाँ विस्तार नहीं किया जा रहा है' इस विशेष के प्रतिषेध के द्वारा शेष भाग की अनुमति दिखलाई जा रही है—केवल इत्यादि के द्वारा ॥ ३ ॥

तारावती

तीसरी कारिका के 'तत्र' शब्द का अर्थ है 'यद्यपि सहृदयश्लाघ्य अर्थ के दो अंश हैं तथापि वाच्यार्थ प्रसिद्ध है।' 'प्रसिद्ध' का अर्थ है--'वाच्यार्थ रमणीमुखकमल, उद्यान, चन्द्रोदय इत्यादि के रूप में लौकिक ही हुआ करता है।' यहाँ पर सङ्गति इस प्रकार बिठाई जानी चाहिये—'उपमा इत्यादि प्रकारों से उसकी बहुत प्रकार से व्याख्या कर दी गई है। उपमा ही सभी अलङ्कारों में प्रधान है। इसी लिए किसी किसी आचार्य ने अलङ्कारों को उपमाप्रपञ्च कहा है। अप्पयदीक्षित ने लिखा है:—

> उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
> रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥

कारिका में 'अन्यैः' यह शब्द आया था। उसी की व्याख्या वृत्ति ग्रन्थ में 'काव्यलक्षण-कार' कहकर की गई है। 'अतः उसका यहाँ पर प्रतनन नहीं किया जा रहा है' इस विशेष प्रतिषेध से शेष की अनुमति व्यक्त होती है। इसीलिए कहा गया है कि आवश्यकतानुसार केवल अनुवाद किया जा रहा है।

'काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों ने उपमा इत्यादि प्रकारों से वाच्यार्थ की अनेक प्रकार से व्याख्या कर दी है।' इस कथन से ही सिद्ध होता है कि वाच्यार्थ को काव्य की आत्मा माननेवाले आचार्य पर्याप्त संख्या में हो चुके थे। प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा माननेवाला कोई ऐसा आचार्य नहीं हुआ था जिसने प्रतीयमान अर्थ की काव्यात्मकता का प्रबन्धबद्ध प्रतिपादन किया हो। यहाँ पर आवश्यकता इस बात की थी कि प्राचीन आचार्यों के मत का पूरा परिचय देने के लिये अलङ्कार इत्यादि का विस्तृत प्रतिपादन किया जाता और उसी आधार पर ध्वनि की व्याख्या की जाती। किन्तु ग्रन्थकार का कहना है कि ऐसा करना पिष्टपेषणमात्र होता। अतएव प्राचीन सिद्धान्त की ओर सङ्केत मात्र कर दिया गया है

ध्वन्यालोकः

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ ४ ॥

(अनु०) जिस प्रकार अंगनाओं में प्रसिद्ध (मुख नाक कान इत्यादि) अवयवों से भिन्न लावण्य एक पृथक् पदार्थ होता है (जो स्वयं शोभित होता है और उन समस्त अंगों को भी शोभित करता है।) उसी प्रकार महाकवियों की वाणियों में प्रतीयमान अर्थ (वाच्यार्थ से भिन्न) कुछ और ही तत्त्व है (जो स्वयं भी शोभित होता है और वाच्यार्थ को भी शोभित कर काव्यात्मा बन जाता है) ॥४॥

लोचनम्

अन्यदेव वस्त्विति। पुनः शब्दो वाच्याद्विशेषद्योतकः। तद्व्यतिरिक्तं सारभूतं चेत्यर्थः। महाकवीनामिति बहुवचनमशेषविषयव्यापकत्वमाह।

'अन्यदेव वस्त्विति' पुनः शब्द वाच्य से विशेषता को बतलानेवाला है। अर्थात् उससे व्यतिरिक्त भी तथा सारभूत भी। 'महाकवीनाम्' में बहुवचन अशेष विषयों की व्यापकता को कहता है।

तारावती

और जहाँ कहीं आवश्यकता पड़ती जावेगी वहाँ उसका उद्धरण दे दिया जावेगा।

यहाँ पर प्रतनन और अनुवाद इन दोनों शब्दों का अन्तर समझ लेना चाहिये। अज्ञात अर्थ के ज्ञापन को प्रतनन कहते हैं और ज्ञात अर्थ के ज्ञापन को अनुवाद कहते हैं। यहाँ पर अलङ्कार इत्यादि का अनुवाद और ध्वनि का प्रतनन किया जावेगा।

एक अनुवादक ने इस कारिका का इस प्रकार अनुवाद किया है—'उनमें से वाच्य अर्थ वह है जो उपमादि (गुणालङ्कार) प्रकारों से प्रसिद्ध है और अन्यों ने (पूर्व काव्य-लक्षणकारों ने) अनेक प्रकार से उसका प्रदर्शन किया है।' यह व्याख्या मूल कारिका की वाक्य-रचना के भी प्रतिकूल है, 'उपमादिभिः प्रकारैः स व्याकृतो बहुधेति सङ्गतिः' इस लोचन ग्रन्थ के भी प्रतिकूल है और कारिकाकार के आशय को भी ठीक रूप में व्यक्त नहीं करती अतएव ग्राह्य नहीं है ॥ ३ ॥

चतुर्थ कारिका में प्रतीयमान वस्तु की सत्ता का प्रतिपादन दृष्टान्त द्वारा किया गया है। इस कारिका का आशय यह है कि जिस प्रकार नायिकाओं के मुख, नाक, कान, इत्यादि अनेक अवयव होते हैं किन्तु लावण्य नामक कोई अवयव नहीं होता, फिर भी वह सभी अवयवों से स्फुरित होने वाला प्रधानतत्त्व है। उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ किसी शब्द का सङ्केतित अर्थ नहीं होता किन्तु सभी शब्दों के सङ्केत से स्फुरित होता है।

इस कारिका में पुनः शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की विशेषता प्रकट करता है। अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न भी है और सारभूत भी है। महाकवि तथा वाणी इन दोनों शब्दों में बहुवचन का प्रयोग विषय की व्यापकता को सिद्ध करता है। आशय यह है

ध्वन्यालोकः

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद्वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत्तत्सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलंकृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वावयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु । यथाह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः ।

(अनु०) वाच्य की अपेक्षा प्रतीयमान वस्तु कुछ और ही होती है जो कि महाकवियों की वाणियों में हुआ करती है । जो यह प्रतीयमान अर्थ सहृदयों में अत्यन्त प्रसिद्ध है और प्रसिद्ध अलङ्कारों से तथा प्रतीत होनेवाले अवयवों (शब्द और अर्थ) से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार अंगनाओं में लावण्य प्रसिद्ध अलङ्कारों (आभूषणों) और प्रतीत होनेवाले अवयवों से सर्वथा पृथक् हुआ करता है । जिस प्रकार अंगनाओं में लावण्य समस्त अवयवों से व्यतिरिक्त प्रतीतिगोचर होकर सहृदयों के नेत्रों के लिये अमृततुल्य कुछ दूसरा ही तत्त्व बन जाता है । इसी प्रकार वह (प्रतीयमान) अर्थ है ।

लोचनम्

एतदभिधास्यमानप्रतीयमानानुप्राणितकाव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभाभाजनत्वेनैव महाकवित्वव्यपदेशो भवतीतिभावः । यदेवंविधमस्ति तद्भाति । नह्यत्यन्तासतो भानमुपपन्नम्; रजताद्यपि नात्यन्तमसद्भाति । अनेन सत्त्वप्रयुक्तं तद्भानमिति भानात्सत्त्वमवगम्यते । तेन यद्भाति तदस्ति तथेत्युक्तं भवति । तेनायं प्रयोगार्थः–प्रसिद्धं वाच्यं धर्मि, प्रतीयमानेन व्यतिरिक्तेन तद्वत् । तथा भासमानत्वात्, लावण्योपेताङ्गनाङ्गवत् । प्रसिद्धशब्दस्य सर्वप्रतीतत्वमलङ्कृतत्वं चार्थः । यत्तदिति सर्वनामसमुदायश्चमत्कारसारताप्रकटीकरणार्थमव्यपदेश्यत्वमन्योन्य-

जो यह आगे चल कर कहा जावेगा उस प्रतीयमान से अनुप्रमाणित काव्य के निर्माण में निपुण प्रतिभा का भाजन होने से ही महाकवित्व की संज्ञा प्राप्त होती है यह भाव है । जो इस प्रकार का होता है वह शोभित होता है । जो अत्यन्त असत् होता है उसका भान सिद्ध ही नहीं होता । रजत इत्यादि भी अत्यन्त असत् शोभित नहीं होते । इससे सत्ता से प्रेरित ही भान होता है इसलिये भान से सत्ता अवगत होती है । इससे यह कहा हुआ हो जाता है कि जो प्रतीत होता है वह उस प्रकार का होता (अवश्य) है । इससे प्रयोग का अर्थ (रूप) यह होगा––प्रसिद्ध वाच्य धर्मी, (पक्ष) अतिरिक्त प्रतीयमान के द्वारा उससे युक्त होता है, (साध्य) क्योंकि वैसा प्रतीत होता है (हेतु) लावण्य से उपेत अङ्गना के अङ्ग के समान (उदाहरण) प्रसिद्ध शब्द का अर्थ है सब को प्रतीत होना या अलंकृत होना (कारिका में) 'यत्तत्' यह सर्वनाम समुदाय, दृष्टान्त (लावण्य) और दार्ष्टान्तिक (प्रतीयमान अर्थ) दोनों में चमत्कारसारता को प्रकट करने के लिये किसी संज्ञा के द्वारा अभिहित किये जाने की अयोग्यता और एक दूसरे से मिलने के कारण (आकृति तथा

लोचनम्

संवलनाकृतं चाव्यतिरेकभ्रमं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दर्शयति। एतच्च किमपीत्यादिना व्याचष्टे। लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यङ्ग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। नचावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणायोगो वा लावण्यम्, पृथङ्निर्वर्ण्यमानकाणादिदोषशून्यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलङ्कृतायामपि लावण्यशून्येयमिति, अतथाभूतायामपि कस्याञ्चिल्लावण्यामृतचन्द्रिकेयमिति सहृदयानां व्यवहारात्।

लावण्य और वाच्य तथा प्रतीयमान दोनों के अत्यन्त मिले होने के कारण) उनके अभेद के भ्रम के अभाव को भी दिखलाता है। इसकी व्याख्या निर्माण इत्यादि शब्दों से की गई है। अवयव संस्थान के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला अवयव से भिन्न दूसरा धर्म ही लावण्य (होता है)। यह नहीं कहना चाहिये कि अवयवों की निर्दोषता ही या भूषणयोग ही लावण्य (कहा जाता है)। क्योंकि पृथक् रूप में दृश्यमान काणत्व दोष इत्यादि से शून्य शरीरावयवोंवाली तथा अलङ्कारों से सजी हुई होने पर भी 'यह लावण्यशून्य है' ऐसा तथा उस प्रकार की न होते हुए भी किसी में 'यह लावण्यामृत चन्द्रिका है' ऐसा सहृदयों का व्यवहार होता है।

तारावती

कि प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में सर्वत्र विद्यमान रहता है। महाकवित्व की संज्ञा भी उन्हीं को प्राप्त होती है जिनको परमात्मा की कृपा से ऐसी प्रतिभा प्राप्त हुई हो कि वे अग्रिम प्रकरण में बतलाये हुये प्रतीयमान अर्थ से अनुप्राणित काव्य रचना करने में निपुण हों। 'विभाति' शब्द का अर्थ है 'जो इस प्रकार का होता है उसी की शोभा होती है। सर्वथा असत् वस्तु का भान उपपन्न ही नहीं होता। शुक्ति में भी रजत का भान तभी होता है जब कि पृथक् सत्ता विद्यमान होती है। अविद्यमान वन्ध्यापुत्र अथवा आकाशकुसुम का भान होता ही नहीं। इसप्रकार सत्ता से भान होता है और भान से सत्ता सिद्ध होती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जो तत्त्व शोभित होता है वह उसी प्रकार का है भी। इसकी अनुमान प्रक्रिया इस प्रकार होगी—प्रसिद्ध वाच्य (पक्ष), स्वव्यतिरिक्त प्रतीयमान से युक्त होता है (साध्य), क्योंकि उसका भान होता है (हेतु), जिस प्रकार लावण्य से युक्त अङ्गनाओं के अङ्ग (उदाहरण)। प्रसिद्ध शब्द का अर्थ है सभी को ज्ञात तथा अलंकृत। यत् और तत् इन दो सर्वनामों का समूह दृष्टान्त (अङ्गनाओं का लावण्य) और दार्ष्टान्तिक (प्रतीयमान अर्थ) दोनों में एक तो यह प्रकट करना है कि इन दोनों का सार होता है चमत्कृत करना, दूसरे उनका पृथक् रूप में प्रकथन नहीं किया जा सकता है। (अर्थात् न तो लावण्य को ही पृथक् वस्तु के रूप में दिखलाया जा सकता है और न रसध्वनि की ही पृथक सत्ता का निर्वचन किया जा सकता है।) तीसरे अङ्ग और लावण्य तथा वाच्य और

ध्वन्यालोकः

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेद-प्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वाच्यादन्यत्वम्।

(अनु०) यह आगे चलकर दिखलाया जावेगा कि वह प्रतीयमान अर्थ वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर वस्तुभाव, अलंकार और रस इत्यादि अनेक भेदों में विभक्त होता है। इन समस्त भेदों में प्रतीयमान अर्थ से सर्वथा भिन्न हुआ करता है।

लोचनम्

ननु लावण्यं तावद्व्यतिरिक्तं प्रथितम्। प्रतीयमानं किं तदित्येव न जानीमः, दूरे तु व्यतिरेकप्रथेति। तथाभासमानत्वमसिद्धो हेतुरित्याशङ्क्य स ह्यर्थ इत्यादिना स्वरूपं तस्याभिधत्ते। सर्वेषु चेत्यादिना च व्यतिरेकप्रथां साधयिष्यति। तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिकः काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति। लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते। स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधः—यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलंकारभावमुपमादिरूपतामन्वभूत्, इदानीं त्वनलङ्काररूप एवान्यत्र गुणीभावात्। स पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते। मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम्।

यहाँ पर 'लावण्य तो व्यतिरिक्त (तत्त्व के रूप में) प्रसिद्ध है, वह प्रतीयमान क्या वस्तु है यही हम नहीं जानते, व्यतिरेक की प्रसिद्धि तो दूर की बात रही, उस प्रकार से भासमान होना यह हेतु असिद्ध है' यह शङ्का करके 'सह्यर्थः······' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा उसका स्वरूप बतलाते हैं। 'सर्वेषु च······' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा व्यतिरेक प्रसिद्ध को सिद्ध करेंगे। उनमें प्रतीयमान के तो दो भेद हैं—लौकिक तथा केवल काव्यक्रिया में गोचर होनेवाला। जो लौकिक (अर्थ) कभी स्ववाच्यता में भी विश्रान्त होता है वह विधि-निषेध इत्यादि अनेक प्रकार का वस्तु शब्द के द्वारा कहा जाता है। वह भी दो प्रकार का होता है—जिसने पहले कभी वाक्य के अर्थ में उपमा इत्यादि रूप अलङ्कार-भाव का अनुभव किया था (किन्तु) इस समय अलङ्कार से भिन्न रूपवाला ही है, क्योंकि वह दूसरे के प्रति गौण नहीं है, वह पहले की पहिचान के बल पर अलङ्कार ध्वनि के नाम से पुकारा जाता है जैसे ब्राह्मण संन्यासी। उस रूप (अलङ्कार-रूप) के अभाव के द्वारा उपलक्षित (व्यङ्ग्य) वस्तुमात्र कहलाता है। (वस्तुमात्र में) मात्र ग्रहण से दूसरे रूप के होने का निराकरण

तारावती

प्रतीयमान के अभेद का भ्रम भी 'यत्तत्' शब्द से दूर हो जाता है। इसी 'यत्तत्' शब्द की व्याख्या आलोक में 'किमपि' शब्द से की गई है। अवयव संस्थान से अभिव्यक्त होनेवाला अवयवों से भिन्न एक दूसरा ही धर्म लावण्य कहा जाता है।

लोचनम्

यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति ।

कर दिया गया। और जो स्वप्न में भी स्वशब्द वाच्य नहीं होता और न लौकिक व्यवहार में सम्मिलित होता है किन्तु शब्द के द्वारा समर्पित किये जानेवाले तथा हृदय से मेल खाने के कारण सुन्दर प्रतीत होने वाले विभाव और अनुभाव के योग्य हृदय में पहले से ही विनिविष्ट रति इत्यादि के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा सुकुमार आत्मचेतना के आनन्दमय चर्वणव्यापार के द्वारा जिसके स्वरूप का आस्वादन होता है उसे रस कहते हैं। केवल काव्य व्यापार में ही आनेवाला वह (भेद) रसध्वनि ही कहा जाता है। वही मुख्य रूप में आत्मा है।

तारावती

यहाँ पर कहा जा सकता है कि लावण्य कोई और तत्व नहीं केवल अवयवों की निर्दोषता और आभूषित होना ही लावण्य है। इसका उत्तर यह है कि अङ्गनाओं में मुख कान नाक इत्यादि सभी अवयव होते हैं और वे निरन्तर अविकल रूप में बने भी रहते हैं। किन्तु उनकी सत्ता ही सहृदय जनों के आकर्षण में कारण नहीं होती। प्रायः देखा जाता है कि कुछ अङ्गनाओं की ओर अधिक आकर्षण होता है और कुछ की ओर उतना नहीं होता। एक ही ललना की किसी विशेष आयु में दर्शक उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट होते हैं और दूसरे अवसरों पर उतने नहीं होते। कभी कभी यदि कोई स्त्री कानी हो या उसके किसी अंग में कोई और विकार हो किन्तु फिर भी वह सहृदयों के आकर्षण का केन्द्र बन जाती है किन्तु दूसरी स्त्री जिसके सब अङ्ग अविकल हों उतनी चित्ताकर्षक नहीं होती। इस सबका यही कारण है कि जिन रमणियों में लावण्य नामक यौवनजन्य चमक उपस्थित होती है और उनकी प्रत्येक प्रकार की चाल से भी प्रकट होती है तथा अङ्गों में भी लक्षित की जा सकती है, वे ही स्त्रियां आकर्षण करने में समर्थ होती हैं फिर चाहे उनके किसी विशेष अङ्ग में किसी प्रकार का दोष ही क्यों न उपस्थित हो। इसके प्रतिकूल उसी यौवनजन्य लावण्य नामक चमक के अभाव में समस्त अङ्गों के अविकल होते हुए भी दूसरी स्त्रियाँ उस प्रकार का आकर्षण नहीं कर सकतीं। वह लावण्य समस्त अंगों में निवास करनेवाला अतिरिक्त तत्त्व होता है; जिसे हम किसी अङ्ग में सन्निविष्ट नहीं कर सकते। इसी प्रकार शब्दों का एक वाच्यार्थ होता है। कभी-कभी हमें किसी वाक्य या प्रबन्ध में सुन्दरता का अनुभव होता है और दूसरे वाक्य में उसी प्रकार के वाच्यार्थ के होते हुए भी हमें तद्वत् सौन्दर्य का भान नहीं होता। कभी-कभी किसी वाक्य में एक सहृदय व्यक्ति को रमणीयता का बोध होता है

तारावती

किन्तु दूसरा व्यक्ति उस रमणीयता के अनुभव से सर्वथा वञ्चित ही रह जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सहृदयों में सुप्रसिद्ध वाच्यार्थव्यतिरिक्त एक प्रतीयमान अर्थ भी अङ्गनाओं के लावण्य के समान होता है जिसे न तो हम सुप्रसिद्ध अलङ्कारों में सन्निविष्ट कर सकते हैं और न प्रकट होने वाले अवयवों में ही उसका समावेश हो सकता है। (यही अर्थसौन्दर्य काव्य की आत्मा है।)

(प्रश्न) अङ्ग संस्थान से पृथक् लावण्य एक प्रसिद्ध वस्तु है, किन्तु प्रतीयमान क्या वस्तु है यही हमें ज्ञात नहीं। जब उसे हम जानते ही नहीं तब वाच्यार्थ से उसका पृथग्भाव तो दूर की बात रही। अतएव भासमानत्व हेतु स्वरूपतः असिद्ध है और उससे प्रतीयमान की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये उक्त प्रकरण में प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का बतलाया गया है और 'सभी प्रकारों में वह वाच्यार्थ से भिन्न होता है' यह प्रतीयमान अर्थ की पृथक्ता सिद्ध करने के लिये कहा गया है।

प्रतीयमान के दो भेद होते हैं–(१) लौकिक और (२) काव्यमात्रगोचर। लौकिक प्रतीयमान उसे कहते हैं जो कभी स्वशब्दवाच्यता को सहन कर सके। उसके विधि-निषेध इत्यादि अनेक प्रकार हैं; उन सब को वस्तु शब्द से अभिहित किया जाता है। इस लौकिक प्रतीयमान के दो भेद होते हैं (१) जो पहले किसी वाक्यार्थ में उपमा इत्यादि के रूप में अलङ्कारभाव का अनुभव कर चुका हो, किन्तु इस समय किसी के प्रति गौण न होने के कारण अपनी अलङ्काररूपता को छोड़ चुका हो। पहले वह अलङ्कार था इसलिये उसे अलङ्कारध्वनि की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसमें भूतपूर्व गति का आश्रय उसी प्रकार लिया जाता है जिस प्रकार कोई ब्राह्मण संन्यासधर्म को स्वीकार करलेने के उपरान्त अपने ब्राह्मणत्व को छोड़ देने पर भी भूतपूर्व गति से ब्राह्मण-संन्यासी कहा जाता है। (२) जो कभी अलङ्काररूपता को न प्राप्त हुआ हो। इसको वस्तुमात्रध्वनि कहते हैं। मात्र शब्द से दूसरे भेद (अलङ्कारध्वनि) का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार लौकिक प्रतीयमान की व्याख्या हो चुकी। कुछ ऐसे प्रतीयमान अर्थ होते हैं जो स्वप्न में भी कभी भी स्वशब्दवाच्य नहीं हो सकते और न कभी लोकव्यवहार में ही आ सकते हैं–किन्तु उनका स्वरूप केवल आनन्दमय होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में लौकिक अनुभव से उद्भूत रति इत्यादि भावनायें पहले से ही निरन्तर विद्यमान रहती हैं। जिस समय हम अभिनय देखते हैं या काव्यगत शब्दों का श्रवण करते हैं तो उनके द्वारा हमें ऐसे विभाव अनुभाव इत्यादि का अनुभव होने लगता है जो हृदय के अनुकूल होने के कारण बड़े ही सुन्दर प्रतीत होते हैं। उस समय हमारी रति इत्यादि सहज वासनायें उद्‌बुद्ध हो जाती हैं। उस समय काव्यपरिशीलक के सुकुमार अन्तःकरण में एक प्रकार के आनन्द का अनुभव होने लगता है। इसी आनन्द को रस कहते हैं। यही काव्यव्यापारमात्रगोचर रसध्वनि है। इसी को केवल

लोचनम्

यदूचे भट्टनायकेन—'अंशत्वं न रूपता' इति, तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्योरेव यदि नामोपालम्भः, रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाङ्गीकृतः रसचर्वणात्मनस्तृतीयस्यांशस्याभिधाभावनांशद्वयोत्तीर्णत्वेन निर्णयात्। वस्त्वलङ्कारध्वन्यो रसध्वनिपर्यन्तत्वमेवेति वयमेव वक्ष्यामस्तत्र तत्रेत्यास्तां तावत्। वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तमितिभेदत्रयव्यापकं सामान्यलक्षणम्। यद्यपि हि ध्वननं शब्दस्यैव व्यापारः, तथाप्यर्थसामर्थ्यस्य सहकारिणः सर्वत्रानपायाद्वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्वम्। शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यङ्ग्येऽप्यर्थसामर्थ्यादेव प्रतीयमानावगतिः; शब्दशक्तिः केवलमवान्तरसहकारिणीति वक्ष्यामः।

भट्ट नायक के द्वारा जो यह कहा गया कि '(ध्वनि) अंश होती है रूप नहीं' यदि वह उपालम्भ वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों के लिये ही है (तो कोई बात नहीं) क्योंकि रसध्वनि को तो उन्होंने ही आत्मा के रूप में अङ्गीकृत कर लिया, रसचर्वणात्मक तृतीय अंश का अभिधा और भावना इन दोनों अंशों से उत्तीर्ण (पृथक् तथा परे) होने के रूप में निर्णय किया गया है। वस्तु तथा अलङ्कार ध्वनियों की रसध्वनिपर्यन्तता को हम ही विभिन्न स्थानों पर कहेंगे। बस, अधिक कहने की क्या आवश्यकता। 'वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व' यह तीनों भेदों में व्यापक सामान्य लक्षण है। यद्यपि ध्वनन यह शब्द का ही व्यापार है तथापि अर्थसामर्थ्य का सर्वत्र अपाय न होने के कारण (सहयोग होने के कारण) वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व (माना जाता है) शब्दशक्ति केवल अवान्तरसहकारिणी है यह हम कहेंगे।

तारावती

ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है और यही मुख्य होकर काव्य की आत्मा का रूप धारण करता है।

भट्ट नायक ने जो यह कहा है कि 'ध्वनि काव्य का अंश होती है, उसका स्वरूप नहीं होती' उसका अभिप्राय वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनि की अंशरूपता का प्रतिपादन करने से ही है। रसध्वनि को तो आत्मा के रूप में उन्होंने ही स्वीकार किया है क्योंकि उन्होंने ही यह निर्णय कर दिया कि रसचर्वणात्मक तृतीय अंश उनके माने हुये अभिधा और भावना नामक दो अंशों का अतिक्रमण करके स्थित होता है और इस बात को हम भी सिद्ध करेंगे कि वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि, रसध्वनिपर्यवसायी ही होती हैं। वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होना तीनों भेदों में समानरूप से लागू होता है। यद्यपि ध्वनित करना शब्द का ही व्यापार है तथापि सहकारी अर्थसामर्थ्य की सत्ता सर्वत्र विद्यमान रहती है; अतएव वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व सर्वत्र आ जाता है। आगे चलकर बतलाया जावेगा कि शब्दशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में भी अर्थशक्ति से ही प्रतीयमान की प्रतीति होती है। शब्दशक्ति तो केवल अवान्तर सहकारिणी हो जाती है।

ध्वन्यालोकः

तथा ह्याद्यस्तावत्प्रभेदो वाच्याद्दूरं विभेदवान्। स हि कदाचिद्वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः। यथा—

भम धम्मिअ वीस्सथो स सुणओ अज्ज मरिओ देण।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण॥

(अनु०) वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के भेद को समझने के लिये सर्वप्रथम पहले भेद (वस्तुध्वनि) को लीजिये। इस भेद में तो व्यङ्ग्यार्थ वाच्य से बहुत ही भिन्न होता है यदि वाच्यवस्तु विधिपरक हो तो व्यङ्ग्यवस्तु निषेधपरक हो सकती है। जैसे :—

'हे धार्मिक ? अब तुम विश्वस्त होकर भ्रमण किया करो। गोदावरी तट पर स्थित कुञ्ज में रहने वाले उस उद्धत सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला।'

लोचनम्

दूरं विभेदवानिति। विधिनिषेधौ विरुद्धाविति न कस्यचिदपि विमतिः। एतदर्थं प्रथमं तावेवोदाहरति—

भ्रम धार्मिक विश्रब्ध सः शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन॥

दूरं विभेदवानिति। 'विधि और निषेध विरुद्ध होते हैं' इस विषय में किसी की असहमति नहीं है। इस अर्थ का पहले ही उदाहरण दे रहे हैं :—भ्रम धार्मिक इति।

तारावती

('प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इस कारिका का उद्धरण देकर आचार्य कुन्तक ने लिखा है—'इस दृष्टान्त से वाच्य वाचक रूप प्रसिद्धावयवव्यतिरिक्तत्व के द्वारा प्रतीयमान अर्थ की सत्ता ही सिद्ध की जा सकती है। ललनाओं का लावण्य सकललोकलोचनसंवेद्य होता है किन्तु प्रतीयमान अर्थ सहृदय-संवेद्य ही होता है। अतः दोनों की तुलना कैसी ? केवल बन्धसौन्दर्य ही लावण्यस्थानीय हो सकता है क्योंकि वही श्रवणमात्र से ही अव्युत्पन्न लोगों को भी आनन्द देता है। प्रतीयमान की तुलना तो नायिकाओं के उस सौभाग्य से ही की जा सकती है जो कि केवल उपभोगपरायण नायकों के लिए ही संवेद्य होता है।' इस विषय में यही कहा जा सकता है कि ललना-लावण्य का आस्वादन सर्वजनसंवेद्य होता है यही एक विचित्र सी बात है। क्या लावण्य-जन्य आह्लाद के लिए किसी योग्यता की अपेक्षा नहीं होती ? वैसे रसव्यन्जना को ध्वनिसिद्धान्त का प्राणभूत मानकर और बन्धच्छायाजन्य आह्लाद को रसध्वनि में सन्निविष्ट कर ध्वनिवादियों ने इसका स्वयं उत्तर दे दिया है।)

पहले वस्तुध्वनि को लीजिये। इसमें प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से बहुत भिन्न होता है। इसमें तो किसी को अनुपपत्ति हो ही नहीं सकती कि विधि और निषेध एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं। अतएव पहले इसी का उदाहरण दिया जाता है कि वाच्यार्थ विधिपरक होता है और प्रतीयमान निषेधपरक। हाल की एक प्राकृत गाथा को लीजिए:—कोई नायिका अपने

लोचनम्

कस्याश्चित्सङ्केतस्थानं जीवितसर्वस्वायमानं धार्मिकसञ्चरणान्तरायदोषात्तद्वलुप्यमानपल्लवकुसुमादिविच्छायीकरणाच्च परित्रातुमियमुक्तिः। तत्र स्वतः सिद्धमपि भ्रमणं श्वभयेनापोहितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधाभावरूपः, न तु नियोगः प्रैषादिरूपोऽत्र विधिः, अतिसर्गप्राप्तकालयोर्ह्ययं लोट्। तत्र भावतदभावयोर्विरोधाद्द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापाराभावात्। 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादिनाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात्।

किसी (नायिका) के जीवितसर्वस्व के रूप में स्थित संकेतस्थान के धार्मिकसञ्चरण रूप अन्तराय (विघ्न) के दोष से और उसके द्वारा हरे हुए पल्लव तथा कुसुम इत्यादि के शोभारहित कर देने से रक्षा करने के लिए यह उक्ति है। उसमें स्वतःसिद्ध भी भ्रमण कुत्ते के भय से प्रतिषिद्ध कर दिया गया था इस प्रकार यह निषेध के अभावस्वरूप प्रतिप्रसवात्मक विधि है, भेजने (लगाने नियुक्त करने) इत्यादि के रूप में यहाँ पर विधि नहीं है। यहाँ पर अतिसर्ग (इच्छानुकूल प्रवृत्ति) तथा प्राप्तकाल में लोट् लकार हुई है। उनमें भाव तथा उसके अभाव में परस्पर विरोध होने के कारण दोनों एक साथ वाच्य नहीं हो सकते। क्रमशः भी नहीं क्योंकि रुक रुक-कर व्यापार नहीं होता। क्योंकि अभिधा विशेष्य को प्राप्त नहीं होती (यदि वह विशेषण में अपना शक्ति खो चुकी हो) इत्यादि के द्वारा अभिधा व्यापार का रुककर कार्य करना असम्भव बतलाया गया है।

तारावती

प्रियतम से गोदावरी के तट पर स्थित कुञ्जों में मिला करती है। वहाँ पर कोई भक्त मनुष्य भ्रमण करने के लिये जाया करता है जिससे उस नायिका की प्रेमलीला में भी विघ्न पड़ता है और उसके द्वारा कल्पित किये हुये पल्लवास्तरण इत्यादि अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। वह धार्मिक भक्त गोदावरी तट पर निवास करनेवाले एक कुत्ते से प्रायः भयभीत रहा करता है। नायिका चाहती है कि यदि वह धार्मिक गोदावरी तट पर घूमने न जाया करे तो उसकी (नायिका की) प्रेमलीला के निर्विघ्न समाप्त होने में सहायता मिलेगी। वह धार्मिक से कह रही है–'हे धार्मिक अब तुम विश्वस्त होकर भ्रमण किया करो, गोदावरी तट पर स्थित कुञ्ज में रहनेवाले उस उद्धत सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला।' यहाँ पर वाच्यार्थ तो यह है कि अब तुम निस्सङ्कोच और निर्भय होकर घूम सकते हो; अब तुम्हें कुत्ते का कोई भय नहीं रहा। किन्तु प्रतीयमान अर्थ यह निकलता है कि 'अभीतक तो वहाँ पर कुत्ता ही रहता था अब वहाँ पर सिंह आ गया है। इसलिये कभी भूल करके भी वहाँ मत जाना। नहीं तो तुम्हें सिंह मार डालेगा। इस प्रकार वाच्यार्थ विधिपरक है और प्रतीयमान अर्थ निषेधपरक।

लोचनम्

ननु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिकतदादिपदार्थानन्वयरूप-मुख्यार्थबाधबलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीभूतनिषेध-प्रतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः। एवमनेनोक्त-मिति हि व्यवहारः। तन्न वाच्यातिरिक्तोऽन्योऽर्थ इति।

(प्रश्न) यहाँ पर तात्पर्यशक्ति विवक्षा के रूप में (कथन की इच्छा के रूप में) पर्यवसित नहीं हुई है (वक्ता जो कुछ कहना चाहता है उस अर्थ की पूर्ति नहीं हुई है) विवक्षा से दृप्त, धार्मिक, तथा 'तत्' इत्यादि पदों के अर्थों का अन्वय न लग सकना रूप मुख्यार्थबाध के बल से विरोध निमित्तक-विपरीत लक्षणा के बल पर वाक्यार्थता को प्राप्त निषेध प्रतीति को अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से (उत्पन्न) कर देता है, इस प्रकार वह अर्थ शब्दशक्तिमूलक है। इस प्रकार 'इसने कहा' यह निस्सन्देह व्यवहार होता है, अतः वाच्य से भिन्न अन्य अर्थ नहीं होता।

तारावती

'भ्रम' इस क्रिया में लोट् लकार का प्रयोग किया गया है। 'लोट्' विधि इत्यादि कई अर्थों में प्रयुक्त होता है जिनका समाहार इन तीन अर्थों में किया जा सकता है-(१) प्रवर्तना-किसी व्यक्ति का दूसरे को किसी कार्य में प्रवृत्त करना (२) अतिसर्ग-यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य में पहले से हीं प्रवृत्त हो और उसे उस प्रवृत्ति से अलग करने का कहीं से कोई कारण उपस्थित हो गया हो तो उसको पुनः उस कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देना। (३) प्राप्तकाल। यहाँ पर भ्रमण तो पहले ही हो रहा है। अतएव 'प्रेषण' इत्यादि के समान प्रथम अर्थ में यह विधि नहीं हो सकती। कुत्ते के भय से भ्रमण में व्याघात उपस्थित होने वाला था उसी का प्रतिप्रसव यह विधान है। अतएव यहाँ पर अतिसर्ग और प्राप्तकाल इन दो अर्थों में विधि है। आशय यह है कि यहाँ पर प्रवर्तनारूप अपूर्व विधान नहीं किया जा रहा है अतएव निषेध के अभाव द्वारा प्रवृत्त करते हुए कामचार (स्वेच्छाविचरण) की अनुमति दी जा रही है।

यहाँ पर यह विचार करना है कि ये दो अर्थ निकलते किस प्रकार हैं? दोनों अर्थ एक साथ निकल नहीं सकते क्योंकि दोनों का परस्पर विरोध है। विधि के बाद निषेधरूप अर्थ अभिधावृत्ति के द्वारा नहीं निकल सकता क्योंकि नियम है कि अभिधा की क्रिया रुककर नहीं होती। कहा भी गया है कि 'जब अभिधा की शक्ति विशेषण में क्षीण हो जाती है तब वह विशेष्य का प्रत्यायन नहीं करा सकती'। इस कथन से सिद्ध होता है कि अभिधा का व्यापार रुक-रुक कर होना असंभव है।

यहाँ पर यह बात कही जा सकती है कि तात्पर्यवृत्ति का पर्यवसान भ्रमणविधि में नहीं होता। यहाँ पर शब्द कुछ ऐसे रूप में प्रयुक्त किये गये हैं कि उनसे भ्रमण का विधान हो

लोचनम्

नैतत्, त्रयो ह्यत्र व्यापाराः संवेद्यन्ते—पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधाव्यापारः, समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा। समयश्च तावत्येव, न विशेषांशे, आनन्त्याद्व्यभिचाराच्चैकस्य। ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते, 'सामान्यान्यन्यथासिद्धे विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्। तत्र च द्वितीयकक्ष्यायां 'भ्रमे' ति विध्यतिरिक्तं न किञ्चित्प्रतीयेत, अन्वयमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात्। नहि 'गङ्गायां घोषः' 'सिंहो वटुः' इत्यत्र यथान्वय एव बुभूषन् प्रतिहन्यते, योग्यताविरहात्, तथा तव भ्रमणनिषेद्धा स श्वा सिंहेन हतः तदिदानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद्भ्रमणं तवोचितमित्यन्वयस्य काचित् क्षतिः। अत एव मुख्यार्थबाधा नात्र शङ्क्येति न विपरीतलक्षणाया अवसरः।

(उत्तर) यह बात नहीं है। निस्सन्देह यहाँ पर तीन व्यापार प्रतीतिगोचर होते हैं—सामान्य आत्मावाले पदार्थों में अभिधा व्यापार, (क्योंकि) संकेत की अपेक्षा करते हुए अर्थावगमन की शक्ति को अभिधा कहते हैं। संकेत उतने ही अंश में होता है विशेष अंश में नहीं, क्योंकि उससे आनन्त्य दोष होगा और एक का व्यभिचार दोष भी होगा। इसके बाद विशेषरूप वाक्यार्थ में परस्परान्वित में तात्पर्यशक्ति होती है। क्योंकि यह न्याय है कि सामान्य अन्यथासिद्ध न होने के कारण विशेष का अवगमन कराते हैं। उसमें द्वितीय कक्षा में 'भ्रमण करो इस विधि के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होता। क्योंकि (द्वितीय कक्षा में) अन्वयमात्र की प्रतिपत्ति होती है। 'गंगा में घर' 'सिंह ब्रह्मचारी' इनमें जिस प्रकार अन्वय होते ही प्रतिहत कर दिया जाता है क्योंकि (शब्दों में अन्वित होने की) योग्यता नहीं है उसी प्रकार 'तुम्हारे भ्रमण का निषेध करने वाला वह कुत्ता सिंह के द्वारा मारा गया। इसलिये इस समय भ्रमण-निषेध का कारण न होने से तुम्हारा भ्रमण उचित है' इस अन्वय में कोई क्षति नहीं आती है। अतएव मुख्यार्थबाध की यहाँ पर शङ्का नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार यहाँ पर विपरीत लक्षणा का अवसर नहीं है।

तारावती

हो नहीं सकता। १—'धार्मिक' का अर्थ है 'तुम एक महात्मा व्यक्ति हो, तुममें इतनी शक्ति आई ही कहाँ से कि तुम शेर का सामना कर सको। २—उस 'उद्धतसिंह ने' में 'उस' सर्वनाम का अर्थ है कि सिंह के होने में कोई सन्देह नहीं है, उसका होना सर्वत्र प्रसिद्ध है और श्रुति-परम्परा से तुमने भी अवश्य सुना ही होगा। ३—उद्धत का अर्थ है वह सिंह ऐसा वैसा नहीं है, वह बड़ा ही भयानक है। इस प्रकार इन शब्दों के प्रयोग से भ्रमण विधान में विरोध उपस्थित होता है। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद में विपरीतलक्षणा से वाक्य का अर्थ ही निषेधपरक हो जाता है। अतएव निषेधपरक अर्थ शब्दशक्ति के द्वारा ही निकलता है। इसीलिये व्यवहार में यही कहा जाता है कि उसने ऐसा कहा। यह कोई नहीं कहता कि इसने ऐसा ध्वनित किया। अतएव वह अर्थ वाच्य ही है उससे भिन्न नहीं।

तारावती

—अभिहितान्वयवाद और उसमें व्यञ्जना की आवश्यकता—

उक्त मत की आलोचना करने के पहले तात्पर्य वृत्ति के विषय में संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इस विषय में दो मत हैं। एक है कुमारिलभट्ट के अनुयायियों का जिसको अभिहितान्वयवाद कहते हैं और दूसरा है प्रभाकर गुरु और उनके अनुयायियों का, जिसको अन्विताभिधानवाद कहते हैं। भट्ट सम्प्रदाय का सिद्धान्त इस प्रकार है :—

वाक्यार्थज्ञान तथा वाक्यार्थपूर्ति में तीन हेतु होते हैं—१. आकांक्षा—वाक्यार्थज्ञान के लिए दो शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध की आवश्यकता। इस आकांक्षा के विना दो शब्द एकवाक्य नहीं बना सकते। जैसे गाय घोड़ा आदमी हाथी इत्यादि शब्द एक वाक्य नहीं बन सकते क्योंकि इन शब्दों में परस्पर आकांक्षा नहीं है। २. योग्यता—शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध में बाध का न होना, जैसे 'आग से सींचता है' इन शब्दों का सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि इनमें मिलने की योग्यता नहीं है। ३. सन्निधि (निकटवर्तिता)—इसके अभाव में शब्दों में आपस में सम्बन्ध नहीं हो सकता। जैसे एक पहर के व्यवधान से कहे हुए दो शब्दों में आपस में अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि उनमें आपस में सन्निधि नहीं है।

इन तीनों हेतुओं के द्वारा जब कतिपय शब्द परस्पर अन्वित होकर एक विशिष्ट अर्थ को सम्पन्न किया करते हैं तब उस शब्दसमूह को वाक्य कहते हैं। उस वाक्य में दो प्रकार का अर्थ होता है—एक पदार्थ दूसरा वाक्यार्थ। पदार्थ की प्रतीति अभिधावृत्ति के द्वारा होती है और वाक्यार्थ की प्रतीति तात्पर्यवृत्ति के द्वारा। इसको इस प्रकार समझिये—अभिधा सामान्य रूप से सङ्केत ग्रहण के अधीन शब्दों के अर्थ का बोध कराती है। समस्त वाक्यों का सङ्केतग्रहण हो ही नहीं सकता। क्योंकि वाक्य अनन्त होते हैं, यदि वाक्य में शक्ति मानी जावेगी तो अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार अभिधावृत्ति से वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता क्योंकि उसमें आनन्त्य दोष होगा। यदि एक वाक्य में संकेतग्रहण से शक्ति मानी जावे और दूसरे वाक्यों में आये हुये उन शब्दों का बोध उसी आधार पर स्वीकार करें तो यह नियम जाता रहेगा कि जिसमें संकेत ग्रहण के कारण शक्तिग्रह होता है उसी का बोध भी हुआ करता है। यह व्यभिचार दोष होगा। उदाहरण के लिये 'गाय लाओ' और 'गाय ले जाओ' इन दोनों वाक्यों में पृथक्-पृथक् सङ्केत स्वीकार करने पर आनन्त्य दोष होगा। यदि केवल प्रथम वाक्यों में सङ्केत स्वीकार करें तो यह नियम जाता रहेगा कि जिसमें सङ्केतग्रहण होता है उसी के अर्थ का बोध हुआ करता है। यह व्यभिचार (नियमातिक्रमण) है। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि अभिधावृत्ति से केवल पदार्थबोध होता है। वाक्यार्थबोध अभिधावृत्ति के द्वारा नहीं हो सकता। इस प्रकार वाक्यार्थबोध के लिए तात्पर्य नामक पृथक् वृत्ति माननी पड़ेगी! जैसे 'गाय लाओ' इस वाक्य में 'गाय' का

लोचनम्

भवतु वासौ। तथापि द्वितीयस्थानसंक्रान्ता तावदसौ न भवति। तथाहि—मुख्यार्थबाधायां लक्षणायाः प्रक्लृप्तिः। बाधा च विरोधप्रतीतिरेव। नचात्र पदार्थानां स्वात्मनि विरोधः। परस्परं विरोध इतिचेत्—सोऽयं तर्ह्यन्वये विरोधः प्रत्येयः। न चाप्रतिपन्नेऽन्वये विरोधप्रतीतिः, प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थप्रतिपत्त्युपक्षीणाया विरम्याव्यापारात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वयप्रतिपत्तिः।

अथवा यह हो भी। तथापि द्वितीय स्थान में यह संक्रान्त नहीं हो सकता। वह इस प्रकार—मुख्यार्थबाध में लक्षणा की कल्पना की जाती है। विरोध की प्रतीति का होना ही बाधा है। पदार्थों का अपनी आत्मा में विरोध नहीं होता। यदि कहो कि एक दूसरे से विरोध होता है—तो यह विरोध अन्वय में ही समझा जाना चाहिये। जबतक अन्वय प्रतिपन्न न हो जावे तब तक विरोध की प्रतीति हो ही नहीं सकती। अन्वय की प्रतीति अभिधाशक्ति से नहीं हो सकती क्योंकि पदार्थप्रतिपत्ति में उपक्षीण उस (अभिधा) का रुककर व्यापार (दुबारा कार्य) नहीं हो सकता। इस प्रकार तात्पर्यशक्ति से ही अन्वय की प्रतिपत्ति (होती है)।

तारावती

अर्थ है 'गाय' और 'लाओ' का अर्थ है आनयनानुकूल व्यापार की विधि। गाय में आनयनानुकूलव्यापारनिरूपितकर्मत्व किसी शब्द का अर्थ नहीं। अतएव उसी को वाक्यार्थ कहते हैं और उसकी प्रतीति तात्पर्यवृत्ति से होती है। वह तात्पर्य पदसान्निध्य रूप प्रत्यायन वाक्य का अर्थ ही होता है। कहा भी गया है—'जब विशेष अर्थ दूसरी प्रकार से सिद्ध नहीं होता तब सामान्य अर्थ ही विशेष में कारण हो जाता है। इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों के मत में अभिधा और तात्पर्य ये दो वृत्तियाँ वाक्यार्थ में कारण होती हैं। वाक्यार्थ के पर्यवसित हो जाने पर एक तीसरी वृत्ति और मानी जाती है और वह है लक्षणा। वाक्यार्थबोध के बाद जब तात्पर्यानुपपत्ति के कारण वाच्यार्थ का बाध हो जाता है तब उससे सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा अर्थ ले लिया जाता है। इस तीसरी कोटि को लक्षणा कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिहितान्वयवाद में तीन कोटियाँ होती हैं—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा। अभिधा से पदार्थबोध होता है, तात्पर्यवृत्ति से अन्वयरूप वाक्यार्थबोध होता है। पद से अभिधा द्वारा पदार्थोपस्थिति तो सर्वत्र होती है किन्तु तात्पर्यवृत्ति का वहीं पर अवसर होता है जहाँ वाक्यार्थबोध के आकांक्षा इत्यादि कारण उपस्थित हों कुछ ऐसे भी वाक्य होते हैं जहाँ पदार्थोपस्थिति हो जाती है किन्तु जैसे ही तात्पर्यवृत्ति से अन्वयार्थ बोध होने लगता है वैसे ही वाक्यार्थबोध के कारणों के अभाव में वह वृत्ति वहीं पर समाप्त हो जाती है और यदि लक्षणा के कारण उपस्थित हों तो लक्षणा का समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिये 'गङ्गा में घर 'बालक सिंह' इत्यादि वाक्यों में

लोचनम्

नन्वेवम् 'अङ्गुल्यग्रे कविवरशतम्' इत्यत्राप्यन्वयप्रतीतिः स्यात्। किं न भवत्यन्वयप्रतीतिः दशदाडिमादिवाक्यवत्, किन्तु प्रमाणान्तरेण सोऽन्वयः प्रत्यक्षादिना बाधितः प्रतिपन्नोऽपि शुक्तिकायां रजतमिवेति तदवगमकारिणो वाक्यस्याप्रामाण्यम्। 'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकोल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता ताव तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति।

(पूर्वपक्ष) निस्सन्देह इस प्रकार तो 'अंगुली के अग्रभाग में १०० श्रेष्ठ कवि हैं' यहाँ पर भी अन्वयप्रतीति हो जावेगी। (उ० प०) क्या अन्वय प्रतीति नहीं होती ? जिस प्रकार दशदाडिमानि षडपूपा इत्यादि (अनन्वित) वाक्य में नहीं हुआ करती है। किन्तु प्रतिपन्न हुआ भी वह अन्वय 'शुक्ति में रजत' के समान दूसरे प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों से बाधित हो जाता है अतः उसके अवगम करानेवाले वाक्य की प्रामाणिकता जाती रहती है। 'सिंहो वालकः' में द्वितीय कक्ष्या में निविष्ट तात्पर्यशक्ति के द्वारा समर्पित अन्वय के बाध के उल्लसित होनेपर (प्रतीति गोचर होनेपर) बाद में अभिधा तथा तात्पर्य इन दोनों शक्तियों से व्यतिरिक्त लक्षणा नाम की तृतीयशक्ति ही, जो कि बाधक को व्यर्थ बनाने में निपुण है, समुल्लसित हो जाती है।

तारावती

'गङ्गा' 'घर' 'बालक' 'सिंह' इन सभी शब्दों का अर्थ उपस्थित होता है। किन्तु जब तात्पर्यवृत्ति से इन्हें मिलाने लगते हैं तब तत्काल ज्ञात हो जाता है कि इनमें योग्यता का अभाव है। ऐसे स्थानों पर अन्वय होते होते प्रतिहत हो जाता है। किन्तु यह बात 'तुम्हारे भ्रमण में विघ्न डालनेवाले कुत्ते को शेर ने मार डाला। अतएव भ्रमण-निषेधक कारण के अभाव में तुम्हारा भ्रमण उचित है !' इस वाक्य में नहीं होती। यहाँ पर शब्दों में मिलने की योग्यता का अभाव नहीं है। अतएव यहाँ पर न तो मुख्यार्थबाध होता है और न विपरीतलक्षणा की आशंका की जा सकती है।

अथवा किसी न किसी प्रकार बाध स्वीकार भी कर लिया जावे तथापि निषेधपरक अर्थ द्वितीय कोटि (तात्पर्यवृत्ति) गम्य नहीं हो सकता। इसको इस प्रकार समझिये—लक्षणा की कल्पना वहीं पर की जा सकती है जहाँ मुख्यार्थबाध हो। बाध वहीं पर होता है जहाँ विरोध की प्रतीति हो। यह प्रतीति दो प्रकार को हो सकती है–शब्दों की अन्तरात्मा का विरोध तथा अन्वय का विरोध। प्रस्तुत वाक्य 'कुत्ता सिंह द्वारा मारा गया, तुम स्वच्छन्द भ्रमण करो' में शब्दों का अन्तरात्मा विरुद्ध नहीं है, इसमें तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता। अतएव अन्वय में ही विरोध मानना पड़ेगा। अन्वय में विरोध की प्रतीति तब तक नहीं हो सकती जब तक अन्वय प्रतिपन्न न हो जावे। अन्वय की प्रतिपत्ति अभिधावृत्ति से हो ही

लोचनम्

नन्वेवं 'सिंहो वटुः' इत्यत्रापि काव्यरूपता स्यात्, ध्वननलक्षणस्यात्मनोऽत्रापि समनन्तरं वक्ष्यमाणतयाभावात्। ननु घटेऽपि जीवव्यवहारः स्यात्,

(पू० प०) इस प्रकार तो निस्सन्देह 'सिंह-ब्रह्मचारी' में भी काव्यरूपता आ जावेगी। क्योंकि अभी शीघ्र ही कही जानेवाली ध्वननरूप आत्मा की सत्ता तो वहाँ पर विद्यमान है ही। (उ० प०) निस्सन्देह घड़े में भी जीव का व्यवहार होने लगेगा, क्योंकि व्यापक होने

तारावती

नहीं सकती क्योंकि अभिधावृत्ति पदार्थोपस्थापन में ही प्रक्षीण हो जाती है और उसकी क्रिया रुक रुक कर हो ही नहीं सकती। अतएव तात्पर्यवृत्ति से ही अन्वय की प्रतिपत्ति माननी होगी। आशय यह है कि लक्षणास्थल में भी 'बालक सिंह है' इत्यादि वाक्यों में आकांक्षा तात्पर्य से ही सिंह और बालक के मुख्यार्थ का अन्वय हो सकता है, जिसका स्वरूप है सिंहों और बालक के तादात्म्य की प्रतीति। इस अन्वय के प्रतिपन्न हो जाने पर ही विरोध की प्रतीति होती है।

(प्रश्न) बाधित स्थान में भी अन्वय अङ्गीकार करने पर 'अङ्गुलि के अग्रभाग में सौ श्रेष्ठ कवि विद्यमान हैं' इस वाक्य में भी अन्वय को प्रतीति माननी पड़ेगी। (उत्तर) जब साकांक्षता और पदार्थोपस्थिति विद्यमान है तब अन्वय के प्रतीत न होने का क्या कारण है? निराकांक्ष पदों में अन्वय की प्रतीति नहीं होती, जैसे महाभाष्य के निम्नलिखित उदाहरण में अन्वय प्रतिपन्न नहीं होता :—

'दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डम्, अजाजिनम्, पललपिण्डः, अधरोरुकम्, एतत्कुमार्याः, स्फैय्यकृतस्य पिता प्रतिशीन इति।'

जिस प्रकार महाभाष्य के इस उदाहरण में निराकांक्ष पदों का सङ्कलन मात्र होने से अन्वय प्रतिपन्न नहीं होता वैसा पदसङ्कलन प्रस्तुत स्थान पर नहीं है। अतएव अन्वय तो प्रतिपन्न हो ही जावेगा। किन्तु उस अन्वय के प्रतिपन्न होने पर भी प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों से उसका उसी प्रकार बाध हो जाता है जिसप्रकार शुक्ति में रजतज्ञान का बाध हुआ करता है। अतएव उसका अवगम करानेवाला वाक्य अप्रामाणिक हो जाता है। (प्रश्न) यदि एसा है तो फिर 'बालक शेर है' यह वाक्य भी अप्रामाणिक हो जावेगा? (उत्तर) 'बालक शेर है' इस वाक्य में पहले पदार्थोपस्थिति होती है फिर द्वितीय कक्षा में तात्पर्यवृत्ति से अन्वय का बोध हो जाता है, फिर अन्वय की बाधकता सामने आती है। इसके बाद उस बाधकता को व्यर्थ करने में समर्थ लक्षणा नाम की एक तीसरी वृत्ति स्फुरित होने लगती है जो उक्त वाक्य की अप्रामाणिकता का निराकरण कर देती है।

(प्रश्न) प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन की प्रतिपत्ति के लिए व्यञ्जना वृत्ति तो आप मानते ही हैं। 'बालक सिंह है' इस वाक्य में भी बालक के शौर्याधिक रूप प्रयोजन की

लोचनम्

आत्मनो विभुत्वेन तत्रापि भावात्। शरीरस्य खलु विशिष्टाधिष्ठानयुक्तस्य सत्यात्मनि जीवव्यवहारः न यस्य कस्यचिदितिचेत् गुणालङ्कारौचित्यसुन्दर-शब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि काव्यरूपताव्यवहारः। नचात्मनोऽसारता काचिदिति च समानम्। न चैवं भक्तिरेव ध्वनिः, भक्तिर्हि लक्षणा व्यापार-स्तृतीयकक्ष्यानिवेशी। चतुर्थ्यां तु कक्ष्यायां ध्वननव्यापारः। तथाहि त्रितय-सन्निधौ लक्षणा प्रवर्तत इति तावद्भवन्त एव वदन्ति। तत्र मुख्यार्थबाधा तावत् प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरमूला। निमित्त च यदभिधीयते सामीप्यादि तदपि प्रमाणान्तरगम्यमेव।

के कारण आत्मा की सत्ता तो वहाँपर भी है ही। यदि कहो कि विशेष प्रकार के अधिष्ठान से युक्त शरीर के आत्मा होनेपर ही जीवका व्यवहार होता है जिस किसी के लिये नहीं होता तो (काव्य के विषय में भी) गुण और अलङ्कार के औचित्य से सुन्दर प्रतीत होनेवाले शब्द-अर्थरूप शरीर के ध्वनन नामक आत्मतत्त्व के होने पर ही काव्यरूपता का व्यवहार होता है। (इससे) आत्मा की कोई असारता नहीं होती यह दोनों ओर समान है। इस प्रकार भक्ति ही ध्वनि है यह नहीं कहा जा सकता (क्योंकि) निस्सन्देह भक्ति लक्षणा-व्यापार को कहते हैं जो तृतीय कक्ष्या में निविष्ट होनेवाला है; ध्वननव्यापार चौथी कक्ष्या में होता है। वह इसप्रकार-तीन के निकट होने पर लक्षणा प्रवृत्त होती है यह तो आप ही कहते हैं। उसमें मुख्यार्थबाध तो प्रत्यक्ष इत्यादि दूसरे प्रमाणों को ही मूल मान कर चलता है। सामीप्य इत्यादि जो निमित्त बतलाये जाते हैं वे भी दूसरे प्रमाणों से ही अवगत किये जाने योग्य होते हैं।

तारावती

प्रतिपत्ति व्यञ्जनावृत्ति से ही होती है। अतएव ध्वनन रूप आत्मा की सत्ता में यह वाक्य भी काव्य क्यों नहीं माना जाता?

(उत्तर) आत्मा भी तो व्यापक है। अतएव वह घट में भी विद्यमान है, फिर घट में जीवव्यवहार क्यों नहीं होता? जैसे घट में जीवव्यवहार नहीं होता उसी प्रकार "बालक सिंह है" इस वाक्य में ध्वनन व्यापार के होते हुए भी काव्य-व्यवहार नहीं होता। सम्भवतः आप इसका उत्तर यह दें कि जीव का व्यवहार वहीं पर होता है जहाँ पर कर-चरण इत्यादि विशिष्ट अवयवों का संयोग हो। इसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि जहाँ पर गुणों और अलंकारों के औचित्य के साथ काव्य का सुन्दर शब्द और अर्थरूपी शरीर विद्यमान होता है, साथ ही ध्वननव्यापाररूपी काव्य की आत्मा भी विद्यमान होती है वहीं पर काव्य का व्यवहार होता है। इस दृष्टान्त से इस आक्षेप का भी उत्तर हो जाता है कि यदि ध्वनन को काव्य की आत्मा माना जावेगा तो 'बालक सिंह है' इत्यादि स्थानों पर ध्वनि की

तारावती

सत्ता और काव्यत्व के अभाव में आत्मा की असारता सिद्ध हो जावेगी। जिस प्रकार घट में व्यापक आत्मा के होते हुए भी चेतनाशून्यता के कारण आत्मा की असारता नहीं मानी जाती उसी प्रकार उक्त स्थल पर भी ध्वननव्यापार के होते हुए भी काव्य के अभाव के कारण आत्मा की असारता नहीं मानी जा सकती।

अब विचार करना है कि तृतीय कोटि लक्षणा में ध्वनि का अन्तर्भाव हो सकता है या नहीं? इस प्रश्न का संक्षेप में उत्तर यही है कि भक्ति या लक्षणाव्यापार तृतीय कक्ष्या में सन्निविष्ट हो जाता है और ध्वननव्यापार चतुर्थी कक्ष्या में होता है। अतएव ध्वननव्यापार और लक्षणा एक ही नहीं हो सकते। इसको इस प्रकार समझिये–सभी लक्षणावादी इस बात को स्वीकार करते ही हैं कि लक्षणा में तीन बातें मुख्य रूप से होनी चाहिये—(१) मुख्यार्थबाध (२) मुख्यार्थसम्बन्ध और (३) रूढिप्रयोजनन्यतर। उदाहरण के लिए कोई कहे कि 'मैं गंगा में झोपड़ी डालकर रहूँगा'। यहाँ पर गङ्गा शब्द का अर्थ है प्रवाह। प्रवाह में झोपड़ी डाली ही नहीं जा सकती, अतः मुख्यार्थबाध हो जाता है। मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा अर्थ तट ले लिया जाता है और पूरे वाक्य का अर्थ हो जाता है—'मैं गंगा के तट पर झोपड़ी डालकर रहूँगा।' गङ्गातट शब्द के स्थान पर गंगा शब्द के प्रयोग करने से गंगागत शीतलत्व पावनत्व और सेवनीयत्व की प्रतीति होती है। इस प्रकार इस पूरे वाक्य का अर्थ होगा—'मैं गंगा के तट पर झोपड़ी डालकर रहूँगा जो बड़ा ही शीतल, बड़ा ही पवित्र और अपने गुणों के कारण सर्वथा सेवन के योग्य है तथा जहाँ संसार के झन्झट बिल्कुल नहीं हैं। यहाँ पर शीतलत्व पावनत्व की प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है क्योंकि यह अर्थ गंगातट शब्द से नहीं निकल सकता।

अब यहाँ पर देखना यह है कि ये तीनों शर्तें पूरी किस प्रकार होती हैं तथा इनमें क्या क्या प्रमाण हैं? लक्षणा की पहली शर्त है मुख्यार्थबाध, यह तो प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों पर ही आधारित होती है। उदाहरण के लिए गंगा के प्रवाह में झोपड़ी बनसकना प्रत्यक्षतः बाधित है। दूसरी शर्त है शक्यार्थसम्बन्ध। ये सम्बन्ध सामीप्य सादृश्य इत्यादि कई प्रकार के हो सकते हैं। ये सामीप्य इत्यादि सम्बन्ध भी प्रत्यक्षादि किसी दूसरे प्रमाण से ही सिद्ध हो जाते हैं।

प्रयोजनवती लक्षणा की तीसरी शर्त है प्रयोजन की प्रतिपत्ति। उदाहरण के लिये 'गङ्गा में झोपड़ी' इस वाक्य में झोपड़ी की अत्यन्त पवित्रता अत्यन्त शीतलता तथा अत्यन्त सेवनीयता तथा 'बालक सिंह है' इस वाक्य में बालक के पराक्रम का आधिक्य, इन प्रयोजनों की प्रतिपत्ति होती है। आप यह नहीं कह सकते कि इन प्रयोजनों की प्रतिपत्ति शब्द-व्यापार पर आधारित नहीं है। क्योंकि इन प्रयोजनों की प्रतिपत्ति में यदि शब्दव्यापार कारण

लोचनम्

यत्त्विदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तरवाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नम्, वटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः। तथा हि—तत्सामीप्यात्तद्धर्मत्वानुमानमनैकान्तिकम्, सिंहशब्द-वाच्यत्वं च वटोरसिद्धम्। अथ यत्र यत्रैवंशब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धर्मयोग

जो यह घोष की अत्यन्त पवित्रता, शीतलता, सेव्यता इत्यादि दूसरे शब्दों से न कहा जानेयोग्य और दूसरे प्रमाणों से प्रतिपन्न न होनेवाला प्रयोजन है अथवा 'वटु' की अत्यन्त पराक्रमशीलता है, उसमें शब्द का कोई व्यापार नहीं होता, ऐसा नहीं कहा जासकता। वह इसप्रकार-उसके समोप होने से उसके धर्मत्व का अनुमान अनैकान्तिक (हेत्वाभास से युक्त) है। वटु का सिंहशब्दवाच्यत्व असिद्ध है। अब यदि अनुमान (व्याप्ति) का रूप यह बनाते हो कि जहाँ-जहाँ इस प्रकार के शब्द का प्रयोग होता है वहाँ-वहाँ उसके धर्म का

तारावती

नहीं है तो या तो अनुमान कारण हो सकता है या स्मृति कारण हो सकती है। अनुमान की प्रक्रिया यह होगी—'तट, गङ्गागत अत्यन्त पवित्रत्वादि गुणोंवाला है, क्योंकि गङ्गा के समोप है, जैसे मुनिजन इत्यादि।' यहाँ पर व्याप्ति यह होगी—'जो गंगा के निकट होता है वह पवित्र होता है। जैसे मुनिजन गंगा के निकट होने से पवित्र होते हैं।' किन्तु यह व्याप्ति अव्याप्त है, क्योंकि गंगा के निकट खोपड़ी हड्डी इत्यादि भी पड़ी रहती हैं किन्तु वे पवित्र नहीं मानी जा सकतीं। अतएव हेतु में अनैकान्तिकता आ जाती है जिससे साध्यसिद्धि में सव्य-भिचार हेत्वाभास उपस्थित होकर उसे अप्रामाणिक बना देता है। इसी प्रकार 'ब्रह्मचारी शेर है' इस वाक्य में शेर की वीरता के प्रत्यायन के लिए हमें अनुमान की यह प्रक्रिया अप-नानी पड़ेगी—'वटु सिंहधर्मवाला है, क्योंकि सिंहशब्दवाच्य है, जो जो सिंहशब्दवाच्य होते हैं वे वे सिंहधर्मवाले भी होते हैं जैसे वास्तविक सिंह, उसी प्रकार ब्रह्मचारी भी है अतएव वह भी सिंहधर्मवाला है।' इस अनुमान की प्रक्रिया में स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। वटु पक्ष है और सिंहशब्दवाच्यता हेतु है। अनुमान की प्रक्रिया में यह अनिवार्य नियम है कि हेतु का पक्ष में रहना प्रत्यक्ष इत्यादि दूसरे प्रमाणों से सिद्ध होना चाहिये। किन्तु यहाँ पर ब्रह्मचारी का सिंहशब्दवाच्य होना प्रत्यक्ष रूप में असिद्ध हो जाता है। अतएव यह अनुमान ठीक नहीं कहा जा सकता। इन दोनों स्थानों के लिए अनुमान की एक दूसरी प्रक्रिया भी हो सकती है—एक इस प्रकार की व्याप्ति बनाई जावे जहाँ पर लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वहाँ उनके धर्म का योग अवश्य हो जाता है। इस व्याप्ति से साध्यसिद्धि हो सकती है किन्तु व्याप्तिग्रह के लिए कोई दूसरा प्रमाण बतलाना पड़ेगा। क्योंकि बार-बार किन्हीं विशेष उदाहरणों को देखकर ही व्याप्तिग्रह होता है। जब यहाँ पर कोई प्रमाण ही नहीं तब न तो व्याप्तिग्रह हो सकेगा और न साध्यसिद्धि ही होगी। इस प्रकार प्रयोजन

लोचनम्

इत्यनुमानम्, तस्यापि व्याप्तिग्रहकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम्, न चास्ति। न च स्मृतिरियम्, अननुभूते तदयोगात्, नियमाप्रतिपत्तेर्वक्तुरेतद्विवक्षितमित्यध्यवसायाभावप्रसङ्गाच्चेत्यस्ति तावदत्र शब्दस्यैव व्यापारः। व्यापारश्च नाभिधात्मा समयाभावात्। न तात्पर्यात्मा तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयाद्। न लक्षणात्मा उक्तादेव हेतोः स्खलितगतित्वाभावात्। तत्रापि हि स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधा निमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात्। अत एव यत् केनचिल्लक्षितलक्षणेति नाम कृतं तद्व्यसनमात्रम्। तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः। यद्वक्ष्यति—

योग हो जाता है उसके भी व्याप्तिग्रहण-काल में कोई दूसरा मौलिक प्रमाण कहना चाहिये, वह है नहीं। यह स्मृति भी नहीं है। क्योंकि जिसका अनुभव नहीं किया उसमें वह हो ही नहीं सकती तथा किसी नियम के प्रतिपन्न न होने के कारण वक्ता की विवक्षा इसी अर्थ में है इस अध्यवसाय (निश्चय) का अभाव भी प्रसक्त हो जावेगा। अतः यहाँ पर शब्द का ही व्यापार (मानना पड़ेगा)। अभिधानामक व्यापार हो नहीं सकता, क्योंकि अन्वयप्रतीति में ही उसका परिक्षय हो जाता है। लक्षणात्मक भी नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त हेतुओं से ही शब्द के स्खलद्गति न होने के कारण अर्थात् बाध न होने के कारण। उसके भी स्खलद्गति मानने पर फिर मुख्यार्थबाध निमित्त तथा प्रयोजन इस प्रकार अनवस्था हो जावेगी। अतएव जो किसी ने लक्षितलक्षणा यह नामकरण किया था वह व्यसनमात्र है। अतएव अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से व्यतिरिक्त यह चौथा व्यापार समझा जाना चाहिये जो ध्वनन, द्योतन, व्यञ्जन, प्रत्यायन, अवगमन इत्यादि सहोदरों (पर्यायवाचक शब्दों) के नाम के द्वारा निरूपित किया गया है। जैसा कि कहेंगे :—

तारावती

की प्रतिपत्ति अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकती। अब स्मृति को लीजिये—स्मृति उसी की होती है जिसका पहले अनुभव किया जा चुका है। यहाँ पर कोई नियामक कभी नहीं है कि शब्दप्रयोग से उसके धर्म की स्मृति हो जाती है। दूसरी बात यह है कि धर्म तो बहुत से होते हैं उनमें यह कैसे निश्चय किया जावेगा कि अमुक स्थल पर अमुक धर्म का ही स्मरण होगा? इस प्रकार प्रयोजन की प्रतिपत्ति न तो अनुमानगम्य हो सकती है और न स्मृतिगम्य। अतः मानना ही पड़ेगा कि शब्द का ही कोई व्यापार यहाँ पर कारण होता है जिससे प्रयोजनप्रतिपत्ति हो जाती है।

शब्द के अपने केवल तीन ही व्यापार माने गये हैं—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा। अभिधावृत्ति से प्रयोजन की प्रतिपत्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि अभिधा वहीं पर होती है

तारावती

जहाँ पर संकेतग्रहण हो चुका हो। शीतलता पावनता इत्यादि धर्मों में संकेतग्रहण हुआ ही नहीं है। अतएव ये धर्म अभिधावृत्तिगम्य नहीं हो सकते। तात्पर्यवृत्ति से भी काम नहीं चल सकता। क्योंकि उसका कार्य अन्वयप्रतीतिकाल में ही समाप्त हो जाता है। अब हमें यह देखना है कि प्रयोजनप्रतिपत्ति लक्षणा से हो सकती है या नहीं? लक्षणा के लिए ३ शर्तों का पूरा होना अनिवार्य है—शक्यार्थबाध, शक्यार्थसम्बन्ध और रूढिप्रयोजनान्यतर। जिस प्रकार झोपड़ी के साथ अन्वय होने पर प्रवाह अर्थ बाधित हो जाता है उसी प्रकार यदि 'गंगातट पर झोपड़ी' यह अर्थ भी बाधित हो जावे तो लक्षणा का अवसर हो सकता है। किन्तु लक्ष्यार्थ में इस प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अतएव लक्षणा की पहली शर्त समाप्त हो गई। लक्षणा की दूसरी शर्त है शक्यार्थसम्बन्ध। एक तो तट शक्यार्थ ही नहीं है दूसरे उसका शीतत्व इत्यादि से लक्षणा के लिये परिगणित सम्बन्धों में कोई सम्बन्ध भी नहीं है। इस प्रकार दूसरी शर्त भी पूरी नहीं हुई। तीसरी शर्त है रूढिप्रयोजनान्यतरत्व। रूढि तो यहाँ पर है ही नहीं। प्रयोजन भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिए दूसरा प्रयोजन माना जावेगा तो उस दूसरे प्रयोजन का भी कोई दूसरा प्रयोजन मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जावेगा जो मूल को ही नष्ट करनेवाला होगा। अतएव यहाँ पर कोई दूसरा प्रयोजन भी नहीं माना जा सकता। [काव्यप्रकाशकार ने यहाँ पर एक सम्भावना और बतलाई है—उन्होंने लिखा है कि 'प्रयोजनविशिष्ट लक्ष्यार्थ' में ही लक्षणा मानी जा सकती है। इस सम्भावना का उन्होंने यह कहकर खण्डन किया है कि लक्ष्यार्थ तो लक्षणा का विषय है और प्रयोजन उसका फल है। विषय और फल ये दोनों कभी एक हो ही नहीं सकते। उदाहरण के लिये ज्ञान का विषय और होता है तथा फल और। जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होता है घट और इसके फल के विषय में दो मत हैं—प्रथम मत है मीमांसकों का जो यह मानते हैं कि प्रत्यक्षज्ञान का फल है किसी वस्तु का प्रकट हो जाना। घटज्ञान के बाद 'घड़ा जान लिया गया' इस प्रत्यय के कारण घट में जो ज्ञातता अथवा प्रकटता उत्पन्न हो जाती है वही प्रत्यक्षज्ञान का फल है। मीमांसक लोग ज्ञेयधर्म ज्ञातता या प्रकटता को ही ज्ञान का फल मानते हैं। दूसरा मत है नैय्यायिकों का जिनका मत है कि 'मैं घटको जानता हूँ' इस प्रकार के प्रत्यय से जो अनुव्यवसाय या संवित्ति होती है वही प्रत्यक्षज्ञान का फल है। इस प्रकार नैय्यायिक लोग ज्ञातृधर्म को ज्ञान का फल बतलाते हैं। जिस प्रकार प्रत्यक्ष के विषय और उसके फल दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं उसीप्रकार लक्षणाजन्य ज्ञान में भी उसके विषय तट की अपेक्षा उसके फल शीतत्व-पावनत्व इत्यादि में भेद अवश्य होना चाहिये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार गङ्गाशब्द से लक्षणावृत्तिके द्वारा तट की अवगति हो जाती है उसी प्रकार लक्षणा से ही प्रयोजन की अवगति किसी प्रकार नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें लक्षणा की कोई शर्त मिलती ही नहीं। अतएव जो लोग यह कहते हैं कि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिए होनेवाली लक्षणा

लोचनम्

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ इति ॥

तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः । तदन्यथानुपपत्ति-सहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः । मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभा-सनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः । तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवि-त्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः, स च प्राग्वृत्तं व्यापारत्रयं न्यक्कुर्वन् प्रधानभूतः काव्यात्मेत्याशयेन निषेधप्रमुखतया च प्रयोजनविषयोऽपि निषेधविषय इत्युक्तम् । अभ्युपगममात्रेण चैतदुक्तम् । न त्वत्र लक्षणा, अत्यन्ततिरस्कारान्यसंक्रमणयोरभावात् । नह्यर्थशक्तिमूलेऽस्याः व्यापारः । सहकारिभेदाच्च शक्तिभेदः स्पष्ट एव, यथा तस्यैव शब्दस्य व्याप्तिस्मृत्यादि-सहकृतस्य विवक्षावगतावनुमापकत्वव्यापारः । एवमभिहितान्वयवादिनामि-दमनपह्नवनीयम् ।

'जिस फल के उद्देश्य से मुख्यवृत्ति का परित्याग कर गुणवृत्ति से अर्थदर्शन किया जाता है उसमें शब्द की गति स्खलित नहीं होती ।

इससे सङ्केत की अपेक्षा करते हुए वाच्य के अवगमन की शक्ति को अभिधाशक्ति कहते हैं । मुख्यार्थबाध इत्यादि सहकारियों की अपेक्षा करते हुये अर्थ के प्रतिपादन की शक्ति लक्षणाशक्ति (होती है ।) उन तीनों शक्तियों से उत्पन्न अर्थावगमन रूप मूल से उत्पन्न (तथा) उस (अभिधेय इत्यादि अर्थ) के प्रतिभास अर्थात् निरन्तर प्रतीति से पवित्र की हुई (अर्थात् संस्कारनामक अतिशयता से सम्पादित की हुई) परिशीलक (सहृदय) की प्रतिभा की सहायता से अर्थद्योतन की शक्ति को ध्वननव्यापार कहते हैं और वह पहले सम्पन्न हुये तीनों व्यापारों को दबाकर प्रधान होकर काव्य की आत्मा हुआ करता है । इस आशय से प्रयोजन विषय होते हुये भी निषेधमुख से प्रवृत्त होने के कारण निषेधविषय होता है यह कहा गया है । यह बात (विरोधी के असत्य पक्ष की) स्वीकृति मात्र के द्वारा कही गई है । वस्तुतः यहाँ पर लक्षणा होती ही नहीं क्योंकि यहाँ पर न तो वाच्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार होता है और न अन्यसंक्रमण ही होता है । इस (लक्षणा) का व्यापार अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि में नहीं होता । सहकारी के भेद से शक्तिभेद स्पष्ट ही है, जैसे व्याप्ति स्मृति इत्यादि से सहकृत उसी शब्द की विवक्षा की अवगति में अनुमापकत्व व्यापार माना जाता है—अक्ष (इन्द्रिय) इत्यादि से सहकृत (उसी शब्द का) सविकल्पकत्व इत्यादि व्यापार माना जाता है । इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों के दृष्टिकोण से इसका निराकरण नहीं हो सकता ।

तारावती

लक्षितलक्षणा कही जाती है, यह उनका व्यञ्जना को खण्डन करने के लिए दुराग्रहमात्र है, उसमें सार कुछ भी नहीं। इससे सिद्ध होता है कि प्रयोजन प्रतिपत्ति न तो अनुमान से हो सकती है न स्मृति से और न अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीनों वृत्तियों में किसी से उसका बोध हो सकता है। अतएव उक्त तीनों वृत्तियों से भिन्न एक चौथी वृत्ति या शब्दव्यापार अवश्य मानना पड़ेगा फिर आप उसे ध्वनन, द्योतन, व्यञ्जन, प्रत्यायन, अवगमन इत्यादि पर्यायों में चाहे जो कोई नाम दे सकते हैं। लक्षणा के द्वारा प्रयोजन की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती यह बात आगे चलकर 'मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य' इस कारिका की व्याख्या के अवसर पर अधिक विशद रूप में समझाई जावेगी।

इसप्रकार शब्द की चार वृत्तियाँ सिद्ध हुईं—(१) वाच्यार्थ का अवगमन करानेवाली सङ्केतसापेक्षिणी वृत्ति अभिधा कहलाती है। (२) अभिधा के द्वारा सङ्केतित अर्थ के प्रकट कर दिये जाने के बाद अन्वयरूप कुछ ऐसा अंश शेष अवश्य रह जाता है जो कि अभिधा के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव वाक्यार्थपूर्ति में सहायक होकर जो वृत्ति अर्थबोध में कारण होती है उसे तात्पर्यवृत्ति कहते हैं। (३) शक्यार्थबाध, शक्यार्थसम्बन्ध और रूढि-प्रयोजनान्यतर इन तीन सहकारियों की अपेक्षा करते हुये जो शक्ति दूसरे सम्बन्धित अर्थ का बोध कराती है वह लक्षणा कही जाती है। (४) अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीन वृत्तियों से जिस अर्थ का अवबोध होता है उसी से एक अन्य भी अर्थ स्फुटित होने लगता है जिसके बार-बार अनुसन्धान से परिशीलन करनेवालों की प्रतिभा पवित्र हो जाती है। इस प्रकार प्रतिभा को पवित्र करने में समर्थवृत्ति ध्वनन या व्यञ्जन व्यापार के नाम से अभिहित की जाती है। जब यह वृत्ति शेष तीनों वृत्तियों को दबाकर प्रधान पदपर आसीन हो जाती है तब उसे ध्वनि कहते हैं। यही ध्वनि काव्य की आत्मा है। (प्रश्न) ऊपर लक्षणा का जो विवेचन किया गया है उससे सिद्ध होता है कि 'भ्रमधार्मिक......सिहेन' में भ्रमण का निषेध लक्ष्यार्थ है और संकेतस्थान की रक्षा इत्यादि उस लक्षणा के प्रयोजन हैं जिनका अवगम व्यञ्जना से होता है। फिर आलोककार ने यह कैसे लिख दिया कि प्रतिषेधरूप अर्थ व्यञ्जना-व्यापारगम्य है ? (उत्तर) निषेध अर्थ प्रमुख है और उसी के द्वारा संकेतस्थान की सुरक्षा व्यक्त होती है। इसीलिये निषेध अर्थ का होना कह दिया गया है। यह उत्तर तो इस बात को मान कर दिया गया है कि प्रस्तुत स्थान पर लक्षणा होती है। वस्तुतः यहाँ पर लक्षणा होती ही नहीं, क्योंकि लक्षणा के हेतु यहाँ पर मिलते ही नहीं। न तो शक्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार होता है और न उसका अन्य अर्थ में संक्रमण ही होता है। यहाँ पर अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि है जिसमें लक्षणा मानी ही नहीं जा सकती। दूसरी बात यह है कि सभी प्रकार के ज्ञानों में कुछ सहकारी कारण अवश्य अपेक्षित होते हैं। उदाहरण के लिये प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। इन दोनों प्रकार के प्रत्यक्षज्ञानों में

तारावती

सहकारी हेतु होते हैं इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, जिनके वैशेषिक दर्शन में ६ भेद किये गये हैं। इसी प्रकार अनुमिति में भी व्याप्ति, स्मृति तथा पक्षधर्मता का ज्ञान और परामर्श कारण होते हैं। जो लोग शब्दशक्ति को भी अनुमानगम्य मानते हैं उनके मत में अर्थबोधन के लिये प्रयुक्त शब्द में व्याप्ति स्मृति इत्यादि के सहकार से ही अनुमापकत्व का व्यवहार होता है। अनुमान की प्रक्रिया यह होगी-वक्ता यह बात कहना चाहता है, क्योंकि उसने इस शब्द का प्रयोग किया है; जहाँ-जहाँ पर इस शब्द का प्रयोग होता है वहाँ यह अर्थ अभीष्ट होता है। जैसे अमुक स्थान पर इस शब्द का प्रयोग किया गया था वहाँ पर यही अर्थ अभीष्ट था, वैसा ही यहाँ पर है—अतएव यहाँ पर भी अमुक अर्थ ही अभीष्ट है। इसी प्रकार उपमान में सादृश्य-ज्ञान इत्यादि कारण होते हैं। शाब्द प्रमाण में अभिधास्थल पर संकेतज्ञान तथा तात्पर्यवृत्ति कारण होती है और लक्षणास्थल पर शक्यार्थबाध इत्यादि कारण होते हैं। व्यञ्जनावृत्ति में भी कतिपय सहकारी अपेक्षित होते हैं जिनका परिगणन आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित कारिकाओं में किया है:—

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ॥
योऽन्यस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥

लक्षणा में शक्यार्थबाध इत्यादि सहकारी होते हैं और व्यञ्जना में वक्ता बोद्धव्य इत्यादि सहकारी होते हैं। इस प्रकार सहकारी भेद के कारण वृत्तिभेद मानना भी आवश्यक है। अतएव अभिहितान्वयवाद में व्यञ्जनावृत्ति का अपलाप किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।

—अन्विताभिधानवाद और व्यञ्जनावृत्ति—

ऊपर अभिहितान्वयवाद के अनुसार व्यञ्जनावृत्ति की अपरिहार्यता सिद्ध की गई है। अब अन्विताभिधानवाद के अनुसार भी व्यञ्जना की अनिवार्यता दिखलानी है। इसके लिये सर्वप्रथम अन्विताभिधानवाद का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। अन्विताभि-धानवादी प्रभाकर गुरु के अनुयायी इस तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि वाक्यार्थ वाच्य के द्वारा ही प्रकट हो जाता है अतः अभिधावृत्ति के अन्दर ही तात्पर्यवृत्ति का भी समावेश हो जाता है। इन लोगों की शक्तिग्रहण की प्रक्रिया इस प्रकार है:—

'बालक को शक्तिग्रह सर्वप्रथम अन्वित में ही होता है। जब कोई वृद्ध किसी युवक को 'गाय लाओ' यह आदेश देता है और युवक उसकी आज्ञा से गाय ले आता है, जब यह

तारावती

क्रिया कई बार होती है तब बालक 'गाय लाओ' इस वाक्य का और गाय ले आने की क्रिया का सम्बन्ध समझ लेता है। इसप्रकार सबसे पहले बालक को शक्तिग्रह वाक्य में ही होता है। इसके बाद जब वही वृद्ध के 'गाय ले जाओ' 'अश्व लाओ' इत्यादि वाक्यों को सुनता है और उनकी क्रियाओं को देखता है तथा वाक्य के भिन्न-भिन्न शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रयोगों पर ध्यान देता है तब वह शब्दों के अवापोद्वाप (निर्गम-प्रवेश) के द्वारा शब्दों की शक्ति को समझ लेता है। उस समय वह शब्दों की जिस शक्ति को समझता है उसमें अन्वयांश विद्यमान रहता है। इस प्रकार कारकपदों का क्रिया के साथ और क्रिया पदों का कारक के साथ सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है। बाद में जब शुद्ध शब्दों का ज्ञान होता है तब इस अन्वयांशमिश्रित शक्ति से अन्वयांश को पृथक् नहीं किया जा सकता। इसप्रकार अभिधावृत्ति के द्वारा ही अन्वयांश में शक्ति प्रतीत हो जाती है और तात्पर्यवृत्ति के पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस मत के अनुसार 'गाय लाओ' इस वाक्य के 'लाओ' शब्द का अर्थ होगा—'दूसरे शब्द से अन्वित आनयन क्रिया। इसी अर्थ में इसका संकेत है। गवानयन में इसका संकेत नहीं है फिर भी गवानयन का बोध होता ही है। इस प्रकार संकेतग्रहण हुआ 'अन्यपदार्थान्वित आनयन क्रिया' इस अर्थ में और बोध हुआ गवानयन का। जिस प्रकार घड़ा एक वस्तु है। वस्तु शब्द से हमें घड़े का बोध भले ही हो जावे किन्तु वस्तु शब्द का अर्थ तो घड़ा नहीं हो जावेगा। इसीप्रकार आनयन पद से गवानयन का बोध भले ही हो जावे किन्तु आनयन पद का अर्थ गवानयन कभी नहीं हो सकता। ऐसी दशा में जब एक शब्द का अर्थ भी वाच्य नहीं हो सकता तब व्यङ्ग्यार्थ जो अतिविशेष है और जो वाच्यार्थ से भी सर्वथा भिन्न होता है। उसका समावेश अभिधावृत्ति में हो सकेगा, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। 'लाओ' शब्द का वाच्यार्थ गवानयन नहीं हो सकता, इसका कारण यह है कि न्यायशास्त्र के अनुसार किसी शब्द से उसके सामान्यरूप का परिज्ञान हो जाता है। जैसे धूम को देखकर धूमत्व का ज्ञान हो जाता है। बाद में धूमत्व का ज्ञान होने के कारण किसी ऐसे धुयें को देखकर जिसको कभी न देखा हो, यह ज्ञान हो जाता है कि यह धुआँ है। इसे सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति कहते हैं। यहाँ 'लाओ' शब्द सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से अन्यपदार्थान्वित आनयन क्रिया का ही बोधक होगा गवानयन का नहीं।

अभिहितान्वयवाद में शब्द का अर्थ अन्वयांश से रहित नहीं होता है और अन्विताभिधानवाद में सामान्य रूप से किसी भी दूसरे शब्द से अन्वित ही उसका अर्थ होता है। इस प्रकार 'विशेष शब्द के साथ भी अन्वित' अर्थ वाच्य नहीं हो सकता। अतएव दोनों ही अर्थों में व्यङ्ग्यार्थ कभी वाच्यकोटि में नहीं आ सकता।

लोचनम्

योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुतः ? भिन्नविषयत्वात् । अथानेकोऽसौ तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः । सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिः निषिद्धः । असजातीये चास्मन्नय एव ।

जो अन्विताभिधानवादी भी 'यत्परक शब्द होता है वह शब्द का अर्थ हुआ करता है' यह हृदय में ग्रहण कर के शर के समान दीर्घ-दीर्घ अभिधाव्यापार को ही चाहता है उसका यदि दीर्घ व्यापार होता है तो 'यह एक है' यह कहा ही कैसे जा सकता है ? क्योंकि उसका विषय भिन्न होता है । यदि यह अनेक होता है तो तद्विषयक सहकारियों के भेद से इसका असजातीय होना ही ठीक है और सजातीय कार्य में पदार्थ के विद्वानों ने शब्द बुद्धि और कर्म का रुक-रुक कर व्यापार मना कर दिया है । असजातीय होनेपर हमारी ही नीति (गतार्थ हो जाती है।)

तारावती

अन्विताभिधानवादी भट्ट लोल्लट के अनुयायी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः तथा 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' ये युक्तियाँ देकर व्यञ्जनावृत्ति को अभिधा में सन्निविष्ट करते हैं । उनके कथन का आशय यह है—'यह शब्दशक्ति का व्यापार भी वाण के समान अधिक-अधिक हो जाता है । जिस प्रकार बलवान के द्वारा छोड़ा हुआ बाण अपने वेगनामक व्यापार द्वारा शत्रु के कवच को भी काटता है, उसके मर्मस्थान को भी विदीर्ण करता है और उसका प्राणहरण भी करता है । उसी प्रकार महाकवि का प्रयोग किया हुआ शब्द भी अभिधा नामक व्यापार के द्वारा पदार्थ की भी उपस्थिति करता है, अन्वयबोध भी कराता है और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी कराता है । आशय यह है कि 'एक अर्थ की प्रतीति के अनन्तर शब्द शक्ति का तबतक विराम नहीं होता जबतक विवक्षित अर्थ की प्रतीति नहीं हो जाती ।' इनका कहना है कि शब्द का वही अर्थ होता है जिस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य हो । इसपर मुझे (श्री अभिनव गुप्त को) यह पूछना है कि यदि शब्द का ही दीर्घ-दीर्घतर व्यापार होता जाता है तो सब व्यापारों को हम एक ही व्यापार कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि समस्त व्यापारों में उनके विषय बदलते जाते हैं । विषय भी भिन्न होते हैं और सहकारी भिन्न होते ही हैं । (अभिधा का सहकारी संकेतग्रहण होता है, लक्षणा के सहकारी शक्यार्थबाध इत्यादि होते हैं और व्यञ्जना के सहकारी वक्तृवैशिष्ट्य इत्यादि होते हैं ।) इस अवस्था में विभिन्न व्यापार असजातीय ही मानने पड़ेंगे । कारण यह है कि शब्दतत्त्ववेत्ता विद्वानों ने नियम बना दिया है कि शब्द, बुद्धि और कर्मों का सजातीय कार्य में रुक-रुक कर व्यापार कभी नहीं होता, व्यापारों की असजातीयता स्वीकार कर लेने पर हमारा ही सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि शब्द की पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना के नाम से अभिहित की जाती हैं ।

लोचनम्

अथ योऽसौ चतुर्थकक्ष्यानिविष्टोऽर्थः, स एव झटितिवाक्येनाभिधीयत इत्येवंविधं दीर्घदीर्घत्वं विवक्षितम् तर्हि तत्र सङ्केताकरणात्कथं साक्षात्प्रतिपत्तिः ? निमित्तेषु सङ्केतः, नैमित्तिकस्त्वसावर्थस्सङ्केतानपेक्ष एवेति चेत्—पश्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम्। यो ह्यसौ पर्यन्तकक्ष्याभाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिपथमवतीर्णः, तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तभावं गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम्।

अब यदि यह जो चौथी कक्ष्या में निविष्ट अर्थ है वह शीघ्र ही वाक्य के द्वारा अभिहित कर दिया जाता है, इस प्रकार का दीर्घत्व विवक्षित है तो वहाँ पर सङ्केत न करने से साक्षात् प्रतिपत्ति किस प्रकार होती है ? यदि यह मानों कि निमित्तों में सङ्केत होता है और यह नैमित्तिक अर्थ सङ्केत की अपेक्षा नहीं करता तो इस श्रोत्रिय की उक्तिकुशलता तो देखो। निस्सन्देह जो यह पर्यन्त (अन्तिम) कक्ष्या भागी पहले ही प्रतीतिपथ में अवतीर्ण होनेवाला अर्थ (व्यंग्यार्थ) है उसके बाद में होनेवाले पदार्थावगम निमित्त बन जाते हैं यह तो निस्सन्देह ऐसा ही है कि मीमांसक का प्रपौत्र के प्रति नैमित्तिकत्व बतला दिया गया है।

तारावती

(पूर्वपक्ष) यहाँ पर दीर्घ-दीर्घतर व्यापार का आशय यह है कि अभिधा तात्पर्य और लक्षणा के बाद जो यह चौथी कक्ष्या में निविष्ट व्यङ्ग्यार्थ होता है उसी की वाक्य के द्वारा एकदम प्रतीति हो जाती है। (उत्तर) अभिधा से उसी की प्रतीति होती है जिसमें संकेतग्रहण हुआ हों। जब व्यङ्ग्यार्थ में संकेतग्रहण हुआ ही नहीं तब अभिधा के द्वारा उसकी प्रतीति हो ही कैसे सकती है ?

(पूर्वपक्ष) वाक्य को सुनते ही उसका अन्तिम अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) प्रतीतिगोचर हो जाता है। उस व्यङ्ग्यार्थ में निमित्त शक्यार्थ होता है और व्यङ्ग्यार्थ नैमित्तिक होता है। व्यङ्ग्यार्थ की एकदम प्रतीति हो जाने के बाद विशेषरूप से ध्यान देने पर शक्यार्थ की भी प्रतीति होती है। संकेतग्रहण शक्यार्थ में होता है जो कि व्यङ्ग्यार्थ में निमित्त होता है। उसी आधार पर नैमित्तिकव्यङ्ग्यार्थ का भी बोध हो जाता है और इसमें संकेतग्रहण की आवश्यकता नहीं पड़ती। (उत्तर) इन महापण्डित महोदय की उक्तिकुशलता को तो देखो ? अन्तिम कक्ष्या को प्राप्त होनेवाला व्यङ्ग्यार्थ तो पहले प्रतीतिगोचर होता है और उसमें निमित्त होता है बाद में प्रतीत होनेवाला पदार्थबोध ? अर्थात् कार्य पहले होता है और कारण बाद में। आशय यह है कि मीमांसक का परपोता मीमांसक को जन्म देनेवाला होता है ?

लोचनम्

अथोच्यते—पूर्वं तत्र सङ्केतग्रहणसंस्कृतस्य तस्य तथा प्रतिपत्तिर्भवतीत्यमुया वस्तुस्थित्या निमित्तत्वं पदार्थानाम्, तर्हि तदनुसरणोपयोगि न किञ्चिदप्युक्तं स्यात्। न चापि प्राक्पदार्थेषु सङ्केतग्रहणं वृत्तम्, अन्वितानामेव सर्वदा प्रयोगात्। अवापोद्वापाभ्यां तथाभाव इति चेत्—सङ्केतः पदार्थमात्रः इत्यभ्युपगमे पाश्चात्त्यैव विशेषप्रतीतिः।

अथोच्यते—दृष्टैव झटिति तात्पर्यप्रतिपत्तिः किमत्र कुर्म इति। तदिदं वयमपि न नाङ्गीकुर्मः। यद्वक्ष्यामः—

तद्वत्सचेतसां योऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां झटित्येवावभासते ॥ इति ॥

किन्तु सातिशयानुशीलनाभ्यासात्तत्र सम्भाव्यमानोऽपि क्रमः सजातीयतद्विकल्पपरम्परानुदयादभ्यस्तविषयव्याप्तिसमयस्मृतिक्रमवन्न संवेद्यत इति।

यदि कहा जावे—पहले वहाँ पर सङ्केतग्रहण से संस्कृत (व्यक्ति) की प्रतिपत्ति उस प्रकार की हो जाती है इस वस्तुस्थिति से पदार्थों का निमित्तत्व बन जाता है तो उस (पार्यन्तिक अर्थ) के अनुसरण में उपयोगी कुछ भी कहा हुआ नहीं होगा। यह भी नहीं कि पहले पदार्थों में सङ्केतग्रहण हो चुका है क्योंकि अन्वितों का ही सर्वदा प्रयोग होता है। अवाप और उद्वाप (शब्दों के प्रवेश और निर्गम) के द्वारा वह तत्त्व (पृथक्-पृथक् पदार्थों में सङ्केतग्रहण) हो जाता है, यदि यह कहो तो सङ्केत पदार्थमात्र में ही होता है यह मानने पर (निषेधरूप) विशेष प्रतिपत्ति बाद में ही होगी।

यदि कहो कि शीघ्र तात्पर्य प्रतिपत्ति देखी ही है इस विषय में हम क्या करें। तो इसको तो हम भी स्वीकार नहीं करते हैं यह बात नहीं है। जैसा कि हम कहेंगे—'उसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुख आत्मावाले सहृदयों की तत्त्वावभासिनी बुद्धि में वह अर्थ शीघ्र ही अवभासित हो जाता है।' किन्तु अत्यन्त अनुशीलन के अभ्यास के कारण वहाँपर सम्भावित होते हुये भी क्रम सजातीय पदार्थ विकल्प परम्परा के उदय न होने के कारण विषय की व्याप्ति के समान अथवा समयस्मृति के क्रम के समान संवेदनागोचर नहीं होता।

तारावती

यहाँ पर आप यह कह सकते हैं कि संकेतग्रहण तो पहले ही हो चुका था। बुद्धि पहले ही संकेतग्रहण में संस्कृत रहती है। बाद में वाक्य सुनने पर व्यङ्ग्यार्थबोध हो जाता है और पदार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थबोध के लिए आप किस प्रक्रिया का आश्रय लेंगे? व्यङ्ग्यार्थ में संकेतग्रहण तो हुआ नहीं फिर आप अभिधावृत्ति के आधार पर उसकी प्रतीति कैसे मान सकते हैं? दूसरी बात यह है कि संकेतग्रहण आपके मत में पहले हो ही नहीं सकता क्योंकि आप तो अन्वित में ही शक्ति मानते हैं। यदि आप यह मानें कि संकेतग्रहण अन्वित में ही होता है, किन्तु

तारावती

शब्दों के अवाप-उद्वाप (प्रवेश निर्गम) के आधार पर संकेतग्रहण पदार्थ मात्र में भी हो सकता है तो इस पर मेरा निवेदन यह है कि ऐसी अवस्था में विशेष अर्थ की प्रतीति तो बाद में ही होगी । अभिहितान्वयवादियों के समान आपको भी तात्पर्यवृत्ति इत्यादि की कल्पना करनी ही पड़ेगी । ऐसी दशा में अन्विताभिधानवाद का आपका सिद्धान्त ही उच्छिन्न हो जावेगा ।

यहाँ पर आप कह सकते हैं कि पदार्थ-व्यङ्ग्यार्थ का निमित्त-नैमित्तिक भाव बने या न बने किन्तु वाक्य बोलते ही एकदम जो तात्पर्यार्थ की प्रतीति होने लगती है उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? इस पर मेरा निवेदन यह है कि इस बात को तो हम भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि व्यङ्ग्यार्थ को प्रतीति एकदम हो जाती है । ध्वनिकार ने स्वयं कहा है:—

'सहृदयों की अन्तरात्मायें वाक्य के वाच्यार्थ से सर्वथा विमुख होती हैं । उनको तत्त्वावभासिनी बुद्धि में वाच्यार्थज्ञान के विना ही व्यङ्ग्यार्थ एकदम स्फुरित होने लगता है ।' किन्तु इस कथन का अभिप्राय यही है कि जिन लोगों ने काव्य इत्यादि का अत्यन्त अनुशीलन किया है उनको अभ्यासवश एकदम व्यङ्ग्यार्थप्रतीति में अङ्गभूत पदार्थबोध इत्यादि क्रम की सम्भावना रहते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती । यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार धुँआँ को देखकर एकदम आग का बोध हो जाता है और व्याप्तिग्रह, लिङ्गपरामर्श इत्यादि क्रम की संभावना होते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती । अथवा गाय इत्यादि पदार्थों के देखते हीं उनका बोध हो जाता है—संकेतग्रहण, सकेतस्मृति इत्यादि क्रम के होते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती । इसी प्रकार प्रतीत न होते हुये भी निमित्त नैमित्तिक भाव तो मानना ही पड़ेगा ।

[काव्यप्रकाशकारने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' तथा 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इन दोनों वाक्यों की विशेषरूप से आलोचना की है । यहाँ पर काव्यप्रकाशकार की आलोचना का सार दे देना अप्रासङ्गिक न होगा ।

काव्यप्रकाशकार का कहना है कि जो लोग मीमांसकों के 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इस वाक्य का आश्रय लेकर व्यञ्जनाव्यापार का निषेध करने की चेष्टा करते हैं वे लोग मीमांसकों की इस तात्पर्यार्थविषयक वाणी के तात्पर्य को बिलकुल नहीं समझते और इस प्रकार वे लोग भी सर्वथा देवों के प्यारे (पशु) ही हैं । वस्तुतः मीमांसकों की इस युक्ति का तात्पर्य यह है कि जब वाक्य के अन्दर विद्यमान पदों की उपस्थिति होती है तब उनमें कुछ शब्द तो सिद्ध होते हैं और कुछ साध्य । साध्यों का ही विधान किया जाता है और उन्हीं में वक्ता का तात्पर्य होता है । उसी के बोध के लिए वाक्य का प्रयोग किया जाता है । वही अर्थ ऐसा होता है जो अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता । अतएव अज्ञात अर्थ को प्रकट करने के कारण उसी अंश में प्रामाणिक का निर्वाह होता है जो अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव अज्ञात अर्थ को प्रकट करने के कारण उसी अंश में प्रामाणिकता का निर्वाह होता है जैसा कि कहा भी गया है 'भूत (सिद्ध) और भव्य (साध्य) दोनों के उच्चारण में सिद्ध शब्द का साधारण अर्थ है कारक और साध्य शब्द का साधारण अर्थ है क्रिया । जब कारक-

तारावती

पदों का क्रियापद के साथ अन्वय होता है तब कारकपदार्थ प्रधान क्रिया को पूरा करनेवाली अपनी क्रिया के सम्बन्ध से साध्य बन जाते हैं। जैसे 'गाय लाओ' इस वाक्य में 'गाय' कारक शब्द है और 'लाओ' क्रिया शब्द। कारक शब्द गाय यद्यपि स्वतः सिद्ध शब्द है किन्तु लाना क्रिया की पूर्णता के लिये गाय के चलने की क्रिया अभीष्ट हो जाती है। अपनी क्रिया से प्रधान क्रिया को पूर्णता प्रदान करने के कारण गाय यह सिद्ध शब्द भी साध्य बन जाता है। इसी प्रकार 'घड़ा लाओ' इस वाक्य में भी 'लाना' रूप प्रधान क्रिया की पूर्ति के लिये सिद्ध शब्द 'घड़ा' की पूर्वदेश त्याग और अन्यदेशसंयोग रूप क्रिया की अपेक्षा होती है। अतः घड़ा शब्द भी साध्यकोटि में आ जाता है। इसप्रकार जब सभी शब्द साध्य हो गये तब जिस प्रकार तृणों की राशि में पड़ी हुई आग उन्हीं तृणों को जलाती है जो जले नहीं होते, उसी प्रकार वाक्य के प्रयोग में भी जितनी बात हमें किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात होती है उसका विधान नहीं होता और जो वस्तु अप्राप्त (अज्ञात) होती है उसी का विधान होता है। उदाहरण के लिये श्येनयाग के प्रकरण में एक वाक्य आया है—'लालपगड़ीवाले ऋत्विज इधर-उधर सञ्चरण कर रहे हैं।' यहाँ पर चार तत्त्व हैं—लाली, पगड़ी, ऋत्विज और सञ्चरण क्रिया। श्येनयाग में ज्योतिष्टोम का अतिदेश (समानता) प्रतिपादित है। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में लिखा है कि 'पगड़ीवाले ऋत्विज इधर-उधर विचर रहे हैं।' इस वाक्य से पगड़ी, ऋत्विज और विचरण तो प्राप्त ही हो जाते हैं। अतएव इन तीन बातों के ज्योतिष्टोम प्रकरण के प्रमाण से सिद्ध हो जाने पर श्येनयाग में केवल पगड़ी की लाली ही विधेय रह जाती है। इसी प्रकार 'दही से हवन करता है' इस वाक्य में तीन पदार्थ हैं—दही, करणकारक और हवनक्रिया। इनमें हवन तो प्रकरण से ही सिद्ध है। साधनद्रव्य होने के कारण दही का भी आक्षेप कर ही लिया जाता है। अतएव यहाँ पर केवल करण कारक ही विधेय रह जाता है क्योंकि वही अप्राप्त है।

कहीं कहीं दो विधियाँ होती हैं, कहीं कहीं तीन और कहीं कहीं इससे भी अधिक विधियाँ होती हैं। जैसे 'लाल कपड़ा बुनो' यहाँ पर लाली, कपड़ा और बुनना ये तीन शब्द हैं। यदि पहले से मालूम है कि कपड़ा बुनना है तो केवल लाली ही विधेय होगी। यदि पहले से इतना मालूम है कि कुछ बुनना है, यह पता नहीं कि क्या बुनना है तो लाली और कपड़ा ये दो विधेय होंगे। यदि पहले से कुछ भी नहीं ज्ञात है तो लाली, कपड़ा और बुनना ये तीनों विधेय होंगे। इसी प्रकार 'स्नान और भोजन किये हुये ब्राह्मण को ले आओ' इस वाक्य में यदि पहले से कुछ भी मालूम नहीं है तो स्नान भोजन ब्राह्मण और आनयन ये चार विधेय होंगे। यदि इतना मालूम है कि ब्राह्मण को लाना है तो उसका स्नान और भोजन ही विधेय होगा। यदि इतना मालूम है कि ब्राह्मण स्नान किये बैठा है तो केवल उसका भोजन करना ही विधेय होगा।

तारावती

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो विधेय होता है उसी में तात्पर्य माना जाता है। अतएव जो उच्चरित शब्द है किसी वृत्ति के द्वारा उसी के अर्थ में तात्पर्य हो सकता है। इस प्रकार 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का यही आशय है कि वाक्य में विद्यमान अनेक पदार्थों में वक्ता का तात्पर्य जिस अर्थ में होता है वही उसका अर्थ माना जाता है। न तो प्रतीत होनेवाला सभी कुछ तात्पर्यार्थ ही होता है और न व्यङ्ग्यार्थ का समावेश तात्पर्यार्थ में ही हो सकता है। यदि जो कुछ भी जिस किसी भी सम्बन्ध से प्रतीत हो उसी में तात्पर्य माना जावे तो 'पहला मनुष्य दौड़ रहा है' इसका तात्पर्य दूसरे मनुष्य में भी माना जाने लगेगा। क्योंकि दूसरे के बिना पहला शब्द का कोई आशय ही नहीं है। तात्पर्यार्थ शब्दोपात्त अर्थ में होता है और व्यङ्ग्यार्थ उससे पृथक् रहता है। अतएव व्यङ्ग्यार्थ का समावेश तात्पर्यार्थ में नहीं हो सकता और न अभिधावृत्ति के द्वारा वह गतार्थ ही हो सकता है।

(प्रश्न) 'विष खालो और इसके घर में मत खाना' इसका तात्पर्य यह है कि इसके घर में नहीं खाना चाहिये। यही वाक्यार्थ है। 'विष खालो' का यह शब्दोपात्त अर्थ हो ही नहीं सकता और तात्पर्य इस अर्थ में माना ही जाता है। जब शब्दोपात्त अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ में तात्पर्य माना ही जा सकता है और उसमें अभिधावृत्ति से काम चल जाता है तब केवल इसी आधार पर कि व्यङ्ग्यार्थ शब्दोपात्त नहीं है उसे तात्पर्यार्थ के अन्तर्गत क्यों नहीं माना जा सकता ? (उत्तर) 'विष खालो और इसके घर में मत खाना' इन दोनों के बीच में 'और' यह संयोजक अव्यय रक्खा है। यह दोनों वाक्यों की एकवाक्यता सिद्ध करता है। दो आख्यात (पूर्णक्रियासम्पन्न) वाक्यों का परस्पर अङ्गाङ्गीभाव हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार समान होने के कारण दो गुणों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता उसी प्रकार जबतक कोई प्रबल युक्ति न उपस्थित हो तबतक दो पूर्ण क्रियाओं का भी परस्पर अङ्गाङ्गीभाव नहीं हो सकता : न तो इन दोनों वाक्यों का कर्तृत्व कर्मत्व इत्यादि के रूप में अन्वय हो सकता है। 'विष खालो' यह एक मित्र की सम्मति है जो सर्वथा असम्भव है। अतएव इसका बाध हो जाता है और उसका लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'इसके घर में भोजन करना विषभक्षण की अपेक्षा भी अधिक हानिकर है'। इसप्रकार यह लक्ष्यार्थपरक वाक्य अङ्ग मान लिया जाता है और 'किसी भी प्रकार इसके घर में भोजन न करना चाहिये' इस वाक्य के हेतु के रूप में आ जाता है। इस प्रकार यहाँ पर शब्दोपात्त अर्थ में ही तात्पर्य है यह बात सिद्ध हो गई। लक्षणा वहाँ पर होती है जहाँ पर वाक्य अपने अर्थ में सङ्गत न हो और उसकी सङ्गति के लिये तत्सम्बद्ध दूसरा अर्थ लिया जावे। व्यञ्जना इससे भिन्न होती है। व्यञ्जना वहीं पर हो सकती है जहाँ वाक्य का स्वतन्त्र अर्थ पूरा हो जावे और दूसरा अर्थ प्रतीत होने लगे।]

लोचनम्

निमित्तनैमित्तिकभावश्चावश्यमाश्रयणीयः, अन्यथा गौणलाक्षणिकयोर्मुख्याद्भेदः, 'श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणषट्कस्य पारदौर्बल्यम्' इत्यादि प्रक्रियाविघातः, निमित्ततावैचित्र्येणैवास्याः समर्थितत्वात्। निमित्ततावैचित्र्ये चाभ्युपगते किमपरमस्मास्वसूयया।

निमित्त-नैमित्तिक का आश्रय तो अवश्य ही लिया जाना चाहिये। अन्यथा गौण लाक्षणिक में मुख्य से भेद (सिद्ध नहीं होता) और 'श्रुति लिंग इत्यादि छः प्रमाणों में पारदौर्बल्य' इस प्रक्रिया का विघात (हो जाता है।) क्योंकि निमित्तताके वैचित्र्य से ही इसका समर्थन होता है। निमित्ततावैचित्र्य के मान लेने पर हमारे प्रति असूया से क्या दूसरा लाभ (आपको प्राप्त होगा। अर्थात आपने तो हमारी बात ही मान ली।)

तारावती

—अभिधा और व्यञ्जना का भेद—

ऊपर जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि अभिधा और व्यञ्जना में निमित्त-नैमित्तिक भाव होता है। अभिधा निमित्त होती है और व्यञ्जना नैमित्तिक। निमित्त और नैमित्तिक का तादात्म्य कभी हो ही नहीं सकता। अतएव ये दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होती हैं यह विवाद का विषय रह ही नहीं जाता। यह निमित्त-नैमित्तिक भाव तो मानना ही पड़ेगा। नहीं तो निम्नलिखित स्थानों की सङ्गति नहीं बैठ सकती :—

(अ) गौण और मुख्य में भी भेद सिद्ध नहीं होगा। मुख्य (शक्यार्थ) के बाध में ही लक्षणा हो सकती है। इस प्रकार शक्यार्थ निमित्त होता है और लक्ष्यार्थ नैमित्तिक होता है। यदि निमित्त-नैमित्तिक भाव नहीं माना जावेगा तो न तो शक्यार्थबाध का ही प्रश्न पैदा होगा और न मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का भेद ही हो सकेगा।

(आ) भगवान् जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में लिखा है कि श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इनमें अर्थ विप्रकर्ष के कारण क्रमशः पर को दुर्बलता आती जाती है। यह विनियोजक सूत्र है और विनियोजकों के शक्ति तारतम्य पर विचार करता है। विनियोजक ६ होते हैं—(१) श्रुति-श्रवण मात्र से ही विना किसी अपेक्षा के अर्थ को प्रकट करने की शक्ति (२) लिङ्ग—किसी शब्द की विशेष अर्थद्योतक शक्ति (३) वाक्य—परस्पर आकांक्षा के कारण किसी एक अर्थ में पर्यवसित होनेवाले पदों को वाक्य कहते हैं। यह ऐसे स्थान पर विनियोजक होता है जहाँ पर किसी दूसरे प्रमाण से वाक्य का कोई एक अंश किसी एक अंश में विनियुक्त हो जाय तथा उसके दूसरे अंश विनियोगरहित ही रह जावें। तब एकवाक्यता होने के कारण उसके दूसरे अंश भी उसी अर्थ में विनियुक्त हो जाते हैं जिसमें उस वाक्य का कोई अंश विनियुक्त हुआ रहता है। (४) प्रकरण—परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं। जैसे एक विधान है कि 'दर्श और पूर्णमास नामक यज्ञों के द्वारा स्वर्ग के लिए

तारावती

अपूर्वता का सम्पादन करना चाहिये'। यहाँ पर यह आकांक्षा उत्पन्न होती है कि स्वर्ग की अपूर्वता का सम्पादन कैसे किया जाता है। दूसरी ओर प्रयाज इत्यादि की विधि बतलायी गई है किन्तु उनका फल नहीं बतलाया गया है। दर्श और पूर्णमास में विधि की आकांक्षा है और फल बतलाया गया है तथा प्रयाजादिकों में फल की आकांक्षा है और विधि बतलाई गई है। इस प्रकार प्रकरण से प्रयाजादियों की दर्शपूर्णमासाङ्गता सिद्ध हो जाती है। (५) स्थान-अर्थात् समान देश में होना। इसी को क्रम कहते हैं। यह देश की समानता दोनों प्रकार की हो सकती है, पाठ की भी और अनुष्ठान की भी। (६) समाख्या—अर्थात् यौगिक शक्ति। रूढ़िशक्ति का समावेश लिङ्ग में हो जाता है और यौगिक शक्ति समाख्या में आती है। इन्हीं ६ तत्त्वों के द्वारा यह निर्णय किया जाता है कि किस मन्त्र का विनियोग किस स्थान पर होगा? यदि इनमें परस्पर विरोध हो तो पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल माना जाता है। क्योंकि पर की उपस्थिति पूर्व की अपेक्षा विलम्ब से होती है। जैसे श्रुति के द्वारा तो शब्द सुनते ही अर्थ की उपस्थिति हो जाती है किन्तु लिङ्ग के द्वारा अर्थोपस्थापन में छानबीन करनी पड़ती है। उदाहरण के लिये अग्निहोत्र के प्रकरण में एक ऋचा पढ़ी गई है—'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।' अर्थात् 'हे इन्द्र तुम कभी भी घातक नहीं होते हो किन्तु हवि देनेवाले के प्रति प्रसन्न होते हो।' इसके बाद लिखा है—'ऐन्द्रीऋक् के द्वारा गार्हपत्य का उपस्थान करता है' यहाँ पर शब्द श्रुति से तो यह ज्ञात होता है कि इस ऋचा के द्वारा गार्हपत्य की पूजा की जानी चाहिये। किन्तु इन्द्र की स्तुतिरूप लिङ्ग से यह निष्कर्ष निकलता है कि इससे इन्द्र की पूजा होनी चाहिये। इस प्रकार यहाँ पर श्रुति और लिंग का विरोध है। लिङ्ग दुर्बल है क्योंकि श्रुति के बाद पढ़ा गया है। अतः उक्त ऋचा से गार्हपत्य की पूजा की जावेगी इन्द्र की नहीं। (विस्तृत व्याख्या के लिये देखें शाबर भाष्य) अभिधा और व्यञ्जना का निमित्त-नैमित्तिक भाव मान लेने पर ही इस सूत्र की संगति बैठती है। यदि शब्द श्रुति के बाद जितनी भी उपस्थिति हों सब में अभिधा व्यापार ही माना जावे तो उपस्थिति में न तो पौर्वापर्य हो सकता है और न इनमें एक की अपेक्षा दूसरा बलवान् ही कहा जा सकता है। अतएव इस सूत्र की संगति के लिये निमित्त-नैमित्तिक भाव मानना चाहिये। निमित्ततावैचित्र्य के मान लेने पर हमारे प्रति असूया करने से और क्या लाभ हो सकता है?

इस विषय में काव्यप्रकाश में विस्तार पूर्वक विचार किया गया है जिसका सार यह है—

ध्वनि विरोधी—उक्त सूत्र की संगति के लिये व्यञ्जनावृत्ति के मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जिस प्रकार एक महावाक्य में छोटे-छोटे कई वाक्यखण्डों में किसी एक के अर्थ के पूर्ण हो जाने पर भी अभिधा तब तक विश्रान्त नहीं होती जब तक उस पूरे महा-

तारावती

वाक्य का अर्थ पूरा नहीं हो जाता, उसी प्रकार श्रुति इत्यादि विनियोजक भी अर्थबोध में सहकारीमात्र होते हैं। जैमिनि सूत्र का आशय यह है कि जिन सहकारियों की पहले उपस्थिति होती है वे सहकारी परवर्तियों की अपेक्षा अधिक बलवान् होते हैं। इस प्रकार जैमिनि सूत्र की संगति भी बैठ जाती है और व्यञ्जना की आवश्यकता भी नहीं पड़ती।

(इ) ध्वनिवादी—यदि आप केवल अभिधावृत्ति को मानेंगे तो 'कुरु रुचिम्' इन शब्दों को उलट देने से 'रुचिङ्कुरु' यह हो जाने पर काव्यान्तर्वर्ती अश्लीलत्व दोष किस प्रकार बन सकेगा ? चिङ्कुशब्द लाटी भाषा में स्त्री की योनि के अन्तर्वर्ती अंकुर के लिये प्रयुक्त होता है। अन्विताभिधानवादियों के मत में अन्वित नहीं है अतएव यहाँ पर उसका प्रतीयमान असभ्य अर्थ अश्लीलत्व दोष की सीमा में आ ही नहीं सकता। अतः काव्य में उसके परित्याग की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। व्यञ्जना वृत्ति के मानने से ही यहाँ दोष की व्यवस्था की जा सकती है, अतः व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिवार्य है।

ध्वनि विरोधी—उक्त तर्क समीचीन नहीं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि अनुभव की हुई शक्ति अन्वित में स्मारक होती है। चिङ्कु शब्द की शक्ति का असभ्य अर्थ में अनुभव किया जा चुका है। अतएव वह उसी अर्थ को स्मरण करा देगी और दोष की व्यवस्था हो जावेगी। उसके लिये व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं।

(ई) ध्वनिवादी—यदि वाच्यवाचक भाव से भिन्न व्यंग व्यञ्जकभाव अगीकृत नहीं किया जावेगा तो यह व्यवस्था किसी प्रकार भी नहीं बन सकेगी कि व्याकरण-लक्षणहीन असाधुत्व इत्यादि नित्य दोष होते हैं और कष्टत्व श्रुतिकटुत्व इत्यादि अनित्य दोष होते हैं। साहित्यशास्त्र में कुछ दोष तो नित्य माने जाते हैं और कुछ अनित्य। उदाहरण के लिए व्याकरण के नियम की अवहेलना एक ऐसा दोष है जो सर्वत्र दोष ही रहता है। इसके प्रतिकूल कुछ दोष सार्वत्रिक नहीं होते। जैसे श्रुतिकटु दोष शृंगाररस में तो बुरा मालूम पड़ता है किन्तु रौद्ररस में गुण हो जाता है। ऐसे दोष अनित्य दोष कहलाते हैं। नित्य और अनित्य दोषों की व्यवस्था तो तभी बनेगी जब व्यञ्जनावृति को स्वीकार किया जावेगा। केवल अभिधावृत्ति के मानने पर वही दोष माना जावेगा जो वाक्यार्थ व्यवच्छेदक होगा और ऐसे सभी तत्त्व सर्वत्र दोष ही माने जायेंगे। इसके प्रतिकूल व्यञ्जनावृत्ति के मानने पर दोषों की नित्यानित्यत्व व्यवस्था संगत हो जावेगी। क्योंकि व्यञ्जना के अधीन एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। एक शब्द किसी व्यंग्यार्थ को पुष्ट कर सकता है दूसरे को अपुष्ट। अतः व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिवार्य है।

(उ) साहित्य शास्त्र का नियम है कि कहीं पर कोई शब्द उचित मालूम पड़ता है और दूसरे स्थान पर उसी अर्थ में उसका पर्यायवाचक ही अच्छा मालूम पड़ता है। जैसे स्त्री के पर्यायवाचक तन्वी, ललना, कामिनी इत्यादि अनेक शब्द है। 'तन्वी' शब्द वियोगावस्था के

तारावती

अनुकूल है, 'ललना' संयोगकाल में ही उचित प्रतीत होता है और 'कामिनी' शब्द यौवनागमजन्य मदन-विकार की अवस्था में ही अच्छा मालूम पड़ता है। 'कपाली' और 'पिनाकी' ये दोनों शंकर जी के पर्यायवाचक शब्द हैं। जब ब्रह्मचारी शंकरजी की निन्दा करते हुये पार्वतीजी को शंकर जी से विरक्त करना चाहता है उस समय घृणा की व्यञ्जना के कारण कपाली शब्द का प्रयोग ही उचित है। इसके प्रतिकूल जब कामदेव शंकर का सामना करने की दम भरता है उस समय वीरता की व्यञ्जना करने के कारण 'पिनाकी' शब्द ही समीचीन है। यदि केवल अभिधावृत्ति ही मानी जावेगी तो दोनों शब्दों का अभिधेयार्थ तो एक ही होगा फिर यह विभाग-व्यवस्था कैसे बन सकेगी? अतः व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार करनी ही चाहिये।

(ऊ) वस्तुतः वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में निम्नलिखित बातों में भेद होता है:—

(१) स्वरूप भेद—कहीं वाच्यार्थ विधिपरक होता है और व्यंग्यार्थ निषेधपरक, कहीं वाच्यार्थ निषेधपरक होता है और व्यंग्यार्थ विधिपरक। कहीं वाच्यार्थ निश्चयपरक होता है और व्यंग्यार्थ अनिश्चयपरक, कहीं वाच्यार्थ अनिश्चयपरक होता है और व्यंग्यार्थ निश्चयपरक, कहीं वाच्यार्थ निन्दापरक होता है और व्यंग्यार्थ प्रशंसापरक। इसप्रकार दोनों में स्वरूप-भेद होता है। (इनके उदाहरण मूल में दिये गये हैं)

(२) काल-भेद—वाच्यार्थ सदा कारण होता है और व्यंग्यार्थ कार्य। कारण कार्य से सर्वदा पहले आता है। अतएव वाच्यार्थ पहले आता है व्यंग्यार्थ बाद में। यह काल-भेद है।

(३) आश्रय-भेद— वाच्यार्थ का आश्रय केवल वाक्य या शब्द होता है। किन्तु व्यंग्यार्थ का आश्रय वाक्य शब्द पद पदांश वर्ण रचना इत्यादि कोई भी हो सकता है।

(४) निमित्त-भेद—वाच्यार्थ में निमित्त केवल व्याकरण कोश इत्यादि शब्दानुशासन का ज्ञान होता है किन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति में निमित्त शब्दानुशासन ज्ञान भी होता है और प्रकरण इत्यादि का ज्ञान, प्रतिभा की निर्मलता इत्यादि भी होते हैं। इस प्रकार इन दोनों में निमित्त भेद है।

(५) कार्य अथवा प्रभाव भेद—वाच्यार्थ का ज्ञान ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को हो सकता है जिसे शब्दानुशासन ज्ञान हो। किन्तु व्यंग्यार्थ का ज्ञान केवल सहृदयों को ही हो सकता है। दूसरी बात यह है कि वाच्यार्थ केवल प्रतीति का उत्पादक होता है जब कि व्यंग्यार्थ चमत्कार को भी उत्पन्न करता है। इस प्रकार दोनों में प्रभाव-भेद भी विद्यमान है।

(६) संख्या-भेद—वाच्यार्थ सभी समझनेवालों के लिये केवल एक प्रकार का होता है किन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण इत्यादि के सहकार से अनेक प्रकार का हो जाता है। उदाहरण के लिये एक वाक्य है 'सूर्य अस्त हो गया।' इसके प्रतिकूल प्रतीयमान अर्थ नाना परिस्थितियों में नाना प्रकार का हो जावेगा। हमें व्यंग्यार्थ करने में इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि

तारावती

अमुक वाक्य किस प्रकरण में कहा गया ? कहनेवाला किस प्रकार का व्यक्ति है ? सुननेवाले में क्या विशेषता है ? इन सबकी विशेषताओं से व्यंग्यार्थ अनेक प्रकार का हो जावेगा। 'सूर्य अस्त हो गया' यह वाक्य (१) यदि युद्धकाल में राजा द्वारा अपने सेनापतियों से कहा गया तो इसका अर्थ होगा—आक्रमण करने का यही अवसर है। (२) यदि दूती नायिका से कहेगी तो इसका अर्थ होगा—'अभिसार में शीघ्रता करो।' (३) यदि दूती वासकसज्जा से कहेगी तो इसका अर्थ होगा कि 'तुम्हारा प्रियतम आने ही वाला है'। (४) यदि कोई मजदूर अपने साथी से कहेगा तो इसका अर्थ होगा–'अब हमलोग काम बन्द करें।' (५) यदि नौकर ब्राह्मण से कहेगा तो इसका अर्थ होगा–'अब सन्ध्योपासन का समय हो गया'। (६) यदि कार्यवश बाहर जानेवाले प्रियव्यक्ति से यह वाक्य कहा जावेगा तो इसका अर्थ होगा–'दूर मत जाना'। (७) यदि कोई गृहस्थ किसी पशुचरानेवाले से कहेगा तो इसका अर्थ होगा–'अब जानवरों को घर ले जाओ'। (८) दिन में यात्रा करनेवाला या धूप में काम करनेवाला यदि अपने बन्धुओं से कहेगा तो इसका अर्थ होगा–'अब धूप तेज नहीं रही'। (९) यदि दूकानदार नौकरों से कहेगा तो इसका अर्थ होगा–'अब विक्री की वस्तुओं को समेट लो'। (१०) यदि प्रोषित-पतिका यह वाक्य अपनी सखी से कहेगी तो इसका अर्थ होगा–'प्रियतम अब भी नहीं आया, अब वियोग मेरे लिये असह्य हो रहा है'। इस प्रकार वाच्यार्थ केवल एक होता है और व्यंग्यार्थ अनेक, यह संख्या-भेद है।

(७) विषयभेद—वाच्यार्थ सभी विषयों के प्रति एक होता है किन्तु व्यंग्यार्थ विषयों के अनुसार परिवर्तित होता जाता है। उदाहरण के लिये यदि कोई सखी नायिका के परकीय सुरत को छिपाने के लिये कोई बहाना बनाती है तो उस वाक्य का वाच्यार्थ सभी व्यक्तियों के विषय में एक सा ही होगा, किन्तु व्यंग्यार्थ विषयभेद से भिन्न हो जावेगा। नायिका के विषय में उसका व्यंग्यार्थ और होगा, नायक के विषय में और होगा, उपपति के विषय में और होगा, इसी प्रकार पड़ोसी सपत्नी इत्यादि प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार उसका व्यंग्यार्थ बदल जावेगा। इसका उदाहरण 'कस्य वा न भवेद्रोषो' इस पद्य के रूप में दिया जावेगा। इस प्रकार इन दोनों का विषयभेद होता है।

यदि इतने भेद होते हुए भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ एक ही माने जावेंगे तो फिर नील-पीत का भेद भी प्रतिपादित नहीं किया जा सकेगा। वैसे तो समस्त दर्शनों का सार ही अभेदवाद है, द्वैतबुद्धि का निवारण ही ज्ञान की पराकाष्ठा है। किन्तु अभेद में भेद का देखना ही व्यवहार का एकमात्र कारण होता है। वृद्धों ने कहा है–'एक दूसरे के भेद या भेदहेतुओं में कारण यही है कि उन पर विरुद्ध धर्मों का अध्यास कर दिया जावे और उनकी उत्पत्ति विभिन्न कारणों से हो। विरुद्ध धर्मों का अध्यास और विरुद्ध कारणों से उत्पत्ति ये दोनों हेतु वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में विद्यमान हैं यह विस्तार के साथ दिखलाया जा चुका है। अतः दोनों का पृथक्-पृथक् मानना अनिवार्य है।

तारावती

जिस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद होता है उसी प्रकार वाचक शब्द और व्यंजक शब्द में भी भेद होता है। वाचक शब्दों को संकेतग्रह की अपेक्षा होती है किन्तु व्यंजक को ऐसी अपेक्षा नहीं होती। व्यञ्जना केवल एक शब्द से ही नहीं होती-किन्तु पदांश वर्ण अथवा केवल मात्रा से भी हो सकती है जिसका कोई अर्थ ही नहीं होता। जिस व्यक्ति ने संकेतग्रहण न किया हो वह भी व्यंग्यार्थ के ग्रहण कर लेने में समर्थ हो जाता है। कभी-कभी तो शब्द के अभाव में भी केवल चेष्टा ही व्यञ्जक हो जाती है। इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी एक दूसरे से भिन्न हैं तथा वाचक शब्द और व्यञ्जक शब्द भी भिन्न ही हैं। असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य में व्यंग्यार्थ की प्रतीक्षा किये बिना वाच्यार्थ ही काव्यानन्द का पोषक हो जाता है। इसके बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता। यदि व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार नहीं की जावेगी तो बाद में प्रतीत होनेवाले व्यंग्यार्थ में किस वृत्ति का सहारा लिया जावेगा। ऐसे स्थान पर अभिधा से काम नहीं चल सकता, क्योंकि आपके सिद्धान्त के अनुसार अभिधा विधेय में ही होती है और विधेय तो वाच्यार्थ ही हो गया। इस प्रकार व्यञ्जनावृत्ति का किसी भी प्रकार अभिधा में समावेश नहीं किया जा सकता।

—लक्षणा और व्यञ्जना का भेद—

कुछ विद्वान् लक्षणा को तो अभिधा से भिन्न मानते हैं किन्तु व्यञ्जनावृत्ति को अङ्गीकार करना नहीं चाहते। वे लोग व्यञ्जना का अन्तर्भाव लक्षणा में करते हैं। इनका कहना है कि व्यञ्जना के भेदक धर्म केवल चार हैं। (१) व्यंग्यार्थ एक नहीं किन्तु अनेक प्रकार का होता है। (२) वह ध्वनि अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य इत्यादि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। (३) उसकी प्रतीति शब्द और अर्थ दोनों के आधीन होती हैं। वह प्रकरण इत्यादि की अपेक्षा रखता है। यही सब बातें लक्षणा में भी पाई जाती हैं। (१) लक्ष्यार्थ भी एक नहीं अनेक प्रकार का होता है। उदाहरण के लिये राम शब्द को ले लीजिये—'मैं राम हूँ सब कुछ सह रहा हूँ' में राम का लक्ष्यार्थ होगा—'मैं तो दुःख सहने के लिये ही उत्पन्न हुआ हूँ। मेरे भाग्य में सुख कहाँ ?' इसी प्रकार सीता परित्याग के अवसर पर 'हे प्रिये ! अपने जीवन का मोह रखनेवाले 'राम ने' प्रेम के निर्वाह के लिये उचित कार्य नहीं किया।' यहाँ पर राम का लक्ष्यार्थ होगा—'मैं सीता-परित्याग जैसे निर्दय कर्म का करनेवाला हूँ। मुझ जैसा कृतघ्न तथा प्रेम का झूठा आडम्बर भरनेवाला दूसरा नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'यह राम हैं जो भुवन में महती ख्याति प्राप्ति कर चुके हैं।' यहाँ पर 'राम' शब्द का लक्ष्यार्थ होगा—'खरदूषण जैसे वीरों का वध करनेवाले पराक्रमी राम।' इस प्रकार एक ही राम शब्द के अनेक अर्थ हो गये और व्यञ्जना का प्रथम धर्म अनेक अर्थों का प्रतिपादन करना लक्षणा में भी मिल गया। (२) व्यंजना के समान लक्षणा में भी

तारावती

अर्थान्तर संक्रमण इत्यादि हो सकते हैं। (३) व्यंजना के समान लक्षणा भी शब्द और अर्थ दोनों के अधीन होती है। क्योंकि मुख्यार्थ भी मुख्यार्थबाध में निमित्त होता ही है। (४) व्यंजना के समान ही लक्षणा में भी प्रकरण इत्यादि अपेक्षित होते ही हैं। कारण यह है कि तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा की एक बहुत बड़ी शर्त है और तात्पर्यानुपपत्ति ज्ञान के लिये प्रकरण ज्ञान नितान्त अपेक्षित होता है। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि व्यंजना के समस्त धर्म लक्षणा में मिल जाते हैं और इस बात की आवश्यकता नहीं रह जाती कि लक्षणा से पृथक् व्यंजना नाम की नई वृत्ति मानी जावे। जब कोई वैधर्म्य है ही नहीं तब व्यंजना नाम की नई वस्तु मानने की आवश्यकता ही क्या है। यह समझ में नहीं आता।

अब आइये उक्त तर्कों की कुछ आलोचना कर लें—(१) यह तो माना ही जा सकता है कि लक्ष्यार्थ नानाप्रकार के होते हैं। किन्तु यह अनेकरूपता व्यंग्यार्थ की अनेकरूपता के समान नहीं होती, प्रत्युत वाच्यार्थ की अनेकरूपता के समान होती है। जैसे किसी एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु किसी एक वाक्य में संयोग इत्यादि के द्वारा उन अर्थों का नियन्त्रण हो जाता है और उस शब्द का उस वाक्य में नियत अर्थ ही माना जाता है। उसीप्रकार किसी एक वाक्य में लक्ष्यार्थ भी नियत ही होता है। एक ही वाक्य में कई एक अनिश्चित अर्थ नहीं हो सकते। जिस अर्थ का वाच्यार्थ से कोई सम्बन्ध ही न हो ऐसे अर्थ में लक्षणा की ही नहीं जा सकती। उदाहरण के लिये—'गङ्गा में अहीर का घर' इस वाक्य में निश्चित रूप से गङ्गा का लक्ष्यार्थ तट ही हो सकता है क्योंकि निश्चित रूप से गङ्गा शब्द का तट से ही सम्बन्ध है। इसके प्रतिकूल व्यंग्यार्थ एक ही वाक्य में सैकड़ों हो सकते हैं जैसा कि 'सूर्य अस्त हो गया' के विभिन्न व्यंग्यार्थों को व्याख्या में दिखलाया जा चुका है। यह भी कोई नियम नहीं है कि व्यंग्यार्थ कोई ऐसा ही अर्थ हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित हो। प्रकरण इत्यादि के सहकार से व्यंग्यार्थ ऐसा भी हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित हो, ऐसा भी हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित न हो और ऐसा भी हो सकता है जहाँ वाच्यार्थ के साथ सम्बन्ध परम्परा के कारण प्रतीत होने वाले अर्थ की भी परम्परा स्थापित की जा सके, अर्थात् जहाँ एक सम्बन्ध से एक अर्थ की प्रतीति हो और सम्बद्ध अर्थ से सम्बन्ध होने के कारण दूसरा और फिर तीसरा अर्थ इत्यादि प्रतीत हों। यही इन दोनों की अनेकार्थता में भेद है। इसीलिये हम लक्ष्यार्थ में व्यंग्यार्थ का समावेश नहीं कर सकते।

यहाँ पर कोई भी व्यक्ति यह तर्क कर सकता है कि लक्षणा को ही क्यों न नियत और अनियत दोनों विषयों में मान लिया जावे? केवल इतने के लिए एक पृथक् वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता? इस पर मेरा निवेदन है कि लक्षणा और व्यञ्जना में केवल इतना ही भेद नहीं होता, अपितु इसके अतिरिक्त भी कई अन्य बातों में भेद होता है। लक्षणा में

तारावती

नियमानुकूल मुख्यार्थबाध अवश्य होता है किन्तु व्यञ्जना में ऐसा नहीं होता। आचार्यों ने व्यञ्जना के दो भेद किये हैं (१) अविवक्षितवाच्य लक्षणामूलक ध्वनि और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूलक ध्वनि। प्रथम प्रकार में मुख्यार्थबाध होता है किन्तु द्वितीय प्रकार में मुख्यार्थबाध की अपेक्षा नहीं होती। लक्षणा के दो भेद किये जाते हैं—निरूढा और प्रयोजनवती। पहले बतलाया जा चुका है कि प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन की प्रतिपत्ति विना व्यञ्जना के नहीं हो सकती। उसके लिये व्यञ्जना का मानना अनिवार्य है। अतएव लक्षणा में व्यञ्जना का समावेश कथमपि सम्भव नहीं है।

अभिधा के समान ही व्यञ्जना में भी मुख्यार्थबाध इत्यादि तीन हेतुओं की आवश्यकता नहीं होती। लक्षणामूलक व्यञ्जना में लक्षणा के पीछे व्यञ्जना चलती है। पहले लक्षणा हो जाती है फिर प्रयोजनप्रतिपत्ति के लिये व्यञ्जना का आश्रय लिया जाता है। निमित्त और प्रयोजन कभी एक नहीं हो सकते। व्यञ्जना सर्वदा लक्षणा के पीछे ही चले ऐसा भी नहीं होता। क्योंकि अभिधामूलक व्यञ्जना में लक्षणा होती ही नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्यञ्जना सर्वदा अभिधा और लक्षणा दो में एक के पीछे चलती है। क्योंकि व्यञ्जना अर्थ की अपेक्षा से रहित वर्णमात्र में भी हो जाती है। कोमल, कठोर इत्यादि वर्णों से माधुर्य ओज इत्यादि गुणों की व्यञ्जना होती है और उससे रसादि की व्यञ्जना हो जाती है। यह भी नियम नहीं बनाया जा सकता कि व्यञ्जना सर्वदा शब्द के द्वारा ही होती है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि नायिका ने अपने नेत्र के इशारे से ही अपना मनोभाव सूचित कर दिया। यह सूचना केवल व्यञ्जनावृत्ति से ही हो सकती है। लक्षणा ऐसे स्थान पर हो ही नहीं सकती। संक्षेप में लक्षणा और व्यञ्जना में निम्नलिखित छः बातों में भेद होता है—

(१) व्यञ्जना के अर्थ अनन्त हो सकते हैं किन्तु लक्षणाजन्य अर्थ सीमित होते हैं।

(२) लक्ष्यार्थ सर्वदा शक्यार्थ से सम्बन्धित ही होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के लिये ऐसा कोई नियम नहीं।

(३) लक्षणा में शक्यार्थबाध होता है किन्तु व्यञ्जना में नहीं।

(४) प्रयोजनवती लक्षणा में व्यञ्जना लक्षणा के पीछे रहती है।

(५) अभिधा के समान व्यञ्जना में भी विशेष प्रकार के सकेतग्रह की अपेक्षा होती है किन्तु व्यञ्जना में नहीं होती।

(६) व्यञ्जना लक्षणा में भी होती है, अभिधा में भी होती है, वर्णमात्र में भी होती है और संकेतमात्र में भी होती है। लक्षणा का इतना विस्तार नहीं होता।

—धनिक की तात्पर्यवृत्ति और व्यञ्जना—

दशरूपककार धनञ्जय और अवलोक टीकाकार धनिक ने ध्वनिसिद्धान्त का अन्तर्भाव तात्पर्यवृत्ति में ही करने की चेष्टा की है। उनके कथन का सार इस प्रकार है:—'लौकिक

तारावती

वाक्यों में कहीं तो क्रिया सुनाई पड़ती है और कहीं नहीं सुनाई पड़ती । जैसे 'गाय लाओ' इस वाक्य में 'लाओ' यह क्रिया सुनाई पड़ती है किन्तु 'दरवाजा दरवाजा' इस वाक्य में 'बन्द करो' इस क्रिया का अर्थ ले लिया जाता है । इससे सिद्ध होता है कि चाहे क्रिया का उपादान वाच्यवृत्ति में हुआ हो अथवा उसका उपादान प्रकरण इत्यादि का सहारा लेकर बुद्धि में ही कर लिया गया हो, प्रत्येक अवस्था में उपचय को प्राप्त कराई हुई क्रिया ही वाक्य का अर्थ होती है । इसी प्रकार काव्यों में कहीं तो स्थायीभाव का साक्षात् उपादान होता है, जैसे 'नवोढा प्रियतमा मेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न कर रही है ।' यहाँ पर प्रेम का साक्षात् उपादान किया गया है । कहीं कहीं उसका साक्षात् उपादान नहीं होता, निश्चित रूप से केवल विभाव इत्यादि का उपादान ही होता है । किन्तु स्थायीभाव के अभाव में विभाव इत्यादि हो ही नहीं सकते । अतएव प्रकरण इत्यादि का आश्रय लेकर किसी भावक के चित्त में सञ्चरणशील होकर भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा प्रकट किये हुये अपने अपने विभाव अनुभाव और सञ्चारीभावों के द्वारा संस्कार-परम्परा से वह स्थायीभाव अत्यन्त प्रौढ हो जाता है । इस प्रकार वह स्थायीभाव ही वाक्यार्थ होता है ।

'यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि शब्दों के अर्थ को मिलाकर ही वाक्यार्थ बनता है । जो रति इत्यादि स्थायीभाव किसी शब्द का अर्थ नहीं हैं वे वाक्य का अर्थ कैसे हो सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान सदा कार्य में होता है । इसको इस प्रकार समझिये—'चाहे कोई वाक्य पौरुषेय हो चाहे अपौरुषेय, सभी वाक्य कार्यपरक होते हैं । यदि वाक्यों को कार्यपरक न माना जावे तो उन वाक्यों का प्रयोग ही व्यर्थ हो जावेगा और वे वाक्य पागलों की बकवासमात्र रह जावेंगे । अब यह प्रश्न होता है कि काव्य के शब्दों में प्रयोक्ता (कवि) और प्रयोज्य (रसिक) की प्रवृत्ति क्यों होती है ? जब काव्य के शब्द होते हैं तब अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है और जब काव्य के शब्द नहीं होते तब अलौकिक आनन्द की प्राप्ति नहीं होती । इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध हो जाता है कि अलौकिक आनन्द की प्राप्ति ही काव्यवाक्यों का कार्य होती है । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि काव्य की अभिधा शक्ति भिन्न-भिन्न रसों से आकृष्ट होकर उन रसों के लिये अपेक्षित विभाव इत्यादि का प्रतिपादन करती है और अन्त में उनका पर्यवसान रस में हुआ करता है । विभाव इत्यादि पदार्थ होते हैं और रस वाक्यार्थ होता है । इस प्रकार लौकिक वाक्य तो क्रियापरक होते हैं किन्तु काव्यवाक्य रसपरक ही होते हैं । यही इन दोनों का अन्तर है ।

'कुछ लोगों का कहना है कि यदि वाक्यार्थ स्वमात्रविश्रान्त हो जावे तब बाद में जो अर्थ निकलता है वह ध्वनि होती है । यदि वाक्यार्थ की परिसमाप्ति के पहले ही दूसरा अर्थ निकलता है तो वह तत्परक होकर तात्पर्य होता है ।' इस पर मेरा निवेदन यह है कि जबतक

तारावती

पूर्ण अर्थ नहीं निकल आता तबतक वाक्यार्थ की विश्रान्ति असम्भव है। 'तात्पर्य की विश्रान्ति किसी नियत अर्थ तक ही होती है, शेष अर्थ व्यङ्ग्य होता है' इसमें नियम कौन बनायेगा? तात्पर्य तराजू पर तौला हुआ तो होता नहीं कि इतना ही हो सकता है। उसका प्रसार वहाँ तक होता है जहाँतक पूर्ण कार्यपरता सिद्ध न हो जावे। वस्तुतः 'हे धार्मिक स्वच्छन्द होकर घूमो' इस वाक्य में श्रोता की आकांक्षापूर्ति विधिपरक अर्थ में हो जाती है, इसीलिये आप निषेधपरक अर्थ को व्यङ्ग्य कहते हैं। इसके प्रतिकूल वक्ता की इच्छापूर्ति निषेधपरक अर्थ में होती है, अतएव निषेध भी वाक्यार्थ माना जाना चाहिये।' यह है धनञ्जय तथा धनिक के मत का सार।

इस पर मेरा निवेदन यह है कि यह पहले दिखलाया जा चुका है कि ध्वनि केवल वाक्य में ही नहीं होती किन्तु पद में भी होती है, शब्द में भी होती है और पदांश में भी होती है। इसके अतिरिक्त ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ उच्चारण बिल्कुल नहीं होता। यदि रंगमञ्च पर कोई विदूषक अपनी विचित्र आकृति के प्रभाव से समस्त दर्शकों को हँसा दे तो बिना शब्द के ही वहाँ पर हास्यध्वनि हो जावेगी। ऐसे स्थानों का निर्वाह आप तात्पर्यवृत्ति के द्वारा नहीं कर सकते। दूसरी बात यह है कि तात्पर्यवृत्ति एक पारिभाषिक शब्द है। उसका परम्परागत अर्थ ही लेना होगा। अभिहितान्वयवादी अन्वित में शक्ति नहीं मानते। उनके मत में शक्ति के द्वारा केवल पदार्थोपस्थिति हो सकती है। अन्वयांश के लिए उन्हें पृथक् ही तात्पर्यवृत्ति माननी पड़ती है। जब तात्पर्य शब्द उक्त अर्थ में रूढ हो चुका तब उसे आप मनमाने स्थान पर प्रयुक्त नहीं कर सकते। आपकी तात्पर्यवृत्ति व्यञ्जना के बहुत निकट है। अतएव उसके लिए आपको तात्पर्य से भिन्न ही कोई वृत्ति माननी पड़ेगी और वही है व्यञ्जनावृत्ति।

—महिमभट्ट का अनुमितिवाद और व्यञ्जना—

नैय्यायिक महिम भट्टने अपने व्यक्तिविवेक ग्रन्थ में व्यञ्जना की अनुमान में गतार्थता दिखलाई है। काव्यप्रकाशकार ने उनके सिद्धान्त का सार इस प्रकार दिया है—'ऐसे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती जिसका सम्बन्ध वाच्यार्थ से न हो। यदि असम्बद्धार्थ भी प्रतीति का विषय हो जावे तो चाहे जिस शब्द से चाहे जो अर्थ निकलने लगे। अतएव मानना पड़ेगा कि व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा वाच्यसम्बद्ध अर्थ ही प्रतीतिगोचर होता है। अतएव इसकी एक व्याप्ति बन जाती है—'जहाँ जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ वाच्य का सम्बन्ध अवश्य होता है' यह है अन्वयव्याप्ति। 'जहाँ जहाँ वाच्य का सम्बन्ध नहीं होता वहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति भी नहीं होती' यह है व्यतिरेकव्याप्ति। स्वार्थानुमान में तीन शर्तें होती हैं—(१) सपक्ष में रहना, (२) विपक्ष में न रहना, (३) पक्ष में विद्यमान होना। तीनों शर्तें प्रस्तुत व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव के विषय में लागू हो जाती हैं। वाच्य का सम्बन्ध लिंग (हेतु) है और व्यङ्ग्यार्थप्रतीति लिंगी (साध्य) है। व्याप्ति के साथ पक्षधर्मता के ज्ञान से जो लिङ्गपरामर्श

तारावती

होता है उसी आधार पर वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। यही है अनुमान की प्रक्रिया। जब अनुमान द्वारा ही व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव गतार्थ हो जाता है तब उसके लिए व्यञ्जना नामक एक पृथक् वृत्ति मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस बात को ठीक रूप में समझने के लिए ध्वनिविरोधियों के प्रसिद्ध उदाहरण 'भ्रम धार्मिक .....' इत्यादि पद्य को ले लीजिये—यहां पर कुत्ते की निवृत्ति गोदावरी के तट पर सिंह की उपलब्धि के कारण अभ्रमण का अनुमान कराती है। उसको इस प्रकार समझिये—यहां पर व्याप्ति इस प्रकार होगी—'भीरुव्यक्ति का जितना भी भ्रमण है वह भय के समस्त कारणों की निवृत्ति के साथ होता है।' यह है अन्वयव्याप्ति। यहां पर भीरुभ्रमण साध्य है और भय के कारणों का अभाव हेतु है। इसकी व्यतिरेकव्याप्ति इस प्रकार होगी—'जहां भय के कारणों के अभाव का ज्ञान नहीं होता वहाँ भीरुभ्रमण भी नहीं होता।' अर्थात् जहाँ भय के कारण विद्यमान होते हैं वहाँ भ्रमण नहीं होता। गोदावरी के तट पर सिंह का भय विद्यमान है, अतएव वहाँ पर भ्रमण नहीं हो सकता। यहाँ पर गोदावरीतट पक्ष है। भय का कारण सिंह हेतु है, अभ्रमण साध्य है, घर उदाहरण है। (घर में भय का कारण नहीं है, अतएव भ्रमण किया जाता है।) इस प्रकार यहाँ पर अनुमान प्रमाण से भ्रमण का अभाव सिद्ध हो जाता है, उसके लिए व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। महिम भट्ट ने वस्तुव्यञ्जना के दूसरे उदाहरणों में भी अनुमान से प्रक्रिया दिखलाई है।

यह तो हुई वस्तुव्यञ्जना की बात। रसव्यंजना के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इसमें विभाव इत्यादि हेतु होते हैं और रस साध्य। उदाहरण के लिये राम का सीता के प्रति अनुराग व्यक्त होता है। उसमें अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी–'राम सीताविषयक रति से युक्त हैं, क्योंकि उनमें स्थित कटाक्ष इत्यादि अपूर्व मात्रा में विद्यमान हैं, जहाँ स्मित कटाक्षादि अपूर्व मात्रा में विद्यमान होते हैं वहाँ रमणीविषयक रति विद्यमान होती है, जैसे दुष्यन्त की रति शकुन्तला के प्रति, उसीप्रकार राम में भी चेष्टायें हैं, अतएव राम भी सीताविषयक रतिमान् हैं। यह साध्यसिद्धि अन्वयव्याप्ति के द्वारा हुई है। व्यतिरेकव्याप्ति से साध्यसिद्धि इस प्रकार होगी–'जहाँ रमणीविषयक रति नहीं होती वहाँ अपूर्व स्मित कटाक्षादि भी नहीं होते। जैसे लक्ष्मण में रमणीविषयक रति नहीं है अतः उनमें कटाक्षादि भी नहीं हैं। इस प्रकार सर्वत्र अनुमान से ही काम चल सकता है, व्यंजनावृत्ति मानना व्यर्थ है।'

ऊपर महिम भट्ट के सिद्धान्त का सार दिया गया है। इस पर ध्वनिवादी का कहना है कि—'आपने साध्यसिद्धि के लिये जो हेतु दिये हैं वे हेत्वाभासमात्र हैं। 'भ्रम धार्मिक.....' में आप कहते हैं कि भ्रमण और भय हेतुओं के अभाव में व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध है। इसपर मेरा प्रश्न यह है कि गाथा की नायिका जिस व्यक्ति को सिंह की बात कहकर भ्रमण से रोकना चाहती है वह भीरु है या वीर है? ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं जिनसे भीरु

लोचनम्

येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न न विदितं तत्त्वालोक ग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्।

और उन लोगों को भी जो अविभक्त स्फोट, वाक्य, तथा उसका (अविभक्त) अर्थ मानते हैं. उन्हें भी अविद्या के मार्ग में (व्यवहार मार्ग में) आने पर इस समस्त प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा। उसको उत्तीर्ण करलेने पर (व्यवहार-मार्ग को छोड़ देने पर) समी कुछ ब्रह्माद्वैत ही है यह बात तत्त्वालोक ग्रन्थ की रचना करनेवाले हमारे शास्त्रकार ने नहीं जान पाई थी यह बात नही है बस अधिक कहने की क्या आवश्यकता?

तारावती

व्यक्ति को भय के स्थानों पर भी भ्रमण करना पड़े। गुरु की आज्ञा, स्वामी की आज्ञा, प्रेयसी का प्रेम इत्यादि ऐसे कारण हैं जिनसे भय के स्थान पर भी भीरु व्यक्ति भ्रमण करता हुआ पाया जा सकता है। अतएव जहां भी भीरुभ्रमण होता है वहाँ भय का कारण सन्निहित नहीं होता, इस व्याप्ति में हेतु की अनैकान्तिकता के कारण सव्यभिचार हेत्वाभास हो गया। यदि निषेध्य व्यक्ति वीर है तो यहाँ पर विरुद्ध हेत्वाभास हो जावेगा। विरुद्ध हेत्वाभास वहाँ पर होता है जहाँ हेतु साध्य के अभाव को सिद्ध करे। यहाँ पर अभ्रमण साध्य है, उसका अभाव इस आधार पर सिद्ध किया जा सकता है कि जहाँ कहीं शेर इत्यादि जीव होते हैं यहां वीर व्यक्ति उसका वध करने के लिये भ्रमण किया ही करते हैं। यह तो हो ही सकता है कि कुत्ते के स्पर्श भय से अथवा उसके मारने में यश न होने के कारण वीर व्यक्ति कुत्तें से डरे, किन्तु जहां उसे सिंह का ज्ञान हो जावे वहाँ वह निर्भय होकर घूमा करे। ऐसी दशा में भय का कारण अभ्रमण में हेतु हो ही नहीं सकता। अनुमान के लिये पक्षधर्मता का निश्चित होना सबसे बड़ी शर्त है। जब तक यह पूर्ण रूप से निश्चित नहीं होगा कि पर्वत से धुँआ उठ रहा है तबतक उसके आधार पर पर्वत में आग सिद्ध हो ही नहीं सकती। यदि हेतु को ही सिद्ध करने की आवश्यकता पड़े तो असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। यहाँ पर गोदावरी के तट पर सिंह का होना हेतु है। किन्तु यह स्वयं सिद्ध नहीं है कि वहाँ पर सिंह है भी या नहीं है, सिंह का होना एक कुलटा के वचनों से सिद्ध होता है। कुलटा के वचनों का प्रमाण ही क्या? इस प्रकार यहाँ पर अर्थ से निश्चित सम्बन्ध न होने के कारण असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है और साध्य सिद्धि हो ही नहीं सकती, अतएव अनुमान से उक्त उदाहरण गतार्थ नहीं हो सकता।

अब रसप्रक्रिया को ले लीजिये। कटाक्ष इत्यादि से राम के रतिभाव का अनुमान तो हो सकता है किन्तु यहाँ पर राम के रतिभाव का प्रश्न नहीं है। यहाँ पर प्रश्न यह है कि राम के रतिभाव से सहृदय परिशीलकों के हृदयों में जो कौतूहल मिश्रित आनन्द उत्पन्न हो

तारावती

जाता है उसकी व्याख्या किस प्रकार की जावे ? निश्चित ही है कि उसकी प्रतीति अनुमान से हो ही नहीं सकती, उसके लिये व्यंजनावृत्ति माननी ही पड़ेगी। इस प्रकार महिम भट्ट का सिद्धान्त सर्वथा निस्सार सिद्ध हो जाता है।

—वेदान्तियों और वैय्याकरणों का अखण्डतावाद और व्यञ्जना—

जो लोग यह कहते हैं कि अखण्ड स्फोट ही वाचक होता है और वही वाच्य होता है, उन्हें भी व्यवहार मार्ग में आकर इस समस्त प्रक्रिया का आश्रय लेना ही पड़ेगा। व्यवहार मार्ग का अतिक्रमण कर परमार्थ सत्ता को ही स्वीकार करनेवालों के लिये तो सभी कुछ परमात्मा से अद्वैत ब्रह्ममात्र ही है, यह बात हमारे शास्त्रकार, तत्त्वालोक ग्रंथ की रचना करने वाले आनन्दवर्धनाचार्य को ज्ञात न हो यह बात नहीं है।

[अखण्डतावादी दो हैं—एक तो वेदान्ती, दूसरे वैय्याकरण। इनके मत का सार निम्नलिखित है:—

वेदान्ती लोग 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर अखण्ड ब्रह्म की सत्ता मानकर बाह्य सृष्टि का निषेध करते हैं। उसीप्रकार अखण्ड बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने योग्य परब्रह्मात्मक वाक्यार्थ को ही वाच्य मानते हैं और इस प्रकार की बुद्धि में निमित्त वाक्य को ही वाचक मानते हैं। इन लोगों का आशय यह है कि क्रिया-कारक भाव तब तक सम्भव नहीं है जब तक धर्म और धर्मी का भाव अङ्गीकृत न कर लिया जावे। धर्म-धर्मी भाव संसार के मिथ्या होने से असम्भव है। ब्रह्म सभी प्रकार के धर्मों से रहित है और ब्रह्म की सत्ता ही सत्य है। अतएव पद-पदार्थ विभाग के बिना ही अखण्ड महावाक्य ही अखण्ड ब्रह्म का बोधक होता है। इस प्रकार वाक्यगम्य व्यंग्यार्थ में भी वाक्य की ही शक्ति होती है। अतएव वेदान्तियों के मत में व्यंजना वृत्ति समीचीन नहीं कही जा सकती। इनके मत में वाक्य से भी अभिधेय, लक्ष्य, व्यंग्य या व्यंग्य से भी बढ़ कर जितना भी अर्थ निकलता है उस समस्त अर्थ में वाक्य की ही शक्ति होती है। वाच्य लक्ष्य व्यंग्य इत्यादि विभेद वेदान्त मत के प्रतिकूल हैं।

वेदान्तियों से ही मिलता-जुलता वैय्याकरणों का भी मत है। वैय्याकरण अखण्ड स्फोट को ही वाच्य मानते हैं। उनके मत में शब्द के दो भाग होते हैं ध्वनि और स्फोट। ध्वनि हमें सुनाई देती है किन्तु उसका वाच्य स्फोट हुआ करता है। भेद ध्वनि में होता है स्फोट में नहीं। नाभि से चलने वाली वायु मुखगह्वर से बाहर निकल कर ध्वनि उत्पन्न किया करती है। 'क' 'ख' 'ग' इत्यादि भेद मुख गह्वर में ही होता है, इसके पहले सभी वर्ण अखण्ड तथा एकरूप होते हैं। यह दशा स्फोटावस्था की होती है। नागेशभट्ट ने मञ्जूषा में लिखा है—'तत्र वाक्यस्फोटो मुख्यो लोके तेनैवार्थबोधात्तेनैवार्थसमाप्तेश्च' अर्थात् लोक में वाक्यस्फोट मुख्य होता है क्योंकि वाक्य से ही अर्थबोध होता है और वाक्य से ही अर्थ की समाप्ति होती है। जिस

तारावती

प्रकार घट शब्द में चार वर्ण हैं—'घ्' 'अ' 'ट्' 'अ' इन चारों वर्णों का पृथक्-पृथक् कोई अर्थ नहीं, उसी प्रकार 'रामः घटम् आनयति' में पृथक्-पृथक् शब्दों का कोई अर्थ नहीं। समस्त अखण्ड वाक्य ही सार्थक होता है, वाक्यान्तर्गत शब्द सर्वथा निरर्थक होते हैं। इसीलिए वैय्याकरण अक्षरों में विकार नहीं मानते। इत्यादि शब्द में 'इ' के लिए 'य' नहीं होता किन्तु 'इति+आदि' इस समूह के स्थान पर 'इत्यादि' यह पूरा समूह हो जाता है। इसीलिए वैय्याकरण 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' का सिद्धान्त मानते हैं। इनका कहना है कि प्रत्येक वाच्य प्रत्येक अर्थ का वाचक हो सकता है। इस प्रकार इनके भी मत में अभिधा इत्यादि भेद मानना ठीक नहीं।

उक्त अखण्डतावादियों के सिद्धान्त के विषय में मुझे यह कहना है कि वेदान्ती लोग अखण्ड ब्रह्म को मानते हुए भी व्यवहारदशा में वस्तुसत्ता मानते ही हैं। अविद्यावश सांसारिक पदार्थों का भान होता है जिससे व्यवहार चलता रहता है। इस व्यवहारदशा के लिए उन्हें भी पद-पदार्थ कल्पना करनी पड़ती है। इसीलिए कहा गया है—'अनवयवमेव वाक्यमनाद्यविद्योपदर्शितालीकपदवर्णविभागमस्या लिङ्गम्।' अर्थात् वाक्य सर्वथा अनवयव ही होता है। उसमें अविद्या के कारण पद तथा वर्ण की कल्पना कर ली जाती है और वे असत्य पद तथा वर्ण ही व्यवहार दशा में उस वाक्य में कारण होते हैं। इसीलिए प्रसिद्ध है कि 'व्यवहारे भट्टनयः' व्यवहार दशा में कुमारिल भट्ट की नीति का अनुसरण किया जाता है। भट्टमत में व्यंजना की क्यों आवश्यकता है यह पहले ही बतलाया जा चुका है।

वैय्याकरणों के मत में भी समस्त वाक्यों के समस्त अर्थ बतला देना असम्भव है। अतएव पदों और वर्णों की कल्पना कर ली जाती है। प्रक्रिया दशा में उन्हें भी वाक्य को शब्दों में और शब्दों को वर्णों में तोड़ना पड़ता है। अन्यथा व्यवहार का निर्वाह नहीं हो सकता। ऐसी दशा में उन्हें भी अभिधा इत्यादि वृत्तियाँ माननी पड़ेंगी और व्यंजना का वे भी अपलाप नहीं कर सकते। भर्तृहरि ने कहा है—'प्रकृति प्रत्यय या पद इत्यादि जितने भी विभाग हैं उनको सिद्ध करने के जितने भी उपाय हैं वे सब शिक्षणीय बालकों का उपलालन मात्र हैं। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति असत्य मार्ग में रहकर सत्य को प्राप्त कर लेता है।' आशय यह कि जिस प्रकार खेल में बच्चे विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ बनाया करते हैं अथवा उन्हें शिक्षा देने के लिए गङ्गा इत्यादि की आकृतियाँ बनाकर समझा दिया जाता है, बाद में वे वास्तविक गङ्गा इत्यादि का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार प्यार के साथ बालकों को शिक्षा देने के लिए एक वर्ण विभाग की कल्पना कर ली जाती है और उनको सिद्ध करने के लिये प्रकृति-प्रत्यय इत्यादि अनेक उपाय काम में लाये जाते हैं। इस प्रकार असत्य मार्ग पर चलकर वे सत्य मार्ग अर्थात् वाक्यस्फोट तक पहुँच जाते हैं। अतएव प्रक्रिया दशा में वैय्याकरणों को भी व्यंजनावृत्ति स्वीकार करनी ही पड़ेगी। वे उसका कथमपि निषेध नहीं कर सकते।

लोचनम्

यत्तु भट्टनायकेनोक्तम्—इह दृप्तसिंहादिपदप्रयोगे च धार्मिकपदप्रयोगे च भयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः। तदीयभीरुवीरत्वप्रकृतिनियमावगममन्तरेणैकान्ततो निषेधावगत्यभावादिति, तन्न; केवलार्थसामर्थ्यं निषेधावगतेर्निमित्तमिति। तत्रोच्यते—केनोक्तमेतत् 'वक्तृप्रतिपत्तृविशेषावगमविरहेण शब्दगतध्वननव्यापारविरहेण च निषेधावगतिः' इति। प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं अस्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम्। भयानकरसावेशश्च न निवार्यते, तस्य भयमात्रोत्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रतिपत्तुश्च रसावेशो रसाभिव्यक्त्यैव। रसश्च व्यङ्ग्य एव, तस्य च शब्दावाच्यत्वं तेनापि नोपगतमिति व्यङ्ग्यत्वमेव। प्रतिपत्तुरपि रसावेशो न नियतः, नह्यसौ नियमेन भीरुधार्मिकसब्रह्मचारी सहृदयः।

जो कि भट्टनायक के द्वारा कहा गया है—यहाँ पर दृप्तसिंह इत्यादि शब्द के प्रयोग में तथा धार्मिक इत्यादि शब्द के प्रयोग में भयानक रस के आवेश से उद्भूत निषेध की ही प्रतीति होती है। उसके भीरु या वीर स्वभाव के नियम के बिना जाने हुए एकान्ततः निषेध की अवगति हो ही नहीं सकती; अतएव केवल अर्थसामर्थ्य ही निषेधावगति में निमित्त नहीं है।' यहाँ पर कहा जा रहा है—यह किसने कहा कि वक्ता तथा प्रतिपत्ता की विशेषता के ज्ञान के बिना ही शब्दगत ध्वननव्यापार के अभाव मे ही निषेध की अवगति होती है। प्रतिपत्ता की प्रतिभा के सहकार का होना हम लोगों ने द्योतन के प्राण के रूप में कहा है। भयानक रस के आवेश का भी निवारण नहीं किया जा रहा है क्योंकि उस (धार्मिक) की भयमात्र की उत्पत्ति मान ली गई है। प्रतिपत्ता का रसाभिनिवेश रस की अभिव्यक्ति के द्वारा ही होता है और रस व्यङ्ग्य ही होता है। उसकी शब्दवाच्यता तो उनके द्वारा भी स्वीकृत नहीं की गई है। अतः व्यंगत्व ही है। प्रतिपत्ता का रसावेश नियत नहीं है। यह सहृदय नियमतः भीरु धार्मिक के सदृश ही नहीं है।

तारावती

—दूसरे प्रमाण तथा व्यञ्जना—

ऊपर दिखलाया जा चुका है कि शब्द की विभिन्न वृत्तियाँ, अनुमान प्रमाण तथा अखण्डतावाद व्यञ्जना को आत्मसात् नहीं कर सकते। इसीप्रकार दूसरे प्रमाणों से भी व्यंजना गतार्थ नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियाँ करण होती हैं और जो ज्ञान इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में न तो सिंह ही सन्निहित है जिससे उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सके और न नायिका अपने मुख से ही कहती है कि—'हे महात्मन्! अब तुम गोदावरी तट पर भ्रमण करने मत जाया करो क्योंकि तुम्हारे वहाँ जाने से हम लोगों की प्रेमलीला में विघ्न पड़ता है।' इस प्रकार यहाँ पर श्रावण प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। उपमान प्रमाण में सादृश्य ज्ञान करण होता है यहाँ पर सादृश्य ज्ञान है

तारावती

ही नहीं। इस प्रकार नायिका का उद्देश्य उपमान प्रमाण का विषय भी नहीं हो सकता। रस वस्तु तथा अलङ्कार की अभिव्यक्ति अर्थापत्तिजन्य भी नहीं कही जा सकती। अर्थापत्ति वहीं पर होती है जहाँ पर अर्थ अनुपपन्न हो रहा हो। जैसे 'स्थूल देवदत्त दिन में नहीं खाता' बिना भोजन के स्थूलता उपपन्न हो ही नहीं सकती। इसीलिये अर्थापत्ति से रात्रि भोजन का बोध हो जाता है। यदि यहाँ पर भी बिना रस इत्यादि को प्रतीति के वाक्य अनुपपन्न हो तब तो अर्थापत्ति हो सकती है। किन्तु अर्थ यहाँ पर अनुपपन्न नहीं होता। इसीलिये व्यन्जना अर्थापत्ति का विषय नहीं हो सकता। रसादि की प्रतीति काल्पनिक भी नहीं हो सकती। यदि रस काल्पनिक हों तो कल्पना करनेवालों को तो आस्वादन हो, एक नीति से सभी सहृदयों को एकसा रसास्वादन कभी न हो। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति केवल व्यन्जनाजन्य हो सकती है उसका समावेश न तो शब्द की किसी दूसरी वृत्ति में हो सकता है और न वह दूसरे प्रमाणों से ही गतार्थ हो सकती है। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में भ्रमण निषेध के लिये व्यन्जनावृत्ति अनिवार्य हो जाती है]।

भट्ट नायक ने प्रस्तुत पद्य—'भ्रम धार्मिक···' इत्यादि का उदाहरण देकर लिखा है—'यहाँ पर सिंह के लिए उद्धत विशेषण दिया गया है और व्यक्ति धार्मिक सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है। इन दोनों शब्दों के आधार पर भयानक रस को प्रतीति होती है और उसीसे निषेध का बोध होता है। जबतक यह न मालूम पड़ जावे कि भ्रमणशील व्यक्ति वीरप्रकृति-वाला है या डरपोक है तबतक निषेध की प्रतीति हो ही नहीं सकती। अतएव केवल अर्थ सामर्थ्य को निषेधप्रतीति का कारण मानना सर्वथा असङ्गत है।' इस पर निवेदन है कि यह तो हम भी नहीं कहते कि वक्ता और श्रोता को विशेषताज्ञान और शब्द के ध्वननव्यापार के अभाव में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। हम तो रसास्वादन करनेवाले सहृदय की प्रतिभा को व्यन्जना का प्रमाण मानते हैं। हमें प्रस्तुत उदाहरण में भयानक रस के अङ्गीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं। किन्तु यह भयानकता केवल सम्बोध्य (धार्मिक) के हृदय में भय का सञ्चार कर सकती है, रसरूपता को धारण नहीं कर सकती। भय की रसरूपता तभी स्वीकार की जा सकती है जब कि परिशीलकों को उसका आस्वादन हो। रसास्वादन तभी हो सकता है जब कि रस अभिव्यक्त हो। यह तो भट्टनायक ने भी नहीं माना कि रस कभी भी शब्दवाच्य हो सकता है। अतएव मानना ही पड़ेगा कि रस, सर्वथा व्यङ्ग्य ही होता है। यहाँ पर सहृदय के लिये रसानुवेश निश्चित नहीं है, क्योंकि सहृदय व्यक्ति भीरु धार्मिक के समान यह तो नहीं समझता कि उसे भी कहीं शेर मिल जायेगा।

यहाँ पर आप कह सकते हैं कि सहृदय की विशेषता भी भयानक रसाभिव्यक्ति में सहकारी कारण होती है अर्थात् जहाँपर धार्मिक के समान सहृदय व्यक्ति भी भीरु प्रकृति का होता है वहाँ पर भयानकरसाभिव्यक्ति हो सकती है। इस पर मेरा निवेदन यह है कि इतनी

लोचनम्

अथ तद्विशेषोऽपि सहकारी कल्प्यते, तर्हि वक्तृप्रतिपत्तृप्रतिभाऽनुप्राणितो ध्वननव्यापारः किं न सह्यते । किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम् । यदाह—'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः' इति । अथ रसस्यैवेयता प्राधान्यमुक्तम्, तत्को न सहते । अथ वस्तु-मात्रध्वनेरेतदुदाहरणं न युक्तमित्युच्यते तथापि काव्योदाहरणत्वाद्द्वावप्यत्र ध्वनी स्तः को दोषः ?

यदि तु रसानुवेधेन विना न तुष्यति, तत् भयानकरसानुवेधो नात्र सहृद-यहृदयदर्पणमध्यास्ते, अपितु उक्तनीत्या सम्भोगाभिलाषविभावसङ्केतस्थानो-चितविशिष्टकाक्वाद्यनुभावशबलनोदितशृङ्गाररसानुवेधः । रसस्यालौकिकत्वात्ता-वन्मात्रादेव चानवगमात्प्रथमं निर्विवादसिद्धविवक्तविधिनिषेधप्रदर्शनाभिप्रायेण चैतद्वस्तुध्वनेरुदाहरणं दत्तम् ।

यदि उसकी विशेषता भी सहकारी मानी जावे तो वक्ता और प्रतिपत्ता की प्रतिभा से अनुप्राणित ध्वननव्यापार ही सहन क्यों नहीं कर लिया जाता । दूसरी बात यह है कि वस्तु ध्वनि में दोष दिखलाते हुये उसके अनुग्राहक के रूप में रसध्वनि का समर्थन कर दिया गया, यह ध्वनि का बहुत ही अच्छा ध्वंस हुआ । जैसा कि कहा गया है—'देव का क्रोध भी वर-दान के समान है ।' यदि इस (कथन) से रस की ही प्रधानता बतलाई गई है तो उसे कौन नहीं सहता । यदि 'वस्तुमात्रध्वनि का यह उदाहरण उचित नहीं है' यह कहा जाता है तथापि काव्य का उदाहरण होने के कारण यहाँ पर दोनों ही ध्वनियाँ हों; क्या दोष है ?

और यदि रसानुवेध के बिना सन्तोष न होता हो तो भयानक रसानुवेध सहृदय हृदय-दर्पण में आरूढ़ नहीं होता अपितु उक्त नीति से सम्भोगाभिलाषरूप विभाव, संकेतस्थान के योग्य विशिष्ट काकु इत्यादि अनुभाव के एकत्रीभूत सम्मिश्रण से उत्पन्न शृङ्गार रसानुवेध ही (मानना उचित है) । रस के अलौकिक होने के कारण केवल उतने से ही अवगम न हो सकने से निर्विवाद सिद्ध तथा (परस्पर) भेदपरक विधिनिषेध के प्रदर्शन के अभिप्राय से यह वस्तुध्वनि का उदाहरण दे दिया गया है ।

तारावती

कल्पनायें और इतना सरदर्द मोल लेने से तो यही अच्छा है कि वक्ता श्रोता तथा सहृदय की प्रतिभा से अनुप्राणित ध्वननव्यापार को ही आप क्यों नहीं मान लेते ? दूसरी बात यह है कि आपने वस्तुध्वनि का तो खण्डन किया, किन्तु उसकी सहायिका रसध्वनि को आपने स्वीकार कर लिया । यह आपका ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन बड़ा ही अच्छा रहा । ठीक ही कहा गया है कि आपका तो क्रोध भी हमारे लिये वरदान ही सिद्ध हुआ । यदि कहो कि यहाँपर रस की प्रधानता है, तो इसमें भी मेरी कोई हानि नहीं । आप यहाँ पर कह सकते

लोचनम्

यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वननमवोचत् स नास्माकं हृदयमावर्जयति। यदाहुः 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इति। तदेतदग्रे यथायथं प्रतनिष्याम इत्यास्तां तावत्। भ्रमेति—अतिसृष्टोऽसि प्राप्तस्ते भ्रमणकालः। धार्मिकेति। कुसुमाद्युपकरणार्थं युक्त ते भ्रमणम्। विश्रब्ध इति। शंकाकारणवैकल्यात्। स इति। यस्ते भयप्रकम्पामङ्गलतिकामकृत। अद्येति। दिष्ट्या वर्धस इत्यर्थः। मारित इति। पुनरस्यानुत्थानम्। तेनेति। यः पूर्वं कर्णोपकर्णिकया त्वयाप्याकर्णितो गोदावरीकच्छगहने प्रतिवसतीति। पूर्वमेव हि

और जिसने ध्वनिव्याख्यान के लिये उद्यत होकर तात्पर्यशक्ति को ही अथवा विवक्षासूचकत्व को ही ध्वननव्यापार कहा वह मेरे हृदय को अपने अनुकूल नहीं बना रहा। जैसा कि कहा है—'लोक भिन्नरुचियों वाला होता है।' तो इसको आगे यथा स्थान ठीक-ठीक विस्तारपूर्वक बतलावेंगे। और अधिक विस्तार को कोई आवश्यकता नहीं। भ्रमेति। तुम्हें अनुमति दे दी गई है; तुम्हारे भ्रमण का समय आ गया है। धार्मिकेति। कुसुम इत्यादि के उपकरणों के लिये तुम्हारा भ्रमण उचित है। 'विश्रब्ध' यह शंका के कारणों के अभाव के कारण (कहा गया है)। वह अर्थात् जो तम्हारी अङ्गलतिका को भय से प्रकम्पित कर देता था। 'आज' अर्थात् सौभाग्य से तुम आप्तकाम हो गये हो। 'मारडाला है' अर्थात् इसका पुनः उत्थान नहीं (सम्भावित है)। 'उसके द्वारा' अर्थात् जों पहले श्रुतिपरम्परा से तुमने भी सुना है कि गोदावरी के तट पर वन में रहता है। पहले हो उस (संकेतस्थान) की

तारावती

हैं कि 'मुझे आपत्ति केवल यह है कि यह उदाहरण एकमात्र वस्तुध्वनि का नहीं हो सकता। इसपर मेरा निवेदन है कि यहाँ पर दोनों ही ध्वनियाँ स्वीकार की जा सकती हैं। क्योंकि यह पद्य तो काव्य के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है अतएव दोनों ध्वनियों को मानने में क्या दोष ? यह आप की इच्छा है कि आप इसे वस्तु या रस किसी भी ध्वनि के उदाहरण के रूप में उद्धृत करें।

यदि आपको रसानुवेध के विना सन्तोष न हो तो भी यहाँ पर सहृदयों के आस्वादन में भयानक रसानुवेध कारण नहीं होता। किन्तु सम्भोग की अभिलाषा को व्यक्त करनेवाला संकेतस्थान यहाँ पर उद्दीपन विभाव है और उसी के अनुसार विशेष प्रकार को कण्ठध्वनि अनुभाव है। इसके सम्मिश्रण से पुष्ट होकर रतिस्थायीभाव ही शृंगाररूपमें परिणत होकर आस्वादन में कारण होता है। रस अलौकिक होता है और केवल उन्हीं शब्दों के आधार पर उसका अवगमन नहीं हो सकता, इसीलिये इस पद्य को रस के उदाहरण के रूप में न रखकर विधि के स्थान पर निषेधरूप निर्विवाद सिद्ध वस्तुध्वनि के उदाहरण के रूप में रक्खा गया।

लोचनम्

तद्रक्षायै तत्तयोपश्रावितोऽसौ, स चाधुना तु दृप्तत्वात्ततो गहनान्निस्सरतीति प्रसिद्धगोदावरीतीरपरिसरानुसरणमपि तावत्कथाशेषीभूतं का कथा तल्लतागहन-प्रवेशशङ्कयेतिभावः।

रक्षा के लिये इस धार्मिक को उस सिंह के निवास की बात उस नायिका द्वारा सुना दी गई थी; वह इस समय तो दृप्त होने के कारण उस वन से निकलता है अतः प्रसिद्ध गोदावरी के तट के विस्तार में तुम्हारा घूमना भी कथा-शेष हो गया है, उस लतागहन के प्रवेश की शङ्का की ही क्या बात ?

तारावती

ध्वनि की व्याख्या करने के लिये उद्यत एक महाशय ने लिखा है—'या तो तात्पर्यशक्ति को ध्वनि कहते हैं या विवक्षित अर्थ के अनुमान लगाने को।' यह व्याख्या मुझे रुचिकर प्रतीत नहीं होती। कालिदास ने कहा है कि 'लोगों की रुचियाँ भिन्न प्रकार की होती हैं।' इस सबकी क्रमशः विस्तारपूर्वक व्याख्या की जावेगी।

यहाँपर 'भ्रम' का वाच्यार्थ है—मैं तुम्हें स्वच्छन्दविचरण की अनुमति दे रही हूँ, अब तुम्हारे भ्रमण का समय आ गया है (व्यंग्यार्थ है तुम्हें वहाँ नहीं जाना चाहिये) 'धार्मिक' सम्बोधन का वाच्यार्थ है धर्म करनेवाले अर्थात् कुश-समिधा इत्यादि पूजनसामग्री के लिये तुम्हें वहाँ जाना ही है (व्यंग्यार्थ–तुम धर्म करना जानते हो, तुम्हें इस प्रकार के भय का सामना नहीं करना चाहिये।) 'विश्रब्ध' का वाच्यार्थ है-तुम्हारे भय और आशंका का कारण कुत्ता नष्ट हो गया अब तुम आश्वस्त रहो। (व्यंग्यार्थ है अभीतक तुम कुत्ते से ही डरते थे अब वहाँ शेर आ गया है; अब तुम्हें आश्वस्त बिल्कुल नहीं रहना चाहिये।) 'सः' का वाच्यार्थ है जिस कुत्ते के कारण तुम्हारी अंगलता काँपने लगती थी। (व्यंग्यार्थ है–जब उस तुच्छ कुत्ते का ही तुम सामना नहीं कर पाते थे तब सिंह के सामने जानेपर तुम्हारी क्या दशा हो जावेगी।) 'अद्य' का वाच्य अर्थ है आज तुम भाग्यशाली हो जो कि तुम्हारा भय का कारण दूर हो गया। (व्यंग्यार्थ है–शेर ने आज ही तो कुत्ते को मारा है; अभी वह यहीं है; कहीं दूर नहीं गया)। 'मारितः' का वाच्य अर्थ है मार डाला गया और व्यंग्यार्थ है शेर भोजन की तलाश में आता ही है पुनः नहीं आवेगा यह निश्चित नहीं है। 'तेन' 'उस' सिंह का संकेतवाचक विशेषण है। इसका व्यंग्यार्थ है–नायिका ने सखी इत्यादि के द्वारा पहले ही उस सिंह के गोदावरी तट पर कुञ्ज में निवास की सूचना भेज दी थी। अब वह स्वयं कह रही है कि सिंह के गोदावरी तट पर निवास की बात तो तुम सुन ही चुके हो। अब तक वह सिंह कुञ्ज में ही रहता था, अब ऐसा उद्धत हो गया है कि दिन में भी निकल कर पशुवध किया करता है। अतएव तुम्हारे लता-वन में प्रवेश की शंका तो दूर रही तुम्हारा गोदावरी परिसर पर भ्रमण करना भी कथाशेष हो गया है। इस प्रकार वाच्यार्थ विधिपरक है और व्यंग्यार्थ निषेधपरक।

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ।।

(अनु०) कहीं कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेधपरक होता है और व्यंग्यार्थ विधिपरक । जैसेः—'हे पथिक ! दिन थोड़ा ही शेष रह गया है । अतएव भलीभाँति देखलो; यहाँ पर मेरी सास निद्रासागर में डूबी पड़ी रहती है । और इस स्थान पर मैं सोती हूँ । तुम रात में अन्धे हो जाते हो (तुम्हें रतौंधी आती है) । कहीं हम लोगों की चारपाई पर न आ गिरना ।

लोचनम्

अत्ता इति ।

श्वश्रूरत्र शेते (अथवा निमज्जति) अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक राज्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः ।।

मह इति निपातोऽनेकार्थवृत्तिरत्रावयोरित्यर्थे न तु ममेति । एवं हि विशेषवचनमेव शङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात् । काञ्चित्प्रोषितपतिकां तरुणीमवलोक्य प्रवृद्धमदनाङ्कुरः सम्पन्नः पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाभ्युपगत इति निषेधाभावोऽत्र विधिः । न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रवृत्तवर्तनास्वभावः सौभाग्याभिमानखण्डनाप्रसङ्गात् । अत एव राज्यन्धेति समुचितसमयसम्भाव्यमानविकाराकुलितत्वं ध्वनितम् । भावतदभावयोश्च साक्षाद्विरोधाद्व्यङ्ग्यस्य स्फुटमेवान्यत्वम् ।

अत्ता इति । श्वश्रू इत्यादि छायानुवाद है । 'मह' यह निपात बहुवचन के अर्थ का द्योतक है, यहाँ पर 'हम दोनों के' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है 'मम' (मेरे) इस अर्थ में नहीं । ऐसे तो विशेष रूप से एकवचन का प्रयोग ही शङ्का पैदा करनेवाला हो जावेगा, अतः प्रच्छन्न अभ्युपगम नहीं हो सकेगा । किसी प्रोषितपतिका तरुणी को देखकर पथिक प्रवृद्ध कामाङ्कुरवाला हो गया (तथा) इस निषेध के द्वारा उसको स्वीकृति दे दी गई; इस प्रकार यहाँ पर विधि निषेध का अभावरूप ही है निमन्त्रणरूप अप्रवृत्त को प्रवर्तित करने के स्वभाववाली नहीं है, क्योंकि उससे (नायिका के) सौभाग्याभिमान का खण्डन प्रसक्त हो जाता है । अतएव 'राज्यन्ध' कहकर समुचित समय पर विकार की आकुलता की सम्भावना ध्वनित कर दी गई । सत्ता तथा उसके अभाव में साक्षात् विरोध होने के कारण वाच्य से व्यङ्ग्य स्पष्ट ही अन्य है ।

तारावती

अब दूसरा उदाहरण लीजिये—कोई पथिक कहीं रात्रि में विश्राम करना चाहता है । अकस्मात् उसकी दृष्टि किसी नवयुवती पर पड़ती है । युवती प्रोषितपतिका है । (उसका नवयौवन तथा प्रोषिता होना दोनों बातें पथिक के अनुकूल हैं ।) अतः वह कामान्मत्त हो

लोचनम्

यत्त्वाह भट्टनायकः—'अहमित्यभिनयविशेषेणात्मदशावेदनाच्छाब्दमेतद-पीति'। तत्राहमितिशब्दस्य तावन्नायं साक्षादर्थः। काक्वादिसहायस्य च तावति ध्वननमेव व्यापार इति ध्वनेर्भूषणमेतत्। अत्तेति प्रयत्नेनानिभृत-

जो कि भट्टनायक ने कहा है—'अहम्' इस अभिनयविशेष से आत्मदशा का आवेदन करने के कारण यह भी शाब्दिक कथन ही है। वहाँ 'अहम्' इस शब्द का यह साक्षात् अर्थ तो है नहीं। काकु इत्यादि की सहायता से तो उस अर्थ में ध्वनन ही व्यापार होगा, इस प्रकार यह ध्वनि का भूषण है। 'अत्ता' यह कथन प्रयत्नपूर्वक अनिभृत सम्भोग का परि-

तारावती

जाता है। युवती पथिक की कामना को समझकर कह रही है कि 'हे पथिक दिन में तुम मेरे और सास के सोने के स्थान को देख लो। रात में कहीं हम लोगों की चारपाई पर न आ जाना।' यह वाच्यार्थ है।

यहाँ पर 'मह' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। मह शब्द दो प्रकार से बन सकता है-एक तो बहुवचनान्त अव्यय है जिसका अर्थ होता है 'हम सब' या 'हम दोनों और दूसरा एकवचनान्त 'मम' का छाया रूप है जिसका अर्थ होता है 'मेरी।' यदि नायिका विशेषरूप से एकवचन का प्रयोग करके कहती कि 'मेरी चारपाई पर मत आ जाना, तो लोगों को शंका हो सकती थी। अतएव उसने छिपाकर कहा कि 'हम दोनों की चारपाई पर मत आ जाना।' इससे लोगों की शंका का अवसर नहीं रहा। अतएव यहाँ पर 'आवयोः' 'हम दोनों की' के अर्थ में अव्यय ही मानना चाहिये। एक वचन का रूप नहीं। नायिका तरुणी भी है और प्रोषितपतिका भी है। अतएव पथिक के हृदय में दर्शनमात्र से जो कामाङ्कुर उत्पन्न हो गया था अनुकूल परिस्थिति के कारण उसका बढ़ जाना स्वाभाविक ही था और नायिका ने चारपाई पर आने का निषेध करते हुये उसकी कामवासना को तृप्त करने की अनुमति दे दी। इसी प्रकार यहाँ पर निषेधाभाव रूप विधि व्यंग्य है। कुछ लोग पथिक की ओर से कामप्रवृत्ति की व्याख्या न कर नायिका के द्वारा ही सम्भोग के आमन्त्रण के रूप में इस पद्य की व्याख्या करते हैं। नायिका की ओर से प्रस्तावित होने के कारण उसके सौभाग्याभिमान के खण्डन हो जाने की सम्भावना से यह व्याख्या समीचीन नहीं कही जा सकती। इसीलिये 'रात्र्यन्ध' यह सम्बोधन किया गया है जिसका व्यंग्यार्थ है-रात ही सम्भोग का उचित अवसर होता है और उस समय तुम और अधिक कामान्ध हो जाओगे। इस प्रकार यहाँ विधि और निषेध का साक्षात् विरोध होने के कारण स्पष्ट ही है कि व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

भट्ट नायक ने लिखा है—'मैं यहाँ पर सोती हूँ' इस वाक्य में 'मैं' शब्द का उच्चारण नायिका ने ऐसी कण्ठध्वनि और ऐसी चेष्टाओं के साथ किया है कि उसको सम्भोग की

लोचनम्

सम्भोगपरिहारः। अथ यद्यपि भवान् मदनशरासारदीर्यमाणहृदय उपेक्षितुं न युक्तः, तथापि किंकरोमि पापदिवसकोऽयमनुचितत्वात्कुत्सितोऽयमित्यर्थः। प्राकृते पुंनपुंसकयोरनियमः। न च सर्वथा त्वामुपेक्षे, यतोऽत्रैवाहं तत्प्रलोकय नान्यतोऽहं गच्छामि, तदन्योन्यवदनावलोकनविनोदेन दिनं तावदतिवाहयाव इत्यर्थः। प्रतिपन्नमात्रायां न रात्रावन्धीभूतो मदीयायां शय्यायां मा श्लिषः, अपि तु निभृतनिभृतमेवात्ताभिधाननिकटकण्टकनिद्रान्वेषणपूर्वकमितीयदत्र ध्वन्यते।

हार करने के लिये किया गया है। यद्यपि आप कामबाणों की वर्षा से विदीर्ण हृदयवाले उपेक्षा के योग्य नहीं हैं तथापि क्या करूँ यह पापी तुच्छदिवस (अभी विद्यमान है), अर्थ यह है कि अनुचित होने के कारण यह कुत्सित है। प्राकृत में पुलिंग और नपुंसकलिंग का नियम नहीं होता। 'मैं सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर रही हूँ क्योंकि मैं यहीं हूँ इसलिये देखलो मैं दूसरे स्थान पर नहीं जा रही हूँ; अतएव एक दूसरे के वदनावलोकन के विनोद से तबतक हम दिन बिता लें' यह अर्थ है। रात्रि के आते ही अन्धे होकर मेरी चारपाई का आलिंगन मत करना अपितु छिप छिपकर सासनामक निकटस्थित कण्टक की निद्रा का ज्ञान करते हुये (आना) यह ध्वनित होता है।

तारावती

कामना और प्रेरणा उसी 'मैं' शब्द से प्रकट हो गई। अतः यहाँ पर अभिधावृत्ति से ही विधिपरक अर्थ निकल आता है इसके लिये व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं।' इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि 'अहम्' शब्द का यह साक्षात् अर्थ तो है नहीं जिसमें अभिधा मानी जा सके, 'काकु' या कण्ठध्वनि को हम भी व्यञ्जना का सहकारी मानते ही हैं। काकु से व्यक्त होनेवाला अर्थ व्यञ्जनाव्यापारजन्य ही होता है यह तो ध्वनि का भूषण है।

यहाँ पर 'सास' के निर्देश का आशय यह है कि सास की उपस्थिति में स्वच्छन्द विहार नहीं हो सकता। जब रात में वह सो भी जावे तब भी तुम्हें आशंकित होकर ही सुरत में प्रवृत्त होना चाहिये। 'दिवसकम्' में निन्दा अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है। इसका आशय यह है—'यद्यपि मैं जानती हूँ कि तुम्हारा हृदय कामदेव के बाणों से अत्यन्त बिदीर्ण हो गया है और तुम्हारी उपेक्षा करना ठीक नहीं है, फिर भी क्या करूँ यह पापी दिन मुझे तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं करने देता। यह इसका कार्य अनुचित है। अतएव यह निन्दनीय है। इसी निन्दा को व्यक्त करने के लिये यहाँ पर 'क' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। दिवस शब्द पुंलिङ्ग भी है और नपुंसकलिङ्ग भी। किन्तु इसका प्रयोग पुल्लिङ्ग में ही होता है, अतः नपुंसक लिङ्ग में इसका प्रयोग अप्रयुक्तत्व दोष से दूषित है। किन्तु प्राकृत में पुंल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग का नियम

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा—

वच्च मह व्विअ एक्केइ होन्तु णीसासरोइअव्वाइं ।
मा तुज्ज वि तीअ विणा दक्खिण्णहअस्स जाअन्तु ॥

(अनु०) कहीं वाच्य विधिरूप होता है और व्यङ्ग्य विधि-निषेध दोनों से भिन्न ; जैसे— 'तुम उसी मेरी सौत के पास जाओ । मुझे अकेले ही गहरी श्वासें लेना और रोना पड़े । उस (अपनी प्रियतमा) के वियोग में तुम्हें भी क्यों दाक्षिण्य के दण्ड के रूप में निश्श्वास और रोदन का कष्ट सहना पड़े ।'

लोचनम्

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि ।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ॥

अत्र व्रजेति विधिः । न प्रमादादेव नायिकान्तरसङ्गमनं तव, अपितु गाढानुरागात् , येनान्याद्दङ्मुखरागः गोत्रस्खलनादि च, केवलं पूर्वकृतानुपालनात्मना दाक्षिण्येनैकरूपत्वाभिमानेनैव त्वमत्र स्थितः तत्सर्वथा शठोऽसीति गाढमन्युरूपोऽयं खण्डितनायिकाभिप्रायोऽत्र प्रतीयते । न चासौ व्रज्याभावरूपो निषेधः, नापि विध्यन्तरमेवान्यनिषेधाभावः ।

यहाँ पर 'जाओ' यह विधि है । केवल प्रमाद से ही तुम्हारा दूसरी नायिका से साथ नहीं हुआ अपितु गाढानुराग से, जिससे दूसरे प्रकार का मुखराग और गोत्रस्खलनादि (दृष्टिगत हो रहे हैं) । केवल पूर्वकृत अनुपालनरूप दाक्षिण्य से अर्थात् एकरूपत्व के अभिमान से ही तुम यहाँ पर स्थित हुए हो, अतः तुम सर्वथा शठ हो यह गाढमन्युरूप खण्डिता नायिका का अभिप्राय प्रतीत होता है । यह गमनाभावरूप निषेध नहीं है और न ही अन्य निषेध के अभावरूप विधि है ।

तारावती

नहीं है । यहाँ पर व्यंग्यार्थ यह है–'मैं सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर रही हूँ । भलीभाँति देख लो, मैं यहीं सोऊँगी, कहीं अन्यत्र नहीं जाऊँगी; हम दोनों एक दूसरे के मुखकमल को देखने का आनन्द लेते हुए दिन बिता डालें । हाँ एक बात और है–जैसे ही रात हो जावे वैसे ही कामवेग से अन्धे होकर मेरी चारपाई पर मत आ जाना किन्तु ध्यान रखना कि यह सास नाम का काँटा हमारे मार्ग में है । अतः धैर्यपूर्वक पहले निश्चय कर लेना कि वस्तुतः मेरी सास सो गई; तभी मेरे पास आना ।'

महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में कई एक हेतुओं की कल्पना करके उनमें दोष दिखलाए हैं । उनसे यही सिद्ध होता है कि इस उदाहरण का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता । वस्तुतः ध्वनि वहीं पर होती है जहाँ किसी बात को तर्क से न सिद्ध किया जा सके । यदि उस कुलटा की सम्भोगेच्छा तर्क से ही सिद्ध की जा सके तो उसके छिपाकर कहने का महत्त्व ही क्या रह जाय । अतएव यह ध्वनि का ही विषय है अनुमान का नहीं ।

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपौ यथा—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह्नाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआणं विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे ॥

(अनु०) कहीं वाच्य निषेधपरक होता है और व्यंग्य विधि निषेध दोनों से भिन्न। जैसे—'मैं प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम कृपा करके जाने से रुक जाओ, क्योंकि तुम्हारे मुखचन्द्र की चाँदनी से अन्धकार का समूह विलुप्त हो रहा है और हे हताशे! तुम अन्य अभिसारिकाओं के अभिसार में भी विघ्न कर रही हो।'

लोचनम्

दे इति निपातः प्रार्थनायाम्। आ इति तावच्छब्दार्थे। तेनायमर्थः—
प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ॥

'दे' यह प्रार्थनार्थक निपात है 'आ' यह तावत् शब्दार्थक निपात है। इससे यह अर्थ निकलता है—'प्रार्थये' इत्यादि।

तारावती

ऊपर दो उदाहरण दिये गये हैं—एक में वाच्य विधिपरक है और व्यंग्य निषेधपरक, दूसरे में वाच्य निषेधपरक है और व्यंग्य विधिपरक। अब तीसरा उदाहरण दिया जा रहा है जिसमें वाच्य विधिपरक है और व्यंग्य न विधिपरक न निषेधपरकः—

नायिका के साथ नायक बैठा हुआ है। अकस्मात् नायक गोत्रस्खलन कर बैठता है जिससे उसके मुखपर अनुराग रेखा दौड़ जाती है और वह गहरी श्वास भी लेता है। नायिका इस विकृति को लक्षित कर कहती है कि 'तुम उसी अपनी प्रियतमा के पास जाओ, मुझे ही रोना और गहरी श्वास लेना पड़े; तुम्हें इस दाक्षिण्य का दण्ड क्यों भोगना पड़े।' यहाँ पर वाच्यार्थ है—'मैं अकेली दुःखी रहूँ, तुम सुखी रहो; अतएव तुम उसी अपनी प्रियतमा के पास जाओ।' व्यंग्यार्थ है—तुम सर्वदा कहा करते हो कि अन्य नायिका से तुम्हारा सम्पर्क संयोगवश ही हो गया; वस्तुतः तुम उससे प्रेम नहीं करते हो किन्तु आज तुम्हारे मुखराग और गोत्रस्खलन इत्यादि को देखकर मैं समझ गई कि तुम मुझसे वास्तविक प्रेम नहीं करते। तुम्हारा वास्तविक प्रेम तो मेरी सौत से है। तुम मेरे पास पहले के अपने वादों को पूरा करने के लिये केवल दाक्षिण्य के दिखावे के हेतु ही आते हो। तुम सर्वथा शठनायक हो।' इस प्रकार यहाँ पर खण्डिता के गाढमन्युरूप अभिप्राय की व्यञ्जना होती है। जब कि वाच्यार्थ विधिपरक है तब व्यंग्यार्थ खण्डिता का मन्यु न तो जाने का निषेध करता है जिससे निषेधपरक कहा जावे और न दूसरी किसी बात का विधान करता है। अतः यह विधि-निषेध दोनों से भिन्न है।

उक्त परिस्थिति के प्रतिकूल कहीं-कहीं वाच्य निषेधपरक होता है और व्यंग्य विधि-निषेध

लोचनम्

अत्र व्यवसिताद्गमनान्निवर्तस्वेति प्रतीतेर्निषेधो वाच्यः। गृहागता नायिका गोत्रस्खलनाद्यपराधिनि नायके सति ततः प्रतिगन्तुं प्रवृत्ता। नायकेन चाटूपक्रमपूर्वकं निवर्त्यते। न केवलं स्वात्मनो मम च निवृत्तिविघ्नं करोषि, तावदन्यासामपि, ततस्तव न कदाचन सुखलवलाभोऽपि भविष्यतीत्यत एव हताशासीति वल्लभाभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः।

यदि वा सख्योपदिश्यमानापि तदवधीरणया गच्छन्ती सख्योच्यते न केवलमात्मनो विघ्नं करोषि, लाघवादबहुमानास्पदमात्मानं कुर्वती, अतएव हताशा, यावद्वदनचन्द्रिकाप्रकाशितमार्गतयान्यासामप्यभिसारिकाणां विघ्नं करोषीति सख्यभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः। अत्र तु व्याख्यानद्वयेऽपि व्यवसितात्प्रतीपगमनात्प्रियतमगृहगमनाच्च निवर्तस्वेति पुनरपि वाच्य एव विश्रान्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदस्य प्रेयोरसवदलङ्कारस्योदाहरणमिदं स्यात् न ध्वनेः।

तेनायमत्र भावः—काचिद्रभसात्प्रियतममभिसरन्ती तद्गृहाभिमुखमागच्छता तेनैव हृदयवल्लभेनैवमुपश्लोक्यतेऽप्रत्यभिज्ञानच्छलेन, अत एवात्म-

यहाँ पर 'अनुष्ठित गमन से निवृत्त हो जाओ' इस प्रतीति के कारण निषेध वाच्य है। घर में आई हुई नायिका नायक के गोत्रस्खलन इत्यादि अपराध के होने पर वहाँ से जाने को उद्यत हो गई। नायक के द्वारा चाटुकारिता के उपक्रम के साथ रोकी जा रही है। केवल अपनी और मेरी ही शान्ति में विघ्न नहीं करती हो। किन्तु दूसरों की भी (शान्ति में विघ्न डालती हो) इससे कभी भी तुम्हें सुख के अंश की भी प्राप्ति नहीं होगी, इससे तुम हत आशा वाली हो यह वल्लभ के अभिप्राय रूप चाटुकारिता की विशेषता अभिव्यक्त होती है।

अथवा सखी के द्वारा उपदेश दी हुई भी उसका अपमान करके जाती हुई (नायिका) सखी के द्वारा इस प्रकार कही जा रही है—लघुता से अपने को बहुमानरहित बनाते हुए केवल अपना ही विघ्न नहीं कर रही हो (तथा) इसी कारण हत आशावाली बन रही हो प्रत्युत वदनचन्द्रिका से राजमार्ग को प्रकाशित कर देने के कारण अन्य अभिसारिकाओं का भी विघ्न कर रही हो, यह सखी का अभिप्रायरूप चाटुविशेष व्यक्त होता है। यहाँ पर इन दोनों व्याख्यानों में अनुष्ठित किये हुए विरुद्ध गमन से और प्रियतम के गृहगमन से निवृत्त हो जाओ इस प्रकार फिर भी वाच्य में ही विश्रान्ति होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद प्रेयोऽलङ्कार अथवा रसवदलङ्कार का यह उदाहरण हो जावेगा ध्वनि का नहीं।

अतएव यहाँ पर यह भाव है—कोई शीघ्रतापूर्वक प्रियतम के घर जाती हुई उसके घर की ओर आनेवाले उसी हृदयवल्लभ के द्वारा न पहिचानने के बहाने इस प्रकार प्रशंसा की जा

लोचनम्

प्रत्यभिज्ञापनार्थमेव नर्मवचनं हताश इति। अन्यासां च विघ्नं करोषि तव चेप्सितलाभो भविष्यतीति का प्रत्याशा। अत एव मदीयं वा गृहमागच्छ त्वदीयं वा गच्छावेत्युभयत्रापि तात्पर्यादनुभयरूपो वल्लभाभिप्रायश्चाटूवात्मा व्यङ्ग्य इत्येव व्यवतिष्ठते। अन्ये तु 'तटस्थानां सहृदयानामभिसारिकां प्रतीय-मुक्तिः' इत्याहुः। तत्र हताशे इत्यामन्त्रणादि युक्तमयुक्तं वेति सहृदया एव प्रमाणम्।

रही है। इसलिये अपना परिचय देने के लिये ही 'हताशे' यह नर्मवचन है। औरों का भी विघ्न करती हो और तुम्हारा भी ईप्सित लाभ हो जावेगा इसकी भी क्या प्रत्याशा ? चाहे मेरे घर को आओ या तुम्हारे घर को हम दोनों चलें, इस प्रकार दोनों ओर भी तात्पर्य होने से चाटुकारितारूप वल्लभ का अभिप्राय जो कि अनुभयरूप (विधिनिषेधरूप रहित) है व्यक्त होता है। यही सिद्धान्त यहाँ पर स्थिर होता है। दूसरे लोग तो—तटस्थ सहृदयों की यह अभिसारिका के प्रति उक्ति है यह कहते हैं। उसमें 'हताशे' यह सम्बोधन उचित है या अनुचित इसमें सहृदय ही प्रमाण हैं।

तारावती

दोनों से भिन्न। इसका उदाहरण है 'दे·····वि हआसे।' 'दे' यह निपात संज्ञक अव्यय है जिसका अर्थ होता है प्रार्थना। 'आ' का अर्थ है 'तावत्' जिससे पूरे वाक्य का अर्थ हो जाता है –'मैं प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम मत जाओ क्योंकि तुम अपने मुखचन्द्र के प्रकाश से अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न डालोगी और तुम्हारी भी आशा पूरी न हो सकेगी।' इस पद्य के सन्दर्भ की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। निम्नलिखित व्याख्याओं पर लोचन-कार ने विचार किया है:—

(१) नायिका नायक के घर आई है और सहवास में प्रवृत्त हो गयी है। इसी अवसर पर संयोगवश नायक गोत्रस्खलन का अपराध कर बैठता है जिससे नायिका रुष्ट होकर जाने को उद्यत हो जाती है। तब नायक उक्त शब्द कहता है, जिसका व्यंग्यार्थ यह है—'तुम जैसी विश्वसुन्दरी को छोड़कर मैं दूसरी नायिका से प्रेम कैसे कर सकता हूँ ? यदि तुम मुझे छोड़कर जाओगी तो मैं अत्यन्त पीड़ित हो जाऊँगा और तुम्हें भी पछताना पड़ेगा। तुम्हारी भी आशा पूरी नहीं हो सकेगी और दूसरों का भी विघ्न करोगी। इस प्रकार यहाँ पर प्रियतम की चाटुकारिता व्यंग्य है और 'हताशे' इस सम्बोधन के द्वारा भविष्य में पछताने की बात कहकर नायिका को आगाह किया गया है।

उक्त व्यंग्यार्थ में दोष यह है कि इस अर्थ में मुख्य अर्थ नायिका को रोकना ही है जो कि वाच्य है। व्यंग्यार्थ नायक की चाटुकारिता उक्त वाच्यार्थ का अङ्ग बन गई है। अतएव यह उदाहरण अपराङ्ग गुणीभूतव्यंग्य का हो जाता है ध्वनि का उदाहरण नहीं हो पाता।

तारावती

यदि नायक का अनुराग व्यंग्य माना जावे तो भी वह रोकनारूप वाच्यार्थ का अङ्ग बनकर रसवत् अलङ्कार हो जावेगा, वस्तुध्वनि का उदाहरण नहीं रहेगा।

(२) उक्त परिस्थिति में ही प्रियतम के गोत्रस्खलनादि से रुष्ट होकर नायिका अभिसार स्थान से चले जाने को उद्यत हो जाती है। तब नायिका की सखी एक ओर 'हताशे' इस सम्बोधन के द्वारा नायिका को आगाह करती है कि तुम बाद में पछताओगी क्योंकि लघुता के कारण तुम्हारा सारा सम्मान जाता रहेगा।

दूसरी ओर चाटुकारिता के द्वारा नायिका पर यह प्रभाव जमाना चाहती है कि तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है; यदि तुम यहाँ से जाओगी तो तुम्हारे मुख की चाँदनी चारों ओर छिटक जावेगी यहाँ तक कि दूसरी अभिसारिकाओं का जाना भी रुक जावेगा। अतः तुम जैसी चन्द्रसुन्दरी को छोड़कर नायक किसी और नायिका को चाहेगा इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। गोत्रस्खलन इत्यादि की बात सांयोगिक है उसपर तुम्हें ध्यान नहीं देना चाहिये। इस व्याख्या में भी उपर्युक्त दोष ही है कि इसका पर्यवसान 'लौट चलो' के वाच्यार्थ के साथ ही होकर इसे गुणीभूतव्यङ्ग्य बना देता है और नायिका के प्रति सखी का अनुराग भावव्यञ्जना के अन्तर्गत आकर तथा वाच्यार्थ का अङ्ग बनकर प्रेय अलङ्कार का रूप धारण कर लेता है। अतः यह व्याख्या भी मान्य नहीं।

(३) अतः यहाँ पर यह व्याख्या ठीक होगी—कोई नायिका नायक के पास द्रुतगति से जा रही है और उसका हृदयवल्लभ भी उसी के घर की ओर आ रहा है। नायक मानों न पहचानते हुए तथा अपनी निकटवर्तिता का परिचय देते हुये यह शब्द कह रहा है कि—अभिसारिकायें कालीरात में ही अपने प्रियतमों से मिलने जा सकती हैं। तुम्हारे इस प्रकार अभिसार करने से अन्धकार दूर हो जाता है और अभिसारिकाओं के मनोरथ में विघ्न पड़ता है। इसका पाप तुम पर पड़ेगा और तुम्हारी भी आशायें पूर्ण नहीं हो सकतीं। अतः तुम अभिसार का विचार छोड़कर लौट चलो।' यह है वाच्यार्थ। इसका व्यङ्ग्यार्थ यह है—कि नायक नायिका की प्रशंसा करके उसे प्रसन्न करना चाहता है। वह नायिका को अपना परिचय देकर यह प्रकट करना चाहता है कि मैं भी तुम्हारे घर जा रहा हूँ, अब तुम चाहो तो मेरे घर चलो या अपने घर लौट चलो। यह अच्छा ही हुआ कि तुम मुझे मार्ग में मिल गई और मैंने तुम्हें पहिचान लिया। अन्यथा हम दोनों को अपने-अपने गन्तव्यस्थानपर पहुँच कर निराश ही होना पड़ता। यहाँ पर वाच्य निषेधपरक है और व्यङ्ग्य चाटुकारितापरक जो न विधि है और न निषेध;

(४) कुछ लोगों ने यह उक्ति तटस्थों की बतलाई है। किन्तु उस अर्थ में 'हताशे' इस सम्बोधन का औचित्य क्या होगा? इसका निर्णय मैं सहृदयों पर ही छोड़ता हूँ।

ऊपर के चारों उदाहरणों में एक ही विषय (संबोध्य व्यक्ति) के प्रति वाच्य और व्यङ्ग्य

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—

कस्स वण होई रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरम् ।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्लिम् ॥

(अनु०) कहीं विषयभेद से भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के भेद की व्यवस्था की जा सकती है। जैसे—'अपनी प्रियतमा के व्रणपूर्ण अधर को देखकर किसको क्रोध उत्पन्न नहीं होगा ? तुम्हारा स्वभाव ही कुटिल है, तुम मेरा मना करना तो कभी मानती ही नहीं। मैंने तुम्हें मना किया था कि इस फूल को मत सूंघो क्योंकि इसमें भौंरा बैठा है। तुमने नह माना और वह फूल सूंघ ही लिया। अब इस समय उसका दुष्परिणाम तुम्हें सहनी ही पड़ेगा।

लोचनम्

एवं वाच्यव्यङ्ग्ययोर्धार्मिकपान्थप्रियतमाभिसारिकाविषयैक्येऽपि स्वरूपभेदाद्भेद इति प्रतिपादितम्। अधुना तु विषयभेदादपि व्यङ्ग्यस्य वाच्याद्भेद इत्याह—क्वचिद्वाच्यादिति। व्यवस्थापित इति। विषयभेदोऽपि विचित्ररूपो व्यवतिष्ठमानः सहृदयैर्व्यवस्थापयितुं शक्यत इत्यर्थः।

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥

इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य में धार्मिक, मान्य, प्रियतमा और अभिसारिका इनकी विषय की एकता होने पर भी स्वरूपभेद के कारण भेद माना जाता है यह प्रतिपादित कर दिया। अब तो विषयभेद से भी व्यङ्ग्य का वाच्य से भेद होता है यह कह रहे हैं—कहीं-कहीं वाच्य से इत्यादि व्यवस्था किया गया है तक। आशय यह है कि अवस्थित होनेवाला विचित्ररूपवाला विषयभेद भी सहृदयों के द्वारा व्यवस्थापित किया जा सकता है।

तारावती

का स्वरूपभेद दिखलाया गया है। प्रथम उदाहरण में धार्मिक व्यक्ति के प्रति विधि वाच्य और निषेधविधि व्यंग्य है। द्वितीय उदाहरण में पथिक के प्रति शय्या पर आने का निषेध वाच्य और विधि व्यंग्य है, तृतीय उदाहरण में नायक के प्रति गमनविधि और 'मैं रहस्य को समझ गई हूँ' यह खण्डिताकोप व्यंग्य है। चतुर्थ उदाहरण में अभिसारिका के प्रति अभिसारनिषेध वाच्य और प्रियतम की चाटुकारिता व्यंग्य है। इन सब उदाहरणों में एक ही व्यक्ति अभिधावृत्ति से एक अर्थ समझता है और व्यञ्जनावृत्ति से दूसरा। अतएव यहाँ पर वाच्य और व्यंग्य का स्वरूपभेद दिखलाया गया है। अब यह दिखलाया जा रहा है कि विषयभेद से भी वाच्य और व्यंग्य का भेद हो सकता है। विषयभेद का आशय यह है कि वाच्यार्थ तो सभी श्रोताओं के प्रति एक ही होगा किन्तु व्यंग्यार्थ श्रोताओं की योग्यता के अनुसार बदलता जावेगा। इसीलिये मूल में लिखा है कि कहीं कहीं वाच्य से विभिन्न विषय के रूप में 'व्यवस्था' की जा सकती है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि 'व्यवस्था की जा सकने' का आशय तो यह है कि स्वयं उनमें सत्य नहीं होता, केवल कल्पना ही की जा सकती है। किन्तु वास्तविकता यह है वे

लोचनम्

कस्य वेति। अनीर्ष्यालोरपि भवति रोषो दृष्ट्वैव, अकृत्वाऽपि कुतश्चिदेवापूर्वतया प्रियायाः सव्रणमधरमवलोक्य। सभ्रमरपद्माघ्राणशीले शीलं हि कथञ्चिदपि वारयितुं न शक्यम्। वारिते वारणायां, वामे तदनङ्गीकारिणि। सहस्वेदानीमुपालम्भपरम्परामित्यर्थः। अत्रायं भावः—काचिदविनीता कुतश्चित् खण्डिताधरा निश्चिततत्सविधसन्निधाने तद्भर्तरि तमनवलोकमानयेव कयाचिद्विदग्धसख्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते। सहस्वेदानीमिति वाच्यमविनयवतीविषयम्। भर्तृविषयं तु अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम्। सहस्वेत्यपि च तद्विषयं व्यङ्ग्यम्। तस्यां च प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायां तद्व्यलीकशङ्कितप्रातिवेशिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम्। तत्सपत्न्यां च तदुपालम्भतदविनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं प्रियाया इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम्। सपत्नीमध्ये इयता खलीकृतास्मीति लाघवेनात्मनि ग्रहीतुं न युक्तम्, प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्व शोभस्वेदानीमिति सखीविषयं सौभाग्यप्रख्यापनं व्यङ्ग्यम्। अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदय-

कस्य वेति। अनीर्ष्यालु को भी देख करके ही रोष होता है, स्वयं न करके कहीं से (किसी विशेष कारण से प्रकट हुए) प्रियतमा के व्रणपूर्ण अधर को देखकर पहले न देखी हुई विशेषता के होने के कारण (क्रोध हो ही जाता है।) 'सभ्रमरपद्माघ्राणशीले'—शील का वारण कभी नहीं हो सकता। वारित अर्थात्—निषेध करने में वामा अर्थात् उसको अङ्गीकार न करनेवाली। 'इस समय सहो' अर्थात् उपालम्भपरम्परा को। यहाँ पर भाव यह है—कोई अविनीता कहीं से खण्डित अधरवाली उसके पति के किसी निकटवर्ती प्रदेश में सन्निहित होने का निश्चय कर मानो उसको न देखती हुई किसी विदग्ध सखी के द्वारा उस (नायिका) की निन्दा के परिहार के लिए इस प्रकार कही जा रही है। 'इस समय सहो' यह वाच्य अविनयवाली के विषय में है। पति के विषय में तो 'अपराध नहीं है' यह निवेद्यमान तत्त्व ही व्यङ्ग्य है। 'सहन करो' यह भी उसी के विषय में व्यङ्ग्य है (अर्थात् नायिका अपराधिनी नहीं है अतः तुम क्रोध को सहन करो।) नायिका के प्रियतम के द्वारा प्रगाढ़ रूप में उपालम्भ दिये जाने पर उसकी बुराई की आशंका करनेवाले पड़ोसी लोगों के विषय में अविनय प्रच्छादन के द्वारा विश्वास दिलाना व्यंग्य है। उसकी सौत के उस उपालम्भ तथा उसके अविनय के कारण होने पर 'प्रिया' इस शब्द के बलपर उसके सौभाग्य की अधिकता का प्रख्यापन सपत्नी के विषय में व्यंग्य है। 'सपत्नियों के मध्य में मैं इतने से खल बना दी गई हूँ यह लघुता अपने अन्दर ग्रहण करना उचित नहीं है, प्रत्युत यह बहुमान है। 'सहो' अर्थात् 'शोभित हो इस समय' यह सखी के विषय में सौभाग्यप्रख्यापन व्यंग्य है। 'आज यह

तारावती

विभिन्न अर्थ स्वतः व्यवस्थित होने की क्षमता रखते हैं; इसीलिए सहृदय लोग उन्हें व्यवस्थापित कर देने में समर्थ हो जाते हैं। उदाहरण:—

लोचनम्

वल्लभेत्थं रक्षिता, पुनः प्रकटरदनदंशनविधिर्न विधेय इति तच्चौर्यकामुकविषय-सम्बोधनं व्यङ्ग्यम्। इत्थं मयैतदपह्नुतमिति स्ववैदग्ध्यख्यापनं तटस्थविदग्ध-लोकविषयं व्यङ्ग्यमिति तदेतदुक्तं व्यवस्थापितशब्देन।

तुम्हारी प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभा इस प्रकार रक्षित कर ली गई, पुनः प्रकट-दन्तक्षत का कार्य नहीं करना चाहिये।' यह उसके चौर्यकामुक के विषय में सम्बोधन व्यंग्य है। 'इस प्रकार मैंने यह छिपा लिया' यह अपने वैदग्ध्य का ख्यापन तटस्थ विदग्ध लोगों के विषय में व्यंग्य है। वह यह व्यवस्थापित शब्द के द्वारा कहा गया है।

तारावती

कोई नायिका किसी उपपति से सम्भोग कराकर लौटी है; उपपति ने उसके अधर पर दन्तक्षत का चिह्न बना दिया है। नायिका का पति निकट आ गया है और अधरक्षत को देखकर उसने क्रोध किया है। इस बात को सखी जान गई है किन्तु यह प्रकट करते हुए कि मानों उसने जान ही नहीं पाया वह नायिका, नायक, उपपति, सपत्नी इत्यादि सबको सुनाकर ये शब्द कहती है कि 'कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो अपनी प्रियतमा के अधर को व्रणपूर्ण देखकर क्रुद्ध न हो जावे, तुम्हारा स्वभाव ही भ्रमरयुक्त पुष्प सूँघने का है, तुम मना करने पर मानती नहीं अब सहन करो।' यहाँ पर 'कौन' शब्द का अर्थ है—कोई भी व्यक्ति कितना ही ईर्ष्या-रहित क्यों न हो किन्तु यदि उसने स्वयं अपनी प्रियतमा का अधरक्षत न किया हो और अपूर्व अधरक्षत उसे अपनी प्रिया के अधर पर दिखलाई पड़ जावे तो उसे क्रोध होना स्वाभाविक है। 'सभ्रमरपद्माघ्राणशीले' में शील शब्द का आशय यह है कि जो स्वभाव पड़ जाता है वह टाला नहीं जा सकता। तुम प्रायः भ्रमरयुक्त फूल सूँघा करती हो, आज संयोगवश भौंरे ने काट खाया। 'वारितवामे' का अर्थ है कि तुम कभी मना करना तो मानती ही नहीं। यहाँ पर वाच्यार्थ का विषय केवल पुंश्चली नायिका है। किन्तु इसका व्यंग्यार्थ विभिन्न व्यक्तियों के प्रति विभिन्न प्रकार का होगा—(१) नायक के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—'इसका अधरक्षत भ्रमर के काटने से हुआ है, अतः तुम्हें अन्यथा शङ्का कर नायिका पर क्रोध नहीं करना चाहिये। (२) प्रियतम के द्वारा गाढ उपालम्भ देने पर जब पड़ोसियों को नायिका के अपराध की आशंका होने लगती है तब उनके प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—'नायिका आचारातिक्रमण की अपराधिनी नहीं है, भ्रमर दंश को देखकर पति को क्रोध आ गया है। (३) पति के उपालम्भ और नायिका के अपराध को देखकर जब सपत्नियाँ हर्षित होने लगती हैं तब उनके प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—'नायिका नायक की प्रियतमा ही है, भ्रमर द्वारा किये गये अधर क्षत को देखकर क्रोध आ जाना स्वाभाविक ही है। वास्तविकता के प्रकाश में आ जाने

ध्वन्यालोकः

अन्ये चैवंप्रकारा वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति। तेषां दिङ्मात्रमेतत्प्रदर्शितम्। द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते। तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद्विभिन्न एव।

(अनु०) इसी भाँति और भी बहुत से प्रतीयमान के प्रकार हैं जो वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के भेद के उदाहरण के रूप में दिखलाये जा सकते हैं। यहाँ पर मैंने उनका दिग्दर्शनमात्र कराया है। ध्वनि का दूसरा भेद है अलङ्कारध्वनि, यह वाच्यार्थ से भिन्न होती है इस बात की विस्तृत विवेचना आगे चलकर की जावेगी। तीसरा रस इत्यादि नामवाला भेद तो वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर ही प्रकाशित होता है; वह कभी भी साक्षात् स्वशब्दवाच्य नहीं हो सकता और न शब्द की क्रिया ही उसका प्रत्यायन करा सकती है। अतएव रसादिध्वनि भी वाच्य से भिन्न होती है।

तारावती

पर पति का क्रोध शान्त हो जावेगा। इस क्षणिक रोष को देखकर तुम्हें हर्षित नहीं होना चाहिये। यह व्यंजना 'प्रियायाः' इस शब्द के बल पर निकलती है। (४) नायिका के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—'तुम्हारे अधरक्षत को देखकर पति को क्रोध आ गया है, तुम उसकी प्रियतमा नहीं होती तो उसे क्रोध ही नहीं आता। अतः सौतों के बीच अपने इस अपमान को देखकर तुम्हें अपने अन्दर लघुता का भाव नहीं लाना चाहिये। अब मैंने बात बना ली है और तुम्हारे प्रति पति का क्रोध भी जाता रहेगा।' यहाँ पर सहस्व का अर्थ है 'शोभित हो'। इस प्रकार नायिका के सौभाग्य का ख्यापन यहाँ पर व्यंग्य है। (५) उपपति के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—'तुमसे प्रच्छन्न प्रेम करनेवाली तुम्हारी हृदयवल्लभा को आज तो मैंने उसके पति के क्रोध से बचा लिया किन्तु भविष्य में तुम्हें सतर्क रहना चाहिये और कभी स्पष्ट दन्तक्षत की ऐसी बात नहीं करनी चाहिये। यहाँ पर उपपति के विषय में चौर्य कामुकता व्यक्त होती है। (६) निकटवर्ती रसिकसमाज के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—'देखो मैं कितनी निपुण हूँ। ऐसी बातों का बनाना तो मेरे बायें हाथ का खेल है। इस प्रकार विषयभेद से व्यंग्यार्थभेद की व्यवस्था कई रूपों में की जा सकती है। विषयभेद भी स्वरूपभेद के समान अनेक प्रकार का हो सकता है। प्रस्तुत पद्य उदाहरण मात्र है। दूसरे प्रकार भी इसी भाँति समझ लिये जाने चाहिये। इसीलिये मूल में व्यवस्थित शब्द का प्रयोग किया गया है। (हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में कई एक अन्य भी उदाहरण दिये हैं—जैसे—विधि में दूसरी विधि, निषेध में दूसरा निषेध, अविधिनिषेध में विधि, अविधिनिषेध में निषेध, विधिनिषेध में दूसरी विधि, विधिनिषेध में दूसरा निषेध इत्यादि। इन सबके उदाहरण वहीं देखे जाने चाहिए। सारांश यही है कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों एक दूसरे से सर्वथा

ध्वन्यालोकः

तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनां प्रतीतिप्रसङ्गः। न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत् तत्रापि विशिष्टविभावाप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः। स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते न तु तत्कृता। विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्। नहि केवलश्रृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयं कथञ्चित्, इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते।

(अनु०) इसको इस प्रकार समझिये—रस इत्यादि को वाच्यता दो ही प्रकार से हो सकती है—या तो रस इत्यादि शब्द के द्वारा निवेदित किये गये हों या विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा उनका प्रत्यायन कराया गया हो। यदि प्रथम पक्ष (रसादि का स्वशब्द-वाच्य होना) माना जावेगा तो जहाँ पर रस इत्यादि शब्द का प्रयोग नहीं किया गया होगा वहाँ पर रस इत्यादि की प्रतीति हो ही नहीं सकेगी। इसके प्रतिकूल रस इत्यादि के प्रतिपादन के अवसर पर सर्वत्र रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। जहाँ कहीं रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया भी जाता है वहाँ भी उनकी प्रतीति रसादि के प्रतिपादन के द्वारा ही हुआ करती है। रसादि शब्दों का प्रयोग केवल अनुवादक होता है। उन शब्दों के द्वारा रस इत्यादि की प्रतीति होती ही नहीं। क्योंकि दूसरे :विषय में जहाँ विभाव इत्यादि का अभाव होता है, केवल रस इत्यादि शब्दों का ही प्रयोग होता है वहाँ रसास्वादन देखा ही नहीं जाता। केवल श्रृङ्गार इत्यादि शब्दों के होने पर और विभाव इत्यादि का प्रतिपादन न होने पर काव्य में थोड़ी भी रसवत्ता प्रतीत होती हुई देखी ही नहीं जाती। अब चूँकि जहाँ पर रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ पर रस इत्यादि की प्रतीति नहीं होती अतएव अन्वयव्यतिरेक से यह सिद्ध होता है कि रस इत्यादि का सर्वदा वाच्यसामर्थ्य से आक्षेप हो होता है, रस इत्यादि किसी प्रकार भी वाच्य नहीं हो सकते। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि तीसरा प्रभेद रस इत्यादि भी वाच्य से भिन्न ही होता है। यह बात आगे चलकर दिखलाई जावेगी कि साथ न होते हुए भी रस इत्यादि की प्रतीति वाच्य के साथ होती हुई सी क्यों जान पड़ती है। यह आगे दिखलाया जावेगा कि इसकी प्रतीति वाच्य के साथ की जैसी होती है।

तारावती

भिन्न हुआ करते हैं। महिम भट्ट ने ध्वन्यालोक के प्रायः सभी उदाहरणों को या तो असङ्गत बतलाया है या उनका समावेश अनुमान में करने की चेष्टा की है। किन्तु उनके बतलाये हुए अधिकतर हेतु हेत्वाभास की कोटि में आ जाते हैं अतः अप्रामाणिक हैं।)

लोचनम्

अग्र इति । द्वितीयोद्योते 'असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः क्रमेणोद्योतितः परः' इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीयप्रभेदवर्णनावसरे । यथा हि विधिनिषेध-तदनुभयात्मना रूपेण सङ्कलय्य वस्तुध्वनिः संक्षेपेण सुवचः, तथा नालङ्कार-ध्वनिः, अलङ्काराणां भूयस्त्वात् । तत एवोक्तम्—सप्रपञ्चमिति । तृतीयस्त्विति । तु शब्दो व्यतिरेके । वस्त्वलङ्कारावपि शब्दाभिधेयत्वमध्यासाते तावत् । रस-भावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति । तत्र ध्वननव्यापारादृते नास्ति कल्पनान्तरम् । स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थबाधादेर्लक्षणानिबन्धनस्यानाशङ्कनीयत्वात् । औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्ते-

'आगे दिखलाया जावेगा' अर्थात् द्वितीय उद्योत में 'असंल्लक्ष्यक्रमव्यंग्यः क्रमेणोद्योतितः परः' इस विवक्षितान्यपरवाच्य नामक द्वितीय प्रभेद के वर्णन के अवसर पर जिस प्रकार विधि-निषेध तथा अनुभय आत्मा के रूप में संकलित करके वस्तुध्वनि का संक्षेप में सुविधापूर्वक विवेचन किया जा सकता है उस प्रकार अलंकारध्वनि का नहीं हो सकता क्योंकि अलङ्कारों की संख्या बहुत अधिक है । इसलिए कहा है—सप्रपञ्च आगे चलकर दिखावेंगे) । तृतीयास्त्वति । 'तु' शब्द व्यतिरेक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । वस्तु और अलंकार भी शब्दा-भिधेयता को अङ्गीकृत कर लेते हैं । रस भाव रसाभास भावाभास भावप्रशम कभी भी अभिहित नहीं हो सकते तथा वे आस्वाद्यमानता के ही प्राण बनाकर शोभित होते हैं । उसमें ध्वनन-व्यापार को छोड़ कर शब्द की गति के स्खलित न होने के कारण मुख्यार्थबाध इत्यादि लक्षणा-निबंधन की आशङ्का की ही नहीं जा सकती । औचित्य के साथ प्रवृत्त होने पर स्थायिनी चित्त-

तारावती

व्यंग्यार्थ तीन प्रकार का होता है—वस्तु, अलंकार और रस । वस्तुव्यंग्य वाच्य से भिन्न होता है इसपर प्रकाश डाला जा चुका । अलङ्कार व्यंजना और अभिधा का भेद द्वितीय उद्योत की 'असंलक्ष्यक्रमोद्योतः' (२–४) इस कारिका की व्याख्या के अवसर पर विस्तारपूर्वक समझाया जावेगा । विधि और निषेध का सङ्कलन करके वस्तुध्वनि का संक्षेप में कथन करना सम्भव था । अतः उसका दिग्दर्शन करा दिया गया । बहुलता के कारण अलङ्कारों का संक-लन कर सकना यहाँ पर सम्भव नहीं है । अतएव यथास्थान द्वितीय उद्योत में विवक्षितान्यपर-वाच्य के द्वितीय भेद के वर्णन के अवसर पर उनका निरूपण किया जावेगा । तीसरा भेद है रसव्यंजना । वस्तु तथा अलङ्कार की अपेक्षा रसव्यंजना में एक अन्तर है । वस्तु तथा अलङ्कार में कभी-कभी अभिधेय होने की क्षमता होती है, किन्तु रस कभी भी वाच्य नहीं हो सकता, वह सर्वदा व्यंग्य ही होता है । रस इत्यादि का प्राण ही है आस्वादन किया जाना । जबतक किसी तत्त्व मे आस्वादनीयता नहीं आती तबतक उसे रस की संज्ञा दी नहीं जा सकती । इस आस्वादनीयता की तभी ठीक-ठीक व्याख्या की जा सकती है जब कि ध्वनिसिद्धान्त को

लोचनम्

रास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या भावः,अनौचित्येन तदाभासः, रावणस्येव सीतायां रतेः। यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतैव, 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः' इति वचनात्। तथापि पाश्चात्त्येयं सामाजिकानां स्थितिः। तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्याद्यतेति शृङ्गारतैव भाति पौर्वापर्यविवेकावधीरणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्' इत्यादौ। तदसौ शृङ्गाराभास एव। तदङ्गं भावाभासश्चित्तवृत्तेः प्रशम एव प्रक्रान्तायाः हृदयमाह्लादयति यतो विशेषेण, अत एव तत्सङ्गृहीतोऽपि पृथग्गणितोऽसौ। यथा—

वृत्ति की आस्वादनीयता होने पर रस होता है, व्यभिचारिणी के आस्वादनीय होने पर भाव होता है, अनौचित्य के साथ प्रवृत्त होने पर रसाभास और भावाभास होते हैं। जैसे रावण की सीता में रति (आस्वादनीय होकर रसाभास हो गई है)। यद्यपि वहाँ पर हास्यरसरूपता ही है क्योंकि कहा गया है कि शृङ्गार से हास्य होता है। तथापि सामाजिकों को यह बाद की स्थिति है तन्मय होने की दशा में तो रति की ही आस्वादनीयता होती है, इस प्रकार 'दूराकर्षण मोहमन्त्र के समान उस (सीता) के नाम के कर्णगोचर होने पर' इत्यादि में पौर्वापर्य के विवेक की अवधीरणा से शृङ्गारता ही शोभित होती है। अतः यह शृङ्गाराभास ही है। उसका अङ्ग भावाभास होता है। क्योंकि रसव्यञ्जना के लिये प्रारम्भ की हुई चित्तवृत्ति का प्रशम ही विशेष रूप से हृदय को आह्लादित करता है इसीलिये उसके द्वारा संग्रहीत भी यह भावप्रशम पृथक् गिना गया है जैसे—

तारावती

स्वीकार कर लिया जावे। अभिधा का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि 'आनन्द आ रहा है' यह कहने से या सुनने से किसी को आनन्द नहीं आ जाता विभिन्न वर्णनों और अभिनयों से आनन्दानुभूति असम्भव होती है जो कि ध्वनि का ही रूप है।) अभिधेयार्थ का बाध नहीं होता इसलिए यहाँ पर लक्षणा नहीं हो सकती।

रसध्वनि में रसध्वनि, भावध्वनि, रसाभासध्वनि, भावाभासध्वनि, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता ये सभी भेद सम्मिलित हैं। स्थायिनी चित्त वृत्ति जब औचित्य-प्रवृत्ति के साथ आस्वादरूपता को धारण करती है तब उसे रसध्वनि कहते हैं,जब व्यभिचारिणी चित्तवृत्ति आस्वादनरूप हो जाती है तब उसे भावध्वनि कहते हैं। जब वही चित्तवृत्तियाँ अनौचित्य-प्रवृत्त होती हैं तब क्रमशः रसाभास और भावाभास ध्वनियाँ होती हैं। जैसे राम का सीता के प्रति प्रेम रसध्वनि कहा जावेगा और रावण का सीता के प्रति प्रेम रसाभास कहलावेगा। यद्यपि इस प्रकार का रसाभाससम्बन्धी प्रेम हास्य ही कहा जावेगा। क्योंकि कहा गया है कि 'शृङ्गार से हास्य उत्पन्न होता है।' किन्तु रसाभास का ज्ञान तो सामाजिकों को

लोचनम्

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुमये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहम् ॥

इत्यत्रेर्ष्यारोषात्मनो मानस्य प्रशमः । न चायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः'

'एक ही शय्या पर पराङ् मुख होने के कारण उत्तरकालिककार्यरहित होकर सन्ताप का अनुभव करते हुए, एक-दूसरे के हृदय में अनुनय के स्थित रहते हुए भी गौरव को रक्षा करते हुये, दम्पति के धीरे से अपांङ्गवलन के कारण चक्षुओं के मिलजाने से हास और शीघ्रता के साथ कण्ठग्रह की सम्पन्नतापूर्वक मान-कलह नष्ट हो गया ।

यहाँ पर ईर्ष्यारोषात्मक मान का प्रशम हो गया है । यह रस इत्यादि अर्थ 'तुम्हारे पुत्र

तारावती

बाद में होगा । रस की उस दशा में जब पाठक तन्मय हो जाता है उसके आस्वाद में रति ही कारण होती है । जब हम रावण के मुख से ऐसे शब्द सुनते हैं कि—'उस सीता के नाम में एक जादू है जो ऐसा मालूम पड़ता है मानों आकर्षण का मोहनमन्त्र हो' इत्यादि वाक्यों को सुनने से चित्तवृत्ति रति इत्यादि भावों में ऐसी तन्मय हो जाती है कि विभाव (नायक और नायिका) का ध्यान ही नहीं रहता, जिससे औचित्य-अनौचित्य का निर्णय किया जा सके । उस समय विभाव अनुभाव इत्यादि का विचार सर्वथा लुप्त हो जाता है और रसास्वादन ही प्रत्यक्ष रह जाता है । बाद में जब विभाव इत्यादि पर विचार किया जाता है और यह ज्ञात होता है कि यह रति तो सीता के प्रति रावण की है तब उस शृङ्गार के प्रति हास्य का उदय होता है । शृङ्गार के प्रति हास्यचर्वणा ही शृङ्गाराभास के नाम से पुकारी जाती है । जो व्यभिचारीभाव रसाभास का अङ्ग होता है उसे भावाभास कहते हैं । भावध्वनि में ही भावप्रशम का भी समावेश हो सकता था, किन्तु यहाँ पर पृथक् परिगणन किया गया है । इसका कारण यह है कि कभी-कभी जब चित्तवृत्ति आस्वादरूपता को धारण करने लगती है उस समय भाव नहीं भाव-प्रशम ही हृदय को आनन्द देने में कारण होता है । जैसे—

'नायक और नायिका ने एक दूसरे से मान किया है. दोनों एक ही चारपाई पर लेटे हैं, दोनों ने एक दूसरे की ओर से करवट बदल रक्खी है, लौटने के बाद के सारे कार्य बन्द हैं, दोनों के चित्तों में सन्ताप है, हृदय में एक दूसरे से अनुनय करने की इच्छा होते हुए भी अपने-अपने गौरव की रक्षा करते हैं इसी समय दोनों के अपाङ्ग इशारे में घूमे और दोनों की आँखें मिल गई, दोनों को हँसी आ गई, दोनों चटपट एक-दूसरे के गले में चिपट गये और उनका प्रणयरोष का कलह समाप्त हो गया ।'

लोचनम्

इत्यतो यथा हर्षो जायते तथा। नापि लक्षणया। अपि तु सहृदयस्य हृदयसंवादबलाद्विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति। तदाह—प्रकाशत इति। तेन तत्र शब्दस्य ध्वननमेव व्यापारोऽर्थसहकृतस्येति। विभावाद्यर्थोऽपि न पुत्रजन्महर्षन्यायेन तां चित्तवृत्तिं जनयतीति जननातिरिक्तोऽर्थस्यापि व्यापारो ध्वननमेवोच्यते। स्वशब्देति। शृङ्गारादिना शब्देनाभिधाव्यापारवशादेव निवेदितत्वेन। विभावादीति। तात्पर्यशक्त्येत्यर्थः। तत्र स्वशब्दस्यान्वयव्यतिरेकौ रस्यमानतासारं रसं प्रति निराकुर्वन् ध्वननस्यैव ताविति दर्शयति—न च सर्वत्रेति।

उत्पन्न हुआ है' इसमें जैसा हर्ष होता है वैसा नहीं है। लक्षणा के द्वारा भी नहीं। अपितु सहृदय के हृदयसंवाद के बल पर विभाव और अनुभाव की प्रतीति में तन्मयता के आ जाने से आस्वादगोचर होते हुए ही रस्यमानता को ही एकमात्र प्राण के रूप में रखनेवाला सिद्ध स्वभाव सुख इत्यादि से विलक्षण स्फुरित होता है। यही कहते हैं—प्रकाशित होता है। इससे वहाँ पर अर्थसहकृत शब्द का ध्वनन ही व्यापार होता है। विभावादि अर्थ भी पुत्रजन्महर्ष न्याय से उस चित्तवृत्ति को उत्पन्न करता है इसप्रकार अर्थ का भी जननातिरिक्त व्यापार ध्वनन ही कहा जाता है। स्वशब्देति। अर्थात् शृङ्गार इत्यादि शब्द से अभिधा व्यापार वश ही निवेदित होने के कारण। विभावादि। अर्थात् तात्पर्य शक्ति से। वहाँ पर रस्यमानतासार (रस) के प्रति स्वशब्द के अन्वय-व्यतिरेक का निराकरण करते हुये ध्वनन के ही वे दोनों (अन्वय-व्यतिरेक) होते हैं यह दिखला रहे हैं—न च सर्वत्रेति।

तारावती

यहाँ पर ईर्ष्या और रोष आस्वादन में निमित्त नहीं हैं किन्तु उनका प्रशम ही निमित्त है। (इसी प्रकार भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता के विषय में भी समझना चाहिये। यह है रसध्वनि के विस्तार का संक्षिप्त परिचय।)

इस रसास्वादन से उत्पन्न होनेवाला आनन्द अभिधावृत्ति से संगृहीत नहीं हो सकता। अभिधावृत्ति के द्वारा भी आनन्द उत्पन्न हुआ करता है और वह इस प्रकार का हुआ करता है जैसा कि 'हे ब्राह्मण ! तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ।' यह कहने से ब्राह्मण को होता है। रसास्वादन का आनन्द उससे विलक्षण होता है क्योंकि उसमें अपने-पराये का भाव तिरोहित हो जाता है। बाध इत्यादि के न होने से लक्षणा भी नहीं हो सकती। किन्तु जिस समय हम काव्य में किसी अवलम्बन के प्रति उत्पन्न होनेवाले आश्रयगत किसी भाव का परिशीलन करते हैं और प्रकृतिवर्णन तथा आलम्बनगत चेष्टा इत्यादि को उद्दीपन के रूप में और आश्रयगत चेष्टाओं को अनुभाव के रूप में प्रतीति करते हैं उस समय में वह आश्रयगत भाव अपने हृदय से मेल खाता हुआ सा मालूम पड़ता है। उस समय हमारा अन्तःकरण उस भाव से

लोचनम्

यथा भट्टेन्दुराजस्य—

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत् ।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निविडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः ॥

जैसे भट्टेन्दुराज का—'बीच बीच में रुक रुक कर होनेवाले दृष्टिपातों में जो कि नेत्र अस्थिरता को प्राप्त हो जाते हैं, काटी हुई कमलिनी की नाल के समान जो कि उसके सारे अङ्ग सूखते चले जा रहे हैं; दूर्वाकाण्ड को भी तिरस्कृत करनेवाली घनी पीलिमा जो कि उसके कपोलों पर व्याप्त है, यौवन को प्राप्त कृष्ण के प्रति यौवनवती वनिताओं की बस यही वेषस्थिति है।

तारावती

तन्मय हो जाता है। हमें भी उस समय उस भाव में आनन्द की प्रतीति होने लगती है। इसी आनन्द का नाम रस है। आस्वादन करना ही इसका एक मात्र प्राण है। यह रस लौकिक सुखादि से इस अर्थ में भिन्न होता है कि लौकिक सुख साध्य होते हैं किन्तु यह स्वयं सिद्ध स्वप्रकाशानन्दस्वरूप होता है। यह उत्पन्न नहीं होता किन्तु स्वयं स्फुरित होता है। इसीलिये मूल में कहा गया है वह प्रकाशित होता है।

उपर्युक्त विधि से यह तृतीय रसध्वनि वाक्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होकर स्वयं प्रकाशित हुआ करती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि रसादि की प्रतीति में अर्थ सहकार के साथ शब्द का ध्वननव्यापार ही हुआ करता है। विभाव इत्यादि वाच्यार्थ भी रसादिरूप चित्तवृत्ति को उस प्रकार उत्पन्न नहीं किया करते जिस प्रकार पुत्रजन्म के समाचार से आनन्दात्मक चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। अतएव रसानुभूति में अर्थ का भी ध्वननव्यापार ही होता है। रस की वाच्यता दो ही रूपों में हो सकती है या तो रस, श्रृंगार, रति इत्यादि शब्दों का प्रयोग करके या विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा तात्पर्यशक्ति से। यदि हम रस को शब्दवाच्य मानेंगे तो रस इत्यादि शब्द और रसानुभूति में अन्वय-व्यतिरेक मानना पड़ेगा। 'जहाँ रसास्वादन होता है वहाँ श्रृङ्गार इत्यादि शब्द अवश्य होते हैं' यह अन्वय है और 'जहाँ श्रृङ्गार इत्यादि शब्द नहीं होते वहाँ रसानुभूति भी नहीं होती' यह व्यतिरेक है। किन्तु ऐसा होता नहीं है।

[यदि कोई व्यक्ति रङ्गमञ्च पर आकर कह दे 'मैं क्रोध में भरा हूँ' 'मैं रति से युक्त हूँ' 'मुझे लज्जा आ रही है' और क्रोध रति लज्जा इत्यादि के अनुभावों का अभिनय न करे तो सहृदयों को कथमपि रसास्वादन नहीं हो सकेगा। इसके प्रतिकूल होता यह है कि रस इत्यादि शब्दों के न होने पर भी केवल अनुभावों का ही वर्णन कर देने से रसास्वादन हो जाता है।]

लोचनम्

इत्यत्रानुभावविभावावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्या तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा स्फुरत्येवाभिलाषचिन्तौत्सुक्यनिद्राधृतिग्लान्यालस्यश्रमस्मृतिवितर्कादिशब्दाभावेऽपि। एवं व्यतिरेकाभावं प्रदर्श्यान्वयाभावं दर्शयति—यत्रापीति। तदिति स्वशब्दनिवेदितत्वम्। प्रतिपादनमुखेनेति। शब्दप्रयुक्तया विभावादिप्रतिपत्त्येत्यर्थः।

यहाँ पर अनुभाव विभाव के बोधन के बाद ही तन्मय होने की युक्ति के उस विभाव और अनुभाव के योग्य चित्तवृत्ति की वासना से अनुरञ्जित अपनी संवेदनामयी आनन्दचर्वणा का विषयभूत अर्थ ही रस की आत्मावाला स्फुरित होता है, यद्यपि यहाँ पर अभिलाष, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, धृति ग्लानि, आलस्य, श्रम, स्मृति, वितर्क इत्यादि किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इसप्रकार व्यतिरेक का अभाव दिखलाकर अन्वय का अभाव दिखला रहे हैं—यत्रापीति। 'तत्' का अर्थ है स्वशब्दनिवेदितत्व। प्रतिपादनमुखेनेति। अर्थात् शब्द के द्वारा प्रयुक्त की हुई विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति के द्वारा।

तारावती

जैसे भट्टेन्दुराज का निम्नलिखित उदाहरण—'कृष्ण का यौवन प्रारम्भ हो रहा है और उधर युवतियाँ भी भरे हुये यौवन से आप्यायित हैं। अतः कृष्ण को देखकर यौवनवती वनिताओं का रंग-ढंग ही बदल जाता है। बीच बीच में रुक-रुक कर वे कृष्ण को देख लेती हैं जिससे उनके नेत्र अस्थिर हो जाते हैं। जैसे—कटी हुई कमलिनी सूखती जाती है वैसे ही उन वनिताओं के अङ्ग भी सूखते चले जा रहे हैं। उनके कपोलों पर कृशताजन्य पीलिमा भी फैल रही है जो कि सूखी हुई घास की पीलिमा को भी लज्जित करनेवाली है।'

यहाँ पर कृष्ण आलम्बन हैं वनितायें आश्रय हैं, चञ्चल नेत्रों से रुक रुक कर देखना इत्यादि अनुभाव हैं, कृष्ण का यौवन उद्दीपन विभाव है। इन विभाव और अनुभावों का बोध हो जाने के बाद चित्तवृत्ति में जो तन्मयता आ जाती है और चित्तवृत्ति अनुभाव और विभाव के योग्य जिस वासना से अनुरञ्जित हो जाती है उसके द्वारा स्वप्रकाशनन्द चिन्मय रस का स्फुरण होने लगता है। यद्यपि यहाँ पर भी अभिलाष, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, धृति, ग्लानि, आलस्य, श्रम, स्मृति, वितर्क इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है किन्तु इन सबकी प्रतीति विभाव और अनुभाव के बल पर ही हो जाती है।

इस प्रकार यहाँ पर व्यतिरेकव्याप्ति 'जहाँ शृङ्गार इत्यादि शब्द नहीं होते वहाँ रसानुभूति नहीं होती' में दोष दिखला दिया गया कि उक्त पद्य में शृङ्गार इत्यादि शब्दों के न होने पर भी रसानुभूति हो जाती है, अब अन्वयव्याप्ति का अभाव दिखलाया जा रहा है—काव्य में कहीं-कहीं रस, शृङ्गार इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। वहाँ पर भी उनकी प्रतीति विशेषरूप से विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा ही होती है, शब्दों का प्रयोग तो केवल उन भावों का अनुवाद करने के लिये ही होता है। जैसे—

लोचनम्

सा केवलमिति । तथाहि—

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां
कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्यसोत्कण्ठया ।
तद्गीतं गुरुवाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥

इत्यत्र विभावानुभावावम्लानतया प्रतीयेते । उत्कण्ठा च चर्वणागोचरं प्रतिपद्यत एव । सोत्कण्ठाशब्दः केवलं सिद्धं साधयति, उत्कमित्यनेन तूक्तानुभावानुकर्षणं कर्तुं सोत्कण्ठा शब्दः प्रयुक्त इत्यनुवादोऽपि नानर्थकः, पुनरनुभवप्रतिपादनं हि पुनरुक्तिरतन्मयीभावो वा । न तु तत्कृतेत्यत्र हेतुमाह विषयान्तर इति । यद्विश्रम्य इत्यादौ । न हि यदभावेऽपि यद्भवति तत्कृतं तदिति भावः । अदर्शनमेव दृढयति—नहीति । केवलशब्दार्थं स्फुटयति—विभावादिति । काव्य इति । तव मते काव्यरूपतया प्रसज्यमान इत्यर्थः । मनागपीति ।

सा केवलमिति । वह इसप्रकार—"जब मधुमथन भगवान् कृष्ण द्वारका चले गये तब यमुना तट पर उगी हुई और विहरणकालमें भगवान् कृष्ण के द्वारा खींचे जाने के कारण झुकी हुई वंजुललता का आलिङ्गनकर उत्कण्ठा से भरी हुई राधा ने वाष्पप्रवाह के कारण गद्गद कण्ठ से तारस्वर में ऐसा गाना गाया कि स्थलचारियों का तो कहना ही क्या जल के अन्दर निवास करनेवाले जीवों ने भी उत्सुकतावश कूजना प्रारम्भ कर दिया।"

यहाँ पर विभाव और अनुभाव अम्लान रूप में प्रतीत हो रहे हैं, और उत्कण्ठा चर्वणागोचरता को प्राप्त होती ही है। 'सोत्कण्ठ' शब्द केवल सिद्ध को ही सिद्ध कर रहा है। 'उत्क' इस शब्द के द्वारा उक्त अनुभावों का आकर्षण करने के लिये ही सोत्कण्ठा शब्द का प्रयोग किया गया है। इसप्रकार अनुवाद भी निरर्थक नहीं है। 'पुनः अनुभाव के द्वारा प्रतिपादन करने में पुनरुक्ति अथवा अतन्मयीभाव उसके द्वारा नहीं होता' इस विषय में हेतु बतला रहे हैं—'विषयान्तरे' इत्यादि। 'यद्विश्रम्य' इत्यादि स्थानों पर। जिसके अभाव में भी जो हो जाता है वह उसका बनाया हुआ नहीं कहा जा सकता। न देखे जाने को ही दृढ़ कर रहे हैं—'न हि' इत्यादि। केवल शब्द को स्पष्ट कर रहे हैं विभाव इत्यादि। काव्य इति। अर्थात् तुम्हारे मत में काव्य के रूप में जो तत्त्व प्रसक्त होता है। 'मनागपीति'।

तारावती

'जब मधुमथन भगवान् कृष्ण द्वारका को चले गये तब यमुनातट पर उगी हुई और विहरणकाल में भगवान् कृष्ण के द्वारा खींचे जाने के कारण झुकी हुई वन्जुललता का आलिङ्गनकर उत्कण्ठा से भरी हुई राधा ने वाष्पप्रवाह के कारण गद्गद कण्ठ से तारस्वर में ऐसा गाना गाया कि स्थलचारियों का तो कहना ही क्या जल के अन्दर निवास करनेवाले जीवों ने भी उत्सुकतावश कूजना प्रारम्भ कर दिया।'

लोचनम्

शृङ्गारहास्यकरुणवीररौद्रभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

इत्यत्र । एवं स्वशब्देन सह रसादेर्व्यतिरेकान्वयाभावमुपपत्त्या प्रदर्श्य तथैवोपसंहरति—यतश्चेत्यादिना कथञ्चिदित्यन्तेन । अभिधेयमेव सामर्थ्यं सहकारिशक्तिरूपं विभावादिकं रसध्वनने शब्दस्य कर्तव्ये अभिधेयस्य च पुत्रजन्महर्षभिन्नयोगक्षेमतया जननव्यतिरिक्ते दिवाभोजनाभावविशिष्टपीनत्वानु-

'शृङ्गार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स और अद्भुत संज्ञावाले ये आठ रस नाट्य में माने गये हैं ।'

यहाँ पर । इसप्रकार स्वशब्द के साथ रस इत्यादि का व्यतिरेकाभाव और अन्वयाभाव को उपपत्ति के द्वारा दिखलाकर उसी प्रकार उपसंहार दिखलाते हैं— 'यतश्च' से लेकर 'कथञ्चित्' यहाँ तक । ('अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्व' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—कर्मधारय के आधार पर और तत्पुरुष के आधार पर । एक के द्वारा शब्द आता है और दूसरे के द्वारा अर्थ) अभिधेय ही है सहकारिताशक्तिरूप सामर्थ्य अर्थात् शब्द के रसध्वनन करने में विभाव इत्यादि । अभिधेय अर्थात् वाच्यार्थ का सामर्थ्य अर्थात् पुत्रजन्मजन्य हर्ष से भिन्न स्वभाव होने के कारण जननव्यतिरिक्त और दिन में भोजन न करने की विशेषता से युक्त पीनत्व के द्वारा

तारावती

यहाँ पर कृष्ण आलम्बन हैं, राधा आश्रय हैं, विहरण काल में झुकी हुई वञ्जुल लता उद्दीपन है, वाष्पप्रवाह, गद्गद कण्ठ, तारस्वर में गायन अनुभाव हैं । इन विभाव और अनुभावों की प्रतीति में किसी प्रकार की मलिनता नहीं है । इनके द्वारा रतिभाव की प्रतीति होती है । यहाँ पर औत्सुक्य सञ्चारीभाव का प्रत्यायन अनुभावों के द्वारा ही होता है । 'उत्कण्ठा से भरी हुई' यह विशेषण अनुभावों के बलपर प्रकट की हुई उत्कण्ठा का अनुवादक मात्र है । यहाँ पर अनुवाद व्यर्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुभावों का प्रयोग तो उत्कण्ठा का आस्वादन कराने के लिये किया गया है और 'सोत्कण्ठ' तथा 'उक्त' शब्दों का प्रयोग राधा की उत्कण्ठा से जलचरों की उत्कण्ठा की सङ्गति भिड़ाने के लिये किया गया है । यदि अनुभावों का अनुवाद करने के लिये सोत्कण्ठ तथा उक्त शब्दों का प्रयोग न किया गया होता तो जलचरों के लिए पृथक् अनुभाव लिखने पड़ते जिससे एक तो पुनरुक्ति होती दूसरे तन्मयता उत्पन्न नहीं हो सकती थी । शब्द के द्वारा अनुवाद करने पर यह दोष उत्पन्न नहीं होता ।

जहाँ पर अनुभावों के द्वारा भी किसी भाव की अभिव्यक्ति हो और तद्वाचक शब्द का उपादान भी कर दिया गया हो, उस अभिव्यक्ति में अनुभाव ही कारण होते हैं शब्दजन्य आनन्दानुभूति नहीं हो सकती । 'शब्द केवल अनुवादक होते हैं' इसमें यही प्रमाण है कि अन्य स्थानों पर भावजन्य आनन्दानुभूति तो होती है किन्तु वहाँ पर शब्द का उपादान नहीं होता । जैसे 'उद्भ्रम्य विलोकितेषु…' इत्यादि पिछले उदाहरण में । इसके प्रतिकूल जहाँ पर

लोचनम्

भूतरात्रिभोजनविलक्षणतया चानुमानव्यतिरिक्ते ध्वनने कर्तव्ये सामर्थ्यं शक्ति-विशिष्टसमुचितो वाचकसाकल्यमिति द्वयोरपि शब्दार्थयोर्ध्वननं व्यापारः । एव द्वौ पक्षावुपक्रम्याद्यो दूषितः द्वितीयस्तु कथञ्चिद्दूषितः कथञ्चिदङ्गीकृतः । जननानुमानव्यापाराभिप्रायेण दूषितः'ध्वननाभिप्रा येणाङ्गीकृतः ।

यस्त्वत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वननं मन्यते, स न वस्तुतत्त्ववेदी । विभावानुभावप्रतिपादके हि वाक्ये तात्पर्यशक्तिर्भेदे संसर्गे वा पर्यवस्येत्' न तु रस्यमानतासारे रसे इत्यलं बहुना । इति शब्दो हेत्वर्थे । इत्यपि हेतोस्तृतीयोऽपि प्रकारो वाच्याद्भिन्न एवेति सम्बन्धः । सहेवेति । इवशब्देन विद्यमानोऽपि क्रमो न संलक्षित इति दर्शयति अग्रे इति । द्वितीयोद्योते ॥ ४ ॥

अनुमान लगाये हुये रात्रिभोजन से विलक्षण होने के कारण अनुमान से व्यतिरिक्त, ध्वनन करने में सामर्थ्य अर्थात् शक्ति अर्थात् विशेषताओं से युक्त वाचकसाकल्य । इस प्रकार शब्द और अर्थ इन दोनों का ही व्यापार ध्वनन होता है। इसप्रकार दो पक्षों का उपक्रम करके प्रथम का खण्डन कर दिया; द्वितीय किसीप्रकार दूषित कर दिया और किसीप्रकार अङ्गीकृत कर लिया। जनन और अनुमान के अभिप्राय से खण्डन कर दिया और ध्वनन के अभिप्राय से अङ्गीकृत कर लिया।

जो यहाँ पर भी तात्पर्यशक्ति को ही ध्वनन मानता है वह वस्तुतत्त्व को नहीं समझता। विभाव और अनुभाव के प्रतिपादक वाक्य में निस्सन्देह तात्पर्यशक्ति भेद में या संसर्ग में पर्यवसित होगी, आस्वादन ही जिसका सार है इसप्रकार के रस में पर्यवसित नहीं होगी। अधिक कहने की क्या आवश्यकता। इति शब्द हेतु अर्थ में आया है। यहाँ पर सम्बन्ध इस प्रकार का है—'इस हेतु से भी तृतीय भी प्रकार वाच्य से भिन्न ही होता है।' 'सहेवेति'। 'इव' शब्द से विद्यमान भी क्रम लक्षित नहीं हो रहा है यह बात दिखला रहे हैं—आगे चल-कर। अर्थात् द्वितीय उद्योग में।

तारावती

विभाव इत्यादि के द्वारा प्रतिपादन न किया गया हो केवल शृङ्गार इत्यादि शब्दों का उपादान हो वहाँ पर रसवत्ता की बिल्कुल प्रतीति नहीं होती। जैसे 'शृङ्गार हास्य करुण...'इत्यादि भरत मुनि की कारिका में सभी रसों का नाम गिनाया गया है किन्तु रसानुभूति किसी की नहीं होती। जिसके अभाव में कोई वस्तु उत्पन्न हो जावे तो वह उस वस्तु में कारण नहीं माना जा सकता।

यहाँ पर अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध किया गया है कि रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग रसास्वादन में निमित्त नहीं होता अपितु विभाव अनुभाव के द्वारा उनका आक्षेप ही रसा-स्वादन में निमित्त होता है। अन्वय का अर्थ है सत्ता और व्यतिरेक का अर्थ है अभाव।

तारावती

जहाँ कहीं रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है वहीं रसास्वादन होता है यह अन्वय है और जहाँ कहीं रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं होता वहाँ रसास्वादन भी नहीं हो सकता यह व्यतिरेक है। किन्तु ये दोनों बातें यहाँ पर ठीक नहीं घटतीं। ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि रसास्वादन रस इत्यादि शब्दों के प्रयोग होने पर भी नहीं होता और इन शब्दों के प्रयोग न होने पर भी हो जाता है। अतएव रसास्वादन में रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग कारण नहीं हो सकता अब दूसरी बात लीजिये—जहाँ कहीं अनुभाव इत्यादि के द्वारा आक्षेप होता है वहीं रसास्वादन हो सकता है, जहाँ इस प्रकार का आक्षेप नहीं होता वहाँ रसास्वादन हो नहीं सकता ये दोनों बातें ठीक हैं। अतएव रस वाच्य नहीं स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्त ही होते हैं।

स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्त शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार की हो सकती है—(१) समानाधिकरण तत्पुरुष अर्थात् अभिधेय या वाच्यार्थ ही वह शक्ति है जिसके बल पर शब्द रस का आक्षेप करता है। आशय यह है कि शब्द की शक्ति होती है अभिधेय या वाच्यार्थ। रस के प्रसङ्ग में वाच्यार्थ होता है विभाव इत्यादि। इन विभावादिकों का आश्रय लेकर शब्द-प्रयोग—रसाभिव्यञ्जन में वाच्यार्थ की उपयोगिता सिद्ध हो जाती है। (२) वैय्यधिकरण तत्पुरुष—अभिधेय का सामर्थ्य—वाच्यार्थ की शक्ति है गुण और अलङ्कारों से युक्त तथा रस के अनुकूल वाचकसमुदाय। यह अभिधेय सामर्थ्य रस इत्यादि का ध्वनन किया करता है। इस व्युत्पत्ति से रसाभिव्यन्जन में शब्दसहकारिता की व्याख्या हो जाती है। यह ध्वनन-व्यापार रस इत्यादि का जनक नहीं होता जैसा कि पुत्रजन्म का समाचार पिता के हृदय में हर्ष का जनक हुआ करता है; और न रस इत्यादि का अनुमान ही कराता है जैसा कि दिन में भोजन न करने पर भी स्थूल होना रात्रिभोजन का अनुमान कराया करता है। अतएव ध्वननव्यापार शब्द और अर्थ दोनों का हो सकता है। यहाँ पर रस की वाच्यता के दो पक्ष उठाये गये थे—(१) रस शब्दों के द्वारा वाच्य हो सकता है, (२) रस विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा वाच्य हो सकता है। प्रथम पक्ष का खण्डन कर दिया और द्वितीय पक्ष का एक रूप में खण्डन कर दिया और एक रूप में स्वीकार कर लिया। विभाव अनुभाव इत्यादि रस के जनक या अनुमापक होते हैं इस अंश में खण्डन कर दिया और ध्वनन करते हैं इस रूप में स्वीकार कर लिया। [प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार उद्भट ने रसास्वादन के ५ प्रकार माने थे—स्वशब्दवाच्यत्व, स्थायी, सञ्चारी, विभाव या अभिनय के द्वारा कथन। इस प्रकार यह स्वशब्दवाच्यता ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिकूल है। इसका उत्तर कुन्तक ने बड़े ही मनोरञ्जक ढङ्ग से दिया है। उन्होंने लिखा है कि—हमने तो कभी रस की स्वशब्द-वाच्यता सुनी नहीं। यह तो बड़ा अच्छा है घी इत्यादि शब्दों का नाम लिया और स्वाद आ गया और सुखार्थी लोग त्रैलोक्य राज्य, सुख, समृद्धि सम्पत्ति इत्यादि को केवल इन शब्दों

ध्वन्यालोके

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ५ ॥

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः । तथा चादिकवेः वाल्मीकेः निहतसहचरविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दनजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः । शोको हि करुणस्थायिभावः । प्रतीयमानस्य चान्यभेद-दर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणप्राधान्यात् ।

(अनु०) 'वही अर्थ काव्य की आत्मा है' इसमें यही प्रमाण है कि प्राचीन काल में क्रौञ्च के जोड़े के परस्पर वियोग से उत्पन्न हुआ आदिकवि का शोक ही श्लोक के रूप में परिणत हो गया ॥ ५ ॥

विविध वाच्यवाचकरचनाप्रपञ्च से सुन्दरता को प्राप्त काव्य का वही (प्रतीयमान) अर्थ सारभूत है उसमें यह प्रमाण है कि मारे हुए सहचर के वियोग से कातर क्रौञ्चो के आक्रन्द से उत्पन्न हुआ आदिकवि वाल्मीकि का शोक ही श्लोकरूप में परिणत हुआ । निस्सन्देह शोक करुणा का स्थायीभाव है । प्रतीयमान के अन्य भेदों को देखने पर भी रस, भाव के द्वारा ही उपलक्षण किया गया है क्योंकि प्रधानता उसी की है ।

लोचनम्

एवं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इतीयता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम् । अधुना काव्यात्मत्वमितिहासव्य।जेन च दर्शयति—काव्यस्यात्मेति । स एवेति । प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरितिमन्तव्यम् । इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थबलाच्च । तेन रस एव वस्तुत आत्मा । वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मेति' सामान्येनोक्तः । शोक इति । क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरी-हननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद्वि-प्रलम्भश्रृङ्गारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्था-

इस प्रकार 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इतने से ध्वनिस्वरूप की व्याख्या कर दी । इस समय इतिहास के रूप में भी काव्यात्मत्व दिखला रहे हैं—काव्यस्यात्मेति । 'वहीं' इस शब्द के द्वारा समस्त प्रतीयमान के प्रक्रान्त होते हुये भी इतिहास के बल पर और प्रकरणागत वृत्तिग्रन्थ के अर्थ के बल पर तृतीय रसध्वनि ही समझी जानी चाहिये । इससे रस ही वास्तव में आत्मा है; वस्तु तथा अलङ्कारध्वनि तो रस के प्रति ही पर्यवसित होती हैं इसप्रकार वाच्य की अपेक्षा वे दोनों उत्कृष्ट होती हैं इस अभिप्राय से सामान्य रूप में कह दिया गया है कि ध्वनि काव्य की आत्मा है । शोक इति । क्रौञ्च के द्वन्द्ववियोग से अर्थात् सहचरीहनन से उत्पन्न साहचर्य-ध्वंस से उठा हुआ जो शोक स्थायीभाव (वह) निरपेक्ष भाव के कारण विप्रलम्भश्रृङ्गारोचित रतिस्थायीभाव से भिन्न ही है । वही उस प्रकार के विभाव तथा उससे उठे हुये आक्रन्द

लोचनम्

क्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्तिनिःष्यन्दस्वभाववाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादितिनयेनाकृतकतयैवावेशवशात्समुचितशब्दछन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः ।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ इति ।

इत्यादि अनुभाव की चर्वणा के द्वारा हृदय संवाद तथा तन्मय होने के क्रम से आस्वाद्यमानता को प्राप्त होकर लौलिक शोक से भिन्न करुण रसरूप को, जिसका कि सार अपने चित्त की द्रुति का समास्वादन हो है, प्राप्त होकर रस से भरे हुये घड़े के छलकने के समान और चित्तवृत्ति के प्रवाह स्वभाववाले वाग्विलाप इत्यादि के समान संकेत की अपेक्षा न करते हुये चित्तवृत्ति के व्यंजक होने के कारण इस नीति से बिना ही बनावट के अर्थात् बिना ही बुद्धिपूर्वक विचार किये हुये 'आवेशवश (वह शोक) समुचित शब्द छन्द वृत्त इत्यादि से नियमित होकर श्लोकरूपता को प्राप्त हो गया।

'हे निषाद ! शाश्वत वर्षों में तुम प्रतिष्ठा को न प्राप्त हो ओ जो कि क्रौञ्च मिथुन में काममोहित एक को तुमने मार डाला है।'

तारावती

का उच्चारण करते ही प्राप्त कर लेंगे। उद्भट ने कुमारसम्भव के उदाहरणों से जो स्वशब्दवाच्यता दिखलाई है उसका भी उत्तर दे दिया गया कि ऐसे स्थानों पर भी रसानुभूति विभावानुभाव इत्यादि के द्वारा ही होती है। स्वशब्द अनुवादक मात्र ही हो सकते हैं।]

कुछ लोगों ने लिखा है कि 'अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्त' का अर्थ है तात्पर्यशक्ति। तात्पर्यशक्ति ही ध्वननव्यापार है।' यह व्याख्या करनेवाले वस्तुतत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। विभाव अनुभाव इत्यादि के प्रतिपादक वाक्य में तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान या तो भेद में हो जाता है या संसर्ग में। (जैसे 'गाम् आनय' इस वाक्य में तात्पर्यवृत्ति या तो अन्य क्रियाओं और कर्मों से भेद बतलाती है या आनयन क्रिया के प्रति गो का कर्मत्व बतलाती है।) यह वृत्ति रस को अनुभूतिगम्य नहीं बना सकती जिसका सार आस्वादन करना ही है। इतना पर्याप्त है अधिक विस्तार को क्या आवश्यकता ? मूल में 'इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्भिन्न एव' इस वाक्य में 'इति' का अर्थ है हेतु। इसप्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा—'उक्त कारणों से तृतीय भेद रसध्वनि भी वाच्य से भिन्न ही होती है। 'वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिः' इस वाक्य में 'इव' शब्द का अर्थ है—'असंल्लक्ष्यक्रमव्यंग्य में विद्यमान भी कम लक्षित नहीं होता इस बात का विवेचन दूसरे उद्योत में किया जावेगा ॥४॥

चौथी कारिका में ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की गई। अब इतिहास के बहाने से भी

तारावती

यह सिद्ध किया जा रहा है कि वह ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। यद्यपि यहाँ पर प्रकरण प्रतीयमान मात्र का है तथापि आदि कवि के शोकरूप इतिहास के दृष्टान्त से तथा वृत्तिकार आनन्दवर्धन की व्याख्या के आधार पर 'स एव' का अर्थ रसध्वनि हो ठहरता है। अतएव वस्तुतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है यही अर्थ समझना चाहिये। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि वहीं पर काव्यरूपता को धारण करती हैं जहाँ पर वे रसध्वनिपर्यवसायी होती हैं। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि भी वाच्यार्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट होती हैं अतः सामान्य रूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा कह दिया गया है।

[कारिका नं० ४ में 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव……' लिखकर वाच्यार्थव्यतिरिक्त व्यङ्गयार्थ का परिचय दिया गया था; इसमें वस्तु, अलङ्कार तथा रस ये तीनों प्रकार की ध्वनियाँ आ जाती थीं। उसी व्यङ्गयार्थ को ध्वनिकार ने प्रस्तुत कारिका में काव्य की आत्मा बतलाया। केवल प्रमाण या उदाहरण के रूप में शोक की श्लोकत्वपरिणति का उल्लेख किया जिसका अर्थ रसध्वनिपरक हो सकता था। किन्तु कारिका और उसके प्रकरण से स्पष्ट प्रकट होता है कि ध्वनिकार तीनों प्रकार की ध्वनियों को काव्य की आत्मा मानते हैं। आनन्दवर्धन ने इस कारिका की व्याख्या उपलक्षणपरक की। उनका आशय यह है कि 'ध्वनिकार ने उदाहरण के रूप में जो शोक की श्लोकत्वपरिणति दिखलाई है उसका अर्थ यह नहीं है कि रसध्वनि ही काव्य की आत्मा होती है। रसध्वनि तो उपलक्षणमात्र है। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि भी रसध्वनि के समान ही काव्य की आत्मा हो सकती हैं।' इसके प्रतिकूल अभिनव गुप्त ने रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ध्वनि-समुदाय के दो वर्ग हैं—एक ओर तो वे लोग हैं जो ध्वनिमात्र को काव्य की आत्मा मानते हैं और दूसरे वे लोग हैं जो केवल रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानने के पक्षपाती हैं। आनन्दवर्धन प्रथम वर्ग में हैं और अभिनवगुप्त द्वितीय वर्ग में किन्तु दोनों में अधिक भेद नही है। स्वयं आनन्दवर्धन ने अनेक स्थानों पर रसध्वनि की प्रधानता प्रतिपादित की है।

जब क्रौञ्ची के सहचर का बध करदिया गया और उनका परस्पर साहचर्य भङ्ग हो जाने के कारण उन्हें जो शोक हुआ उसे हम विप्रलम्भ के स्थायीभाव रति का सञ्चारीभाव शोक नहीं कह सकते। कारण यह है कि जबतक पुनः सम्मिलन को आशा रहती है तभीतक हम उसे रतिस्थायी में सन्निविष्ट कर सकते हैं। सहचर की हत्या के बाद आलम्बन के विच्छिन्न हो जाने से वह शोक रति की सीमा के बाहर हो गया। अतः वह शोक स्थायीभाव था। कविवर वाल्मीकि जी के चित्त में वासनारूप में जो शोक विद्यमान था उसे रस की उपयुक्त सामग्री प्राप्त हो गई। मृत क्रौञ्च आलम्बन था और उसके वियोग से कातर क्रौञ्ची आश्रय थी। क्रौञ्चीका आक्रन्द इत्यादि अनुभाव था और विषाद इत्यादि सञ्चारीभाव थे। इनकी सहायता से अनुभावों के आस्वादन के द्वारा क्रौञ्च के शोक के साथ वाल्मीकि जी का

लोचनम्

न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम् । एवं हि सति दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत् । न च दुःखसन्तप्तस्यैषा दशेति । एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्चलनस्वभावत्वात्स एव काव्य-स्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशब्दवैलक्षण्यकारकः ।

मुनि का शोक है यह नहीं समझना चाहिये। ऐसा होने पर उसके दुःख से वह भी दुःखी हुये इस हेतु को लेकर रस का आत्मा होना निरवकाश हो जावेगा। दुःखसंतप्त की यह दशा नहीं होती। इस प्रकार चर्वणा के योग्य शोकस्थायिभावात्मक करुण रस के उच्चलन का स्वभाव होने के कारण वही काव्य की आत्मा अर्थात् सारभूत स्वभाव सा है तथा (उसका यह स्वभाव ही) दूसरे शब्द (बोधों) से विलक्षणता करनेवाला है।

तारावती

शोक एकरूपता को प्राप्त हो गया और क्रमशः तन्मय हो गया। वह शोक लौकिक शोक से भिन्न था, उसका आस्वादन केवल चित्त की द्रवणशीलता के द्वारा ही किया जा सकता था। जिस प्रकार घड़े के अधिक भर जाने से रस छलकने लगता है अथवा जिस प्रकार चित्त के भावनाविभोर हो जाने से विलाप प्रलाप इत्यादि होने लगते हैं क्योंकि चित्तवृत्ति का स्वभाव ही उच्चलित होना होता है; प्रलाप करनेवाला विचारपूर्वक अपने दुःख को प्रकट करनेवाले शब्दों का प्रयोग नहीं करता और न उस प्रलाप का वाच्यार्थ ही किसी प्रकार का भाव होता है: किन्तु उस प्रलाप के द्वारा असङ्केतित होते हुये भी उस भावना की अभिव्यक्ति हो जाती है, उसी प्रकार शोक की भावना के अधिक भर जाने पर आवेश के कारण उचित शब्द और वृत्त से नियन्त्रित होकर कविवर वाल्मीकि की चित्तवृत्ति श्लोकरूप में परिणत हो गई। इस रचना में विचारपूर्वक शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया था, भावनाविभोर होने के कारण उनका प्रस्फुटन स्वतः हो गया था। यद्यपि उस रचना में कोई शब्द शोकवाचक नहीं था तथापि वह श्लोक शोक को अभिव्यक्त कर रहा था। श्लोक का अर्थ यह था—'हे निषाद ? आनेवाले शाश्वत वर्षों में तुम प्रतिष्ठा को मत प्राप्त हो, जो कि क्रौञ्च के जोड़े में काममोहित एक को तुमने मार डाला है' यहाँ पर यह नहीं समझना चाहिये कि कविवर वाल्मीकि जी को शोक हुआ। यदि ऐसा समझा जावेगा तो यह बात जाती रहेगी कि रस ही काव्य की आत्मा है। शोकाभिभूत व्यक्ति की यह दशा नहीं होती अर्थात् वह न तो शाप ही देने लगता है और न श्लोक ही बनाने लगता है। आस्वाद के अनुकूल स्थायीभावात्मक शोक ही करुण रस होता है और उसका स्वभाव ही होता है उच्चलित होना। वह शोक ही काव्य की आत्मा होता है अर्थात् वह स्वभावतः काव्य का सारभूत तत्त्व होता है। उसका सारभूत तत्त्व होना भी उसे अन्य शाब्दज्ञानों से पृथक् करनेवाला होता है। आशय यह है कि जब चित्त इस प्रकार की भावना से भर जाता है तब वह रुक नहीं सकता और कविता के रूप में

लोचनम्

एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे—'यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्।' इति । अगम इतिच्छान्दसेनाडागमेन । स एवेत्येवकारेणेदमाह—नान्य आत्मेति । तेन यदाह भट्टनायकः—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् ॥

इति तदपास्तम् । व्यापारो हि यदि ध्वननात्मा रसनास्वभावस्तन्नापूर्वमुक्तम् । अथाभिधैव व्यापारस्तथाप्यस्याः प्राधान्यतेत्यावेदितं प्राक् ।

यहां हृदयदर्पण में कहा गया है—'जबतक यह इसके द्वारा पूर्ण नहीं होता तबतक उसका वमन नहीं करता।' 'अगमः' यह वैदिक 'अट्' के आगम के द्वारा बना है।' 'वही' इस 'ही' के द्वारा यह कहते हैं कि और आत्मा नहीं है।' इससे जोकि भट्टनायक ने कहा है।

शब्द की प्रधानता का आश्रय लेकर पृथक् शास्त्र को जानते हैं; अर्थतत्त्व से युक्त को तो आख्यान कहते हैं, इन दोनों के गौण हो जाने पर तथा व्यापार की प्रधानता होने पर काव्यबुद्धि हो जाती है।

इसका निराकरण हो गया; यदि व्यापार ध्वननात्मक आस्वादन-स्वभाववाला है तो कोई नई बात नहीं कही। यदि अभिधा ही व्यापार है तथापि इसकी प्रधानता नहीं होती यह पहले ही बतला चुके।

तारावती

प्रवाहित होने लगता है। इसीलिये हृदयदर्पणकार ने कहा है—'जब तक कोई व्यक्ति किसी भाव से पूर्ण रूप से भर नहीं जाता तब तक पद्य के रूप में वह उसे उद्गीर्ण नहीं कर सकता।' 'अगमः' में अट् का आगम छान्दस है।

[पाणिनि व्याकरण में 'न माङ्योगे' सूत्र से 'मा' के योग में अट् नहीं होता, किन्तु यहाँ पर अट् का आगम कर दिया गया है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार प्राचीन ऋषियों के अन्तःकरण में वेदमन्त्रों का स्वतः आविर्भाव हो जाया करता था उसी प्रकार कविवर वाल्मीकि के अन्तःकरण में इस छन्द का स्वतः प्रकाश हो गया। इस प्रकार इस छन्द का महत्त्व वेदमन्त्र से कम नहीं है। वेदमन्त्र व्याकरण के शासन में पूर्णरूप से नहीं रहते, उनमें जैसी विधि देखी जाती है उसी को सिद्ध कर लिया जाता है। इसीप्रकार यहाँ पर भी व्याकरण के अनुशासन का अतिक्रमण करके अट् का आगम कर दिया गया है। यद्यपि यहाँ पर योगविभाग के द्वारा हे अम ! अर्थात् लक्ष्मीरहित इस सम्बोधन को मानकर के भी काम चल सकता है तथापि यहाँ पर लोचनकार को यह पद्य वेदमन्त्र की कोटि में रखना है इसलिये छान्दस अट् माना गया है।]

तारावती

'स एव' में 'एव' का अर्थ है कि 'काव्य की और कोई आत्मा नहीं है।' इससे भट्टनायक के इस कथन का निराकरण हो गया—'जो शास्त्र शब्द की प्रधानता को लेकर प्रवृत्त होता है वह और ही प्रकार का शास्त्र (वैदिक शास्त्र) होता है। जो अर्थ तत्त्व से युक्त होता है उसे आख्यान कहते हैं और इन दोनों के गौण होने पर व्यापार की प्रधानता में काव्यसंज्ञा प्राप्त होती है। इस पर मेरा प्रश्न यह है कि कौन सा व्यापार प्रधान होता है ? यदि आपका मन्तव्य आस्वादनस्वभाववाले व्यञ्जनाव्यापार की प्रधानता से है तो हम इसका खण्डन पहले ही कर चुके।

[यहाँ पर दोधितिकार ने एक प्रश्न उठाया है कि शोक एक प्रकार की चित्तवृत्ति होती है। उस चित्तवृत्ति का परिणाभ शब्द और अर्थरूप कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये दीधितिकार ने लिखा है—यहाँ पर परिणाम सांख्यों का जैसा नहीं है। जिसप्रकार सांख्यशास्त्र सत्कार्यवाद को मानता है जिसका अर्थ यह है कि कारण सदा कार्य में सन्निहित रहा करता है और अवसर पर पृथक् सत्ता में आ जाता है। उनका कहना है कि असत् की उत्पत्ति नहीं होती। इसप्रकार का परिणामवाद यहाँ पर अभीष्ट नहीं है किन्तु यहाँ पर ऐसे परिणाम से मन्तव्य है जैसा कि कहा जाता है 'वृक्ष पुष्प और फल के रूप में परिणत हो गया।' जिस प्रकार फल केवल कार्य होता है और जो जिसके तत्काल पूर्व होता है वह उसका कारण माना जाता है; इसी अर्थ में यहाँ पर शोक का परिणाम श्लोक माना गया है। इसी विचित्र परिणति के कारण तो स्वयं मुनि को आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपना आश्चर्य अपने शिष्य भरद्वाज के सामने प्रकट किया। लोचन में जो यह लिखा है कि 'मुनि का शोक नहीं समझा जाना चाहिये' यह कथन ठीक नहीं है। स्वयं लोचनकार ने लिखा है कि क्रौञ्च शोक का आलम्बन-विभाव है। अतएव यह कहा ही नहीं जा सकता कि शोक क्रौञ्च के अन्दर था। प्रदीप में लिखा है कि 'आस्वादन सामाजिकों को होता है; अतएव सामाजिकों में ही रस की सत्ता स्वीकार की जानी चाहिये।' इससे सिद्ध होता है कि आलम्बन में रस की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती। (कोई दूसरा सामाजिक वहाँ पर विद्यमान नहीं है।) अतएव और कोई चारा न होने के कारण मुनि में ही शोक की कल्पना करनी पड़ेगी। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि मुनि को दुःखित मानने पर उनका शोक दुःख से युक्त होगा और वह आस्वादनात्मक काव्य का रूप नहीं धारण कर सकेगा। इसका उत्तर यह है कि रस तो आनन्द चिन्मय है उसके आत्मा मानने में क्या बाधा हो सकती है ? यद्यपि लौकिक शोक उद्वेजक होता है तथापि जब उसे अलौकिकभाव प्राप्त हो जाता है तब उसकी आनन्दरूपता सभी को माननी पड़ेगी। शोक तभी रस कहा जाता है जब उसमें आस्वाद प्रकट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। भट्टनायक की कारिकाओं को उद्धृत कर जो कि लोचनकार ने उसका खण्डन किया है 'यदि व्यापार ध्वननात्मक है तो उसमें कोई नवीनता नहीं आई और

तारावती

यदि अभिधात्मक है तो उसका खण्डन पहले ही किया जा चुका है' यह खण्डन भी ठीक नहीं। क्योंकि आस्वादनव्यापार को सभी लोग नहीं समझ सकते, उनके लिये उसके बतलाने में नवीनता विद्यमान है ही। किन्तु मैं प्राचीन लोगों के वचनों की अधिक पर्यालोचना करना उचित नहीं समझता।' यह है दीधितिकार के कथन का अनुवाद।

ऊपर लोचन और दीधिति दोनों टीकाओं का आशय प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर विचारणीय प्रश्न यह है कि शोक किसका है? एक तो शोक क्रौञ्च का हो सकता है जो कि मारा गया है; दूसरा शोक क्रौञ्ची का हो सकता है जो कि अपने सहचर के विरह से कातर है और तीसरा शोक इस घटना का साक्षात् अवलोकन करनेवाले कविवर वाल्मीकि का हो सकता है। सहृदय सामाजिक के शोक का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यहाँ पर रसास्वादन की प्रक्रिया पर विचार नहीं किया जा रहा है। यहाँ पर शोक के श्लोकरूप में परिणत होने की प्रक्रिया पर विचार हो रहा है। इस दृष्टि से हमारे सामने उपर्युक्त तीन शोक ही विद्यमान हैं। क्रौञ्च का शोक काव्यरूपता में परिणत नहीं हो सकता क्योंकि क्रौञ्च आलम्बन है और आलम्बन का भाव रसरूपता को धारण ही नहीं कर सकता। अब रही क्रौञ्ची के शोक की बात। उसका भी शोक रसरूपता को धारण नहीं कर सकता। शोक एक क्रियाशून्य भाव है। शोक की पराकाष्ठा इसी में है कि हाथ पैर ढीले पड़ जावें और चेतना शिथिल हो जावे। श्लोकरूप में परिणति सक्रियता का परिणाम है जो शोक जैसे निष्क्रिय भाव में सम्भव नहीं है। अब रही मुनि के शोक की बात। यदि मुनि को भी शोक मान लिया जावे तो उसमें भी वैसी ही निष्क्रियता आ जावेगी और शोक को श्लोकरूप में परिणति असम्भव हो जावेगी। मुनि का शोक शुद्ध शोक नहीं है किन्तु उस शोक में सहानुभूति का भी मिश्रण है। यही सहानुभूति का मिश्रण शोक में रसनीयता उत्पन्न कर देता है। यही लोचनकार का आशय है। इसीलिये उन्होंने लिखा है—'आस्वाद के उपयुक्त शोक ही करुण रस की आत्मा है क्योंकि उच्चलित होना उसका स्वभाव है।'

भट्टनायक ने शब्द और अर्थ को गौण मानकर व्यापार को प्रधानता में काव्यसंज्ञा मानी थी। इसपर लोचनकार ने लिखा कि यदि भट्टनायक का व्यापार की प्रधानता से अभिप्राय व्यञ्जनावृत्ति से है तो उसमें कोई नई बात नहीं और अभिधाव्यापार का खण्डन पहले ही किया जा चुका है। इसपर दीधितिकार ने लिखा था कि 'आस्वादन की प्रक्रिया सर्वजनसंवेद्य नहीं है अतः उसका बतलाना आवश्यक है।' किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि भट्टनायक व्यञ्जनाव्यापार को नहीं मानते। लोचनकार का यहाँ पर आशय है कि यदि व्यञ्जनाव्यापार की प्रधानता मान ली जावे तो भट्टनायक हमारे ही मत के हो जाते हैं, वे कोई ऐसी नवीन बात नहीं कहते जिसको हम न मानते हों। दीधितिकार ने लोचन के उक्त अभिप्राय को न समझकर ही खण्डन किया है। शास्त्र का काम ही यह है कि जो बात

लोचनम्

श्लोकं व्याचष्टे—विविधेति। विविधं तत्तदभिव्यञ्जनीयरसानुगुण्येन विचित्रं कृत्वा वाच्ये वाचके रचनायाञ्च प्रपञ्चेन यच्चारुशब्दार्थालङ्कारगुणयुक्तमित्यर्थः। तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः। आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहार इत्युक्तं प्रागेव। तेनैतन्निरवकाशम्, यदुक्तं हृदयदर्पणे—'सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यादिति'। निहतसहचरीतिविभाव उक्तः। आक्रन्दित-शब्देनानुभावः। जनित इति चर्वणागोचरत्वेनेति शेषः।

श्लोक की व्याख्या कर रहे हैं—विविध इत्यादि। विविध अर्थात् विभिन्न प्रकार के व्यञ्जनीय रस की अनुकूलता के साथ विचित्रता को लिये हुये। वाच्य, वाचक और रचना में प्रपञ्च के द्वारा जो सुन्दर अर्थात् शब्द अर्थ गुण और अलङ्कार से युक्त। इससे सर्वत्र ध्वनन के होते हुए भी वैसा (काव्यत्व का) व्यवहार नहीं होता। आत्मा के होते हुये भी कहीं ही जीव का व्यवहार होता है यह पहले ही कहा जा चुका है। उससे यह बात निरवकाश हो गई जो कि हृदयदर्पण में कहा गया है—'तो सर्वत्र काव्य व्यवहार हो जावेगा।' 'निहत-सहचरी' इस शब्द से विभाव कहा गया है; आक्रन्दित शब्द से अनुभाव (कहा गया है।) जनित शब्द के साथ 'चर्वणागोचर होने के रूप में' इतना और जोड़ दिया जाना चाहिये।

तारावती

लोक में प्रायः अनुभूत और प्रयुक्त हों उनकी व्यवस्था और प्रक्रिया को शास्त्रकार सम्भ्रान्त व्यक्तियों के सामने रख देते हैं। काव्य को सुनकर सभी व्यक्तियों को आनन्द आता है किन्तु उसकी प्रक्रिया सर्वजनसंवेद्य नहीं होती, उसीं को समझा देना शास्त्रकार का काम है। अतः यदि वही भट्टनायक ने भी किया तो उसपर अभिनव गुप्त को आपत्ति ही क्या हो सकती थी ? हाँ प्रश्न यह अवश्य है कि जो प्रक्रिया भट्टनायक ने दिखलाई है वह ध्वनिसम्प्रदाय से भिन्न है अथवा नहीं। यदि भट्टनायक भी ध्वननव्यापार को मान लेते हैं तो उनके व्यापार में कोई नवीनता नहीं रह जाती। यही लोचनकार का आशय है।]

मूल में 'विविध वाच्य········परिणतः' इस भाग में कारिका की व्याख्या की गई है। विविध शब्द का अर्थ है विचित्र प्रकार के, और यह विचित्रता आती है रसप्रवणता के कारण, जो कि विचित्र तत्त्वों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। रस को अभिव्यक्त करनेवाले तत्त्व होते हैं वाच्य, वाचक और रचना। इन्हीं तीनों के प्रपञ्च से काव्य में चारुता आती है। वाच्यचारुता का अर्थ है अर्थालङ्कार, वाचकचारुता का अर्थ है शब्दालङ्कार और रचना-चारुता का अर्थ है गुण। जहाँ पर इन तीनों तत्त्वों की चारुता रसानुकूल होकर विद्यमान हो वहाँ पर काव्यसंज्ञा अर्थवती होती है और उस काव्य का वही अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ और विशेष रूप से रसध्वनि) आत्मा का रूप धारण करता है। अतएव सर्वत्र ध्वननव्यापार के होते हुए भी काव्यत्व का व्यवहार सर्वत्र नहीं होता है जैसे सर्वत्र आत्मा की सत्ता होते हुए

लोचनम्

ननु शोकचर्वणातो यदि श्लोक उद्भूतस्तत्प्रतीयमानं वस्तु काव्यस्यात्मेति कुत इत्याशङ्क्याह—शोको हीति । करुणस्य तच्चर्वणागोचरात्मनः स्थायीभावः । शोके हि स्थायिभावे ये विभावानुभावास्तत्समुचिता चित्तवृत्तिश्चर्व्यमाणात्मा रस इत्यौचित्यात्स्थायिनो रसतापत्तिरित्युच्यते । प्राक्स्वसंविदितं परत्रानुमितं च चित्तवृत्तिजातं संस्कारक्रमेण हृदयसंवादमादधानं चर्वणायामुपयुज्यते यतः ।

(प्रश्न) यदि शोकचर्वणा से श्लोक उद्भूत हुआ तो प्रतीयमान वस्तु काव्य की आत्मा है यह कैसे (सिद्ध होता है ।)? इस शङ्का का उत्तर दे रहे हैं—शोको हीत्यादि । शोकचर्वणागोचरात्मक करुण का (शोक) निस्सन्देह स्थायीभाव है । निस्सन्देह शोक के स्थायीभाव होने पर जो विभाव अनुभाव इत्यादि हैं तत्समुचित चित्तवृत्ति चर्वणात्मक होकर रस (कहलाती है) इस प्रकार औचित्य के कारण स्थायीभाव की रसत्व की प्राप्ति कही जाती है । क्योंकि प्रथम स्वसंवेदनागोचर तदनन्तर दूसरे में अनुमान किया हुआ चित्तवृत्ति समूह संस्कार क्रम से हृदयसंवाद को प्राप्त होते हुये चर्वणा में उपयुक्त किया जाता है ।

तारावती

भी जीव-व्यवहार सर्वत्र नहीं होता । यह पहले ही बतलाया जा चुका है । अतएव हृदय दर्पण में जो यह कहा गया था कि 'ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने पर सर्वत्र काव्य का व्यवहार होने लगेगा' उसका स्वतः निराकरण हो गया । 'निहतसहचर' यह विभाव (आलम्बन) बतलाया गया है; आक्रन्दित शब्द से अनुभाव बतलाया गया है और जनित शब्द का अर्थ है चर्वणागोचर होने के साथ जो अनुभूति का विषय बनता है ।

(प्रश्न) यदि शोकचर्वणा से श्लोक उत्पन्न हुआ तो आप यह कैसे कह सकते हैं कि प्रतीयमान वस्तु काव्य की आत्मा है ? (उत्तर) इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये मूल में कहा गया है कि शोक करुण रस का स्थायीभाव है । करुण रस की आत्मा है शोकचर्वणा का प्रत्यक्षीकरण । इसीलिये करुण रस का स्थायीभाव शोक माना गया है । शोक के स्थायीभाव होने के कारण उसके जितने भी विभाव और अनुभाव होते हैं करुण के अनुकूल उन सबकी एक चित्तवृत्ति बन जाती है और उस चित्तवृत्ति का जब आस्वादन किया जाता है तब वही रसरूपता को धारण कर लेती है । स्थायीभाव का रसास्वादन में यही उपयोग है इसीलिये कहा जाता है कि स्थायीभाव ही रसरूपता को प्राप्त होता है । हम लोक में प्रेम शोक क्रोध इत्यादि जिन भावों का अनुभव करते हैं वे हमारी चित्तवृत्ति में स्थायी रूप से अपना घर कर लेते हैं । जब हम विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव के रूप में दूसरे व्यक्तियों में उसे अनुमित (प्रतीतिगोचर) करते हैं तब संस्कारपरम्परा से वह भाव हमारे हृदय से मेल खा जाता है और इसप्रकार वह भाव हमें आस्वादन प्रदान करने में उपयुक्त हो जाता है ।

लोचनम्

ननु प्रतीयमानरूपमात्मा तत्र त्रिभेदं प्रतिपादितं न तु रसैकरूपम्, अनेन चेतिहासेन रसस्यैवात्मभूतत्वमुक्तं भवतीत्याशङ्क्याभ्युपगमेनैवोत्तरमाह—प्रतीयमानस्य चेति । अन्यभेदो वस्त्वलङ्कारात्मा । भावग्रहणेन व्यभिचारिणोऽपि चर्व्यमाणस्य तावन्मात्रविश्रान्तावपि स्थायिचर्वणापर्यवसानोचितरसप्रतिष्ठामनवाप्यापि प्राणत्वं भवतीत्युक्तम् । यथा—

नखं नखाग्रेण विघट्टयन्ती विवर्तयन्ती वलयं विलोलम् ।
आमन्द्रमाशिञ्जितनूपुरेण पादेन मन्दं भुवमालिखन्ती ॥

इत्यत्र लज्जायाः । रसभावशब्देन च तदाभासतत्प्रशमावपि संगृहीतावेव, अवान्तरवैचित्र्येऽपि तदेकरूपत्वात् । प्राधान्यादिति । रसपर्यवसानादित्यर्थः । तावन्मात्रविश्रान्तावपि चान्यशाब्दवैलक्षण्यकारित्वेन वस्त्वलङ्कारध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुक्तमितिभावः ॥ ५ ॥

आत्मा प्रतीयमान रूप है उसमें तीन भेदों का प्रतिपादन किया गया है एक रसरूप ही नहीं और इस इतिहास से रस का ही आत्मभूतत्व कहा गया है। यह शङ्का करके स्वीकृति के साथ उत्तर दे रहे हैं—प्रतीयमानस्य च इत्यादि। अन्य भेद वस्तु तथा अलङ्कार रूप है। भावशब्द के प्रयोग से यह कहा गया है कि चर्वणागोचर व्यभिचारीभाव की भी प्राणरूपता होती है। यद्यपि उतने में ही चर्वणा की विश्रान्ति नहीं होती और स्थायिचर्वणा पर्यवसान के योग्य रस की प्रतिष्ठा उसे नहीं भी प्राप्त होती है। जैसे—

'नख से नखाग्र को घिसती हुई, चञ्चल वलय को इधर उधर हटाती हुई, गम्भीर-शिञ्जारव से परिपूर्ण नूपुरोंवाले पैर से धीरे-धीरे भूमि को कुरेदती हुई।'

यहाँ पर लज्जा का। रस और भाव शब्द से उनके आभास और उनके प्रशम संगृहीत ही हो गये हैं; क्योंकि अवान्तर वैचित्र्य होते हुये भी उनमें एकरूपता होती ही है। 'प्राधान्यात्' का अर्थ है रसपर्यवसान के कारण केवल उतने में विश्रान्ति न होने पर भी तथा दूसरे शाब्दबोध से वैलक्षण्य उत्पन्न करने के कारण औचित्य होने से वस्तु तथा अलङ्कारध्वनि का भी जीवितत्व बतला दिया है।

तारावती

(प्रश्न) प्रतीयमान अर्थ काव्य की आत्मा है; उसके तीन भेद किये गये केवल रस ही नहीं। इस दृष्टान्त से रस को ही आत्मा बतलाया गया है; फिर प्रतीयमान अर्थमात्र को आत्मा क्यों कहा गया है? (उत्तर) इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये आलोककार ने लिखा है कि 'यद्यपि प्रतीयमान के अन्य भेद देखे जाते हैं तथापि उनमें प्रमुख रस तथा भाव ही होते हैं; अतएव उपलक्षण के रूप में उसी का उल्लेख किया गया है। अन्य भेद होते हैं वस्तु तथा अलङ्कारों की ध्वनियाँ। रस से पृथक् भावध्वनि कहने का आशय यह है कि कभी-कभी

तारावती

व्यभिचारीभाव की भी चर्वणा इस रूप में होती है कि यद्यपि केवल उसमें ही रसास्वादन की परिसमाप्ति नहीं होती और न उसे रस की प्रतिष्ठा ही प्राप्त हो पाती है जैसी कि स्थायीभाव की चर्वणा के पर्यवसान में उसे रसरूपता प्राप्त हो जाती है, तथापि उतने से ही वह व्यभिचारीभाव भी उस काव्य का प्राण बन जाता है। जैसे—

'वह नायिका नख को दूसरे नख के अग्रभाग से घिस रही थी, चञ्चल वलय को बार-बार इधर से उधर हटा रही थी और पैर के नाखून से पृथ्वी को कुरेद रही थी जिससे नूपुरों का शिञ्जाशब्द बड़ा ही मधुर तथा गम्भीर मालूम पड़ रहा था।'

यहाँ पर लज्जा भाव की ध्वनि काव्य का प्राण है। रस और भाव शब्द से रसाभास और भावाभास का भी संग्रह हो गया। क्योंकि यद्यपि इनमें अवान्तर वैचित्र्य होता है तथापि एकरूपता तो होती ही है। 'रस और भाव प्रधान होते हैं' कहने का आशय यह है कि चर्वणा का पर्यवसान रस और भाव में ही होता है। इसीलिये ये प्रधान होते हैं। यद्यपि केवल वस्तु तथा अलङ्कार में काव्यरसास्वादन की विश्रान्ति नहीं होती तथापि दूसरे शाब्दबोध की अपेक्षा इनमें भी कुछ विलक्षणता होती ही है। इसोलिये उचित होने के कारण इन्हें भी काव्य का प्राण कह दिया गया है।

[ध्वन्यालोक की अधिकतर प्राचीन पुस्तकों में 'निहतसहचरीविरहकातर...'यह पाठ पाया जाता है और इसी के अनुसार लोचन में 'निहतसहचरीति विभाव उक्तः' तथा 'सहचरी-हननोद्भूतेन' ये पाठ पाये जाते हैं। इन पाठों से यह प्रतीत होता है कि निषाद ने क्रौञ्ची का वध किया था। किन्तु वाल्मीकि रामायण देखने से अवगत होता है कि वध नर क्रौञ्च का हुआ था क्रौञ्ची का नहीं। वाल्मीकि रामायण में 'एकम् अवधीः' इस पुल्लिङ्ग का निर्देश किया गया है तथा श्लोक में क्रौञ्ची के रोने की बात कही गयी है (दृष्ट्वा क्रौञ्ची रुरोदार्ता) इसी प्रकार एक दूसरे श्लोक में स्पष्ट ही 'पुमांस्' शब्द आया है (तस्मात्तु मिथुनादेकं पुमांसं पाप-निश्चयः) इसी आधार पर दीधितिकार ने 'निहतसहचरविरहकातर' तथा 'क्रौञ्च्याक्रन्दजनितः' ये पाठ कर दिये हैं। दिव्याञ्जन नाम की पादटिप्पणी में लिखा है 'अनेक पुस्तकों में 'निहत-सहचरी' यही पाठ पाया जाता है और लोचन से भी सहचरी का मारा जाना सिद्ध है। अतः सर्वत्र लेखक का प्रमाद नहीं मान सकते यद्यपि अभिधा से क्रौञ्च का मारा जाना ही सिद्ध होता है किन्तु व्यंजना से एक अर्थ और निकलता है—राम और सीता के मिथुन में रावणरूपी निषाद ने सीता का अपहरण किया जो कि मरण से भी अधिक पीड़ा देनेवाला था। इस कारण राम सीता के वियोग से कातर होकर जनस्थान में इधर-उधर विलाप करने लगे। इस अर्थ की व्यञ्जना होने के कारण क्रौञ्ची का मारा जाना ही उचित प्रतीत होता है। ध्वन्या-लोक व्यञ्जनावृत्ति का निरूपण करने के लिये प्रवृत्त हुआ है। अतएव उसी व्यङ्ग्यार्थ के आधार पर क्रौञ्ची का मारा जाना लिख दिया गया है।'

तारावती

ज्ञात होता है कि टीकाकार रामसीतापरक व्यङ्ग्यार्थ की व्याख्या करते आये होंगे और सर्वसाधारण में यह धारणा बन गई होगी कि क्रौञ्चमिथुन में एक को मारने का अभिप्राय सीता का अपहरण रूप कार्य है जिसके लिये कवि ने रावण के प्रति आक्रोश प्रकट किया है। इसी सामान्य धारणा के कारण किसी लेखक ने जान-बूझकर वृत्तिग्रन्थ को भी बदल दिया और लोचन में भी आवश्यक परिवर्तन कर दिया। उसी परम्परा का पालन दूसरे लेखकों ने भी किया। यहाँ पर यह भी ध्यान देने की बात है कि ध्वनिकार का मन्तव्य शोक की श्लोक-रूपता में परिणति का कथन करना ही है उसमें स्त्री या पुरुष किसी का भी मारा जाना समान महत्त्व रखता है। रामायण की कथा के आधार पर दीधितिकार का माना हुआ पाठ ही ठीक ठहरता है।

दीधितिकार ने व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये 'मानिषाद......' इस श्लोक का एक टीका के आधार पर एक नया अर्थ दिया है—'हे मानिषाद! (लक्ष्मी के निवास भगवान् रामचन्द्र जी) तुमने निरन्तर वर्षों में प्रतिष्ठा प्राप्त की। क्योंकि कुञ्चा (कुटिलगामिनी कैकसी राक्षसी) के पुत्र रावण और उसकी पत्नी मन्दोदरी में काममोहित रावण का वध किया।' किन्तु इस आशय के मानने में कई आपत्तियाँ हैं—एक तो अर्थ करने में यह अभिधेयार्थ ही हो जाता है; इसकी व्यङ्ग्यता जाती रहती है। दूसरी बात यह है कि इस अर्थ में राम के उत्साह के प्रति वाल्मीकि जी की चित्तवृत्ति का विस्फारण तो प्रतीत होता है किन्तु रावणवध के कारण शोक की अभिव्यक्ति नहीं होती। तीसरी बात यह है कि यदि प्रस्तुत और अप्रस्तुत का उपमानोपमेयभाव स्थापित किया जावे तो राम को निषाद की उपमा देनी पड़ेगी जो कि सर्वथा अनुचित है। यदि कामान्ध होने के कारण रावणवध का औचित्य सिद्ध किया जावे तो मिथुन का उल्लेख व्यर्थ हो जावेगा और यदि मिथुन का उल्लेख कामान्धता का साधक हो तो रामकर्तृकवध अनुचित हो जावेगा। अतएव यह अर्थ सर्वथा अमान्य है। रामायण से पुरुषक्रौञ्च का मारना ही सिद्ध होता है। व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये क्रौञ्च का पुंस्त्व अविवक्षित माना जा सकता है। कवि का तात्पर्य केवल वियोग से ही है।

आचार्य श्री विश्वेश्वर जी ने नई व्याख्या का सहारा लिया है—'निहतसहचरीविरह-कातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः' की व्युत्पत्ति उन्होंने इसप्रकार की है—'निहतः सहचरीविरहकातर-श्चासौ क्रौञ्चः निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चः; तदुद्देश्यकः क्रौञ्चीकर्तृकोऽयम् आक्रन्दः तज्जनितः शोकः' यह समाधान तो अच्छा है किन्तु इससे पूरा निर्वाह नहीं हो पाता। उक्त व्याख्या से आलोक का तो समर्थन हो गया, लोचनकार ने 'निहतसहचरीति विभाव उक्तः' लिखा है। इसके लिये आचार्य जी ने 'निहतसहचरीत्यादिग्रन्थेन' यह कर दिया है। किन्तु इस ग्रन्थ से केवल विभाव ही नहीं बतलाया गया है अनुभाव का भी उल्लेख किया गया है दूसरी बात यह है कि 'सहचरीहननोद्भूत' में आचार्य जी को पाठभेद का ही सहारा लेना पड़ा है। अतः मेरी समझ में सर्वत्र पाठभेद स्वीकार कर लेना ही अच्छा है।]

ध्वन्यालोकः

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥ ६ ॥

तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति । येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते ।

(अनु०) आस्वादपरिपूर्ण उसी अर्थवस्तु को प्रस्रवण करनेवाली महाकवियों की भगवती भारती देवी चारों ओर स्फुरित होनेवाली प्रतिभा की ऐसी विशेषता को अभिव्यक्त किया करती है जिसकी समानता लोक में कहीं नहीं मिलती ॥ ६ ॥

जिस रसध्वनि और भावध्वनि रूप वस्तुतत्त्व का पहले वर्णन किया जा चुका है उसी के प्रवाह को महाकवियों की भारती प्रकट किया करती है जिससे चतुर्दिक् स्फुरित होनेवाली कवियों की प्रतिभा प्रकट हो जाती है और उसकी समानता लोक में कहीं नहीं मिलती। यही कारण है कि इतने बड़े संसार में, जहाँ कवियों की परम्परा अत्यन्त विचित्रता के साथ निरन्तर चलती ही रहती है, महाकवियों की श्रेणी में दो तीन या पाँच छह कवि ही आते हैं।

लोचनम्

एवमितिहासमुखेन प्रतीयमानस्य काव्यात्मतां प्रदर्श्य स्वसंवित्सिद्धमप्येतदिति दर्शयति—सरस्वतीति । वाग्रूपा भगवतीत्यर्थः । वस्तुशब्देनार्थशब्दं तत्त्वशब्देन च वस्तुशब्दं व्याचष्टे—निःष्यन्दमानेति । दिव्यमानन्दरसं स्वयमेव प्रस्नुवानेत्यर्थः । यदाह भट्टनायकः—

इस प्रकार इतिहासमुख से प्रतीयमान की काव्यात्मा दिखलाकर यह स्वसंवेदना सिद्ध भी है यह दिखला रहे हैं—सरस्वती इत्यादि । अर्थात् वाणीरूपा भगवती । वस्तु शब्द से अर्थ शब्द की और तत्त्व शब्द से वस्तु शब्द की व्याख्या कर रहे हैं—निःष्यन्दमाना इत्यादि । अर्थात् दिव्य आनन्द रस को स्वयं प्रस्तुत करती हुई । जैसा कि भटटनायक ने कहा है—

तारावती

ऊपर कविवर वाल्मीकि के शोक की श्लोकरूप में परिणति का उदाहरण देकर इतिहास के आधार पर सिद्ध किया जा चुका कि प्रतीयमान अर्थ ही काव्य का आत्मा होता है । प्रस्तुत कारिका में यह दिखलाया गया है कि प्रतीयमान अर्थ की काव्यात्मता स्वसंवेदन सिद्ध भी है और जो वस्तु स्वसंवेदन सिद्ध होती है उस पर किसी को अनुपपत्ति हो ही नहीं सकती । प्रस्तुत कारिका का आशय यह है कि महाकवियों की वाणी उसी रसध्वनि, भावध्वनि, इत्यादि रूप प्रतीयमान अर्थ को प्रवाहित किया करती है । सामान्य व्यक्ति वाच्यार्थ के द्वारा ही व्यवहार किया करते हैं किन्तु महाकवियों की वाणी में व्यङ्ग्यार्थ का सौन्दर्य झलकता रहता है जिससे सामान्य जगत् की अपेक्षा कवियों की विशेष प्रकार की प्रतिभा प्रकट होती है । इसके लिये महाकवियों को उद्योग नहीं करना पड़ता अपितु वह प्रतिभा

लोचनम्

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रस यद्बालतृष्णया ।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि सः ॥

तदावेशेन विनाप्याक्रान्त्या यो योगिभिर्दुह्यते । अत एव—

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥

वाणीरूपी धेनु (सहृदयरूपी) बच्चे की तृष्णा से इस (दिव्य) रस को प्रवाहित करती है । अतः इसके समान वह नहीं हो सकता जो योगियों द्वारा दुहा जाता है ।

उस (रस) के आवेश के विना ही बलात्कार के साथ जो योगियों द्वारा दुहा जाता है । अतएव—

'दुहने में दक्ष सुमेरु के दोग्धा रूप में स्थित रहने पर जिस (हिमालय) को सब पर्वतों ने वत्स रूप में कल्पित कर पृथु के द्वारा बतलाई हुई पृथ्वी से प्रकाशमान् रत्न और महती औषधियों को दुहा ॥'

तारावती

स्वयं ही स्फुरित होती है । कारिका में वाणी के लिये सरस्वती शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका आशय है कि कवियों की वाणी देवी के समान पूजनीय होती है । कारिका के 'अर्थ' शब्द का आशय है व्यङ्ग्यार्थ अर्थात् रस वस्तु और अलङ्कार; और वस्तु शब्द का अर्थ है सार । इसप्रकार अर्थवस्तु शब्द का अर्थ है व्यङ्ग्यार्थ का सार । इसीलिये आलोककार ने अर्थ के लिये वस्तु शब्द का प्रयोग किया है और वस्तु शब्द के लिये तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है । कारिका का निःष्यन्दमाना शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है । इसका आशय यह है कि महाकवियों की वाणी दिव्य आनन्द रस को स्वयं प्रवाहित करने लगती है । जब कवि का अन्तःकरण किसी भावना से भर जाता है और वह आनन्द हृदय में समा नहीं सकता तब स्वतः प्रवाहित होने लगता है । आनन्द योगियों को भी आता है, किन्तु योगियों के आनन्द की अपेक्षा कवियों के आनन्द में एक मौलिक अन्तर है जिसको भट्टनायक ने इस प्रकार समझाया है—'काव्यभारती एक दुधारू गाय है । जिस प्रकार गाय अपने बच्चों की तृषा शान्त करने के लिये अपने थनों से स्वयमेव दूध बहाने लगती है उसी प्रकार रसिकों की रससम्बन्धिनी तृष्णा शान्त करने के लिये कविभारती रसरूपी दूध को स्वयमेव प्रवाहित करने लगती है । योगीलोग परमात्मसाक्षात्कार के लिये साधना का कष्ट सहकर जिस आनन्दरूपी दूध को दुहते हैं उसकी अपेक्षा रसिकों के लिये स्वयं प्रस्तुत हुआ कविभारती का रसरूपी दुग्ध कहीं अधिक उत्कृष्ट होता है ।' योगीलोग जिस आनन्दरूपी दूध को दुहते हैं उसमें रसावेश नहीं होता अपितु उन्हें बलात्कार के साथ योगसाधना से वह आनन्द प्राप्त होता है । उसकी स्वयं प्रस्तुत काव्यरस रूपी दूध से तुलना ही क्या हो सकती है ? इसीलिये कालिदास ने कुमारसम्भव में हिमालय का वर्णन करते हुये लिखा है—'राजा पृथु के उपदेश से जिस

लोचनम्

इत्यनेन साराग्र्यवस्तुपात्रत्वं हिमवत उक्तम् । अभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तमिति । प्रतिपत्तॄन् प्रति सा प्रतिभा नानुमीयमाना अपि तु तदावेशेन भासमानेत्यर्थः । यदुक्तमस्मदुपाध्यायेन भट्टतौतेन—'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः ।' इति । अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा । तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम् । यदाह मुनिः—'कवेरन्तर्गतं भावम्' इति । येनेति । अभिव्यक्तेन स्फुरता प्रतिभाविशेषेण निमित्तेन महाकवित्वगणनेति यावत् ॥ ६ ॥

इससे हिमालय की समस्त वस्तुपात्रता बतला दी गई है। 'परिस्फुरित होने वाले को अभिव्यक्त करती है' अर्थात् प्रतिपत्ताओं के प्रति वह प्रतिभा अनुमानगम्य नहीं होती है अपितु रसावेश से प्रकाशमान होती है। जैसा कि हमारे उपाध्याय भट्टतौत ने कहा है—'उससे नायक, कवि और श्रोता का समानानुभव होता है।' प्रतिभा अपूर्व वस्तु निर्माण में समर्थ प्रज्ञा को कहते हैं। उसकी विशेषता का अर्थ है रसावेश के वैशद्य का सौन्दर्य तथा तद्रूप काव्यनिर्माणक्षमता। जैसा कि मुनि ने कहा है—'कवि के अन्तर्गतभाव को......' 'जिससे' अर्थात् अभिव्यक्त होनेवाले तथा स्फुरित होनेवाले प्रतिभाविशेष को निमित्त बनाकर महाकवित्व की गणना होती है ॥ ६ ॥

तारावती

समय पृथ्वीरूपी गाय से प्रकाशमान रत्न और औषधियाँ दुही गईं उस समय दुहने में निपुण सुमेरु दुहनेवाला था और सब पर्वतों ने हिमालय को बछड़ा बनाया था' हिमालय को बछड़ा कहने का कालिदास का आशय यही है कि हिमालय ही सारभूत प्रधान रत्नों और औषधियों का पात्र है। जिस प्रकार बछड़े को ही उत्तम दूध मिलता है उसी प्रकार काव्य रसिक को ही सच्चा आनन्द प्राप्त होता है योगी को नहीं।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि काव्यपरिशीलक उस प्रतिभा को अनुमान प्रमाण के आधार पर नहीं जान सकते किन्तु उनके हृदयों में रसाभिनिवेश होता है और उनमें आस्वादन की क्षमता होती है। अतएव वह रस सहृदयों के हृदयों में स्वयं प्रतिभासित होने लगता है। कवियों के समान रसिकों में भी सहृदयता अपेक्षित होती है। इसीलिये अभिनव गुप्त के उपाध्याय भट्टतौत ने लिखा है—'कविता की सबसे बड़ी सफलता इसी में है कि उसके द्वारा यह प्रतीत होने लगे कि किसी भाव को नायक ने जितनी गम्भीरता के साथ अनुभव किया होगा कवि की अन्तरात्मा ने भी उसे उतनी ही गम्भीरता के साथ अनुभव किया और वह पाठकों, दर्शकों अथवा श्रोताओं को भी उसी गहराई तक पहुँचाने में समर्थ हो सका है। प्रतिभा शब्द का अर्थ है अपूर्व वस्तु के निर्माण में सक्षम बुद्धि। उसकी विशेषता है रस के साक्षात्कार के लिए उपयुक्त निर्मलता के द्वारा सौन्दर्यमय काव्यनिर्माण करने की शक्ति।

ध्वन्यालोकः

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥ ७ ॥

(अनु०) प्रतीयमान अर्थ की सत्ता सिद्ध करनेवाला दूसरा प्रमाण यह है—

वह (प्रतीयमान अर्थ) शब्दशासन और अर्थशासन अर्थात् व्याकरण और कोश के द्वारा ही नहीं जाना जाता, किन्तु वह केवल काव्यतत्त्ववेत्ताओं के द्वारा जाना जाता है ॥ ७ ॥

लोचनम्

इदं चेति । न केवलं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्येतत्कारिकासूचितौ स्वरूपविषयभेदावेव; यावद्भिन्नसामग्रीवेद्यत्वमपि वाच्यातिरिक्तत्वे प्रमाणमिति यावत् । वेद्यत इति । न तु न वेद्यते, येन न स्यादिति भावः । काव्यस्य तत्त्वभूतो

'इदं च' इत्यादि । केवल 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इस कारिका से सूचित स्वरूप और विषयभेद ही नहीं होते भिन्नसामग्रीवेद्यत्व भी वाच्यव्यतिरिक्तत्व में प्रमाण है । वेद्यते इति । निवेदित नहीं किया जाता है यह बात नहीं है जिससे इसकी सत्ता सिद्ध न हो यह आशय

तारावती

काव्यपरिशीलकों के लिये भी रसास्वादन के निमित्त प्रतिभा की आवश्यकता है । इसीलिये भरत मुनि ने भाव की परिभाषा करते हुये लिखा है—'कवि के अन्तर्गत भाव को जो भावित करता है उसे ही भाव कहते हैं ।' दो चार या पांच छह महाकवियों के होने की बात कहने में आलोककार का आशय यह है कि महाकवित्व पद की प्राप्ति के लिये स्फुरणशील प्रतिभा-बिशेष की अभिव्यक्ति अपेक्षित हो नहीं किन्तु अनिवार्य है । राजशेखर ने लिखा है :—

मुक्तके कवयोऽनन्ता प्रबन्धे कवयः शतम् ।
महाप्रबन्धे तु कविरेको द्वौ यदि वा त्रयः ॥

सरस्वती के कर्तृत्व का आशय यह है कि अर्थवस्तु को संघटना सरस्वती स्वयं ही कर देती है; इसके लिए कवि को प्रयत्न नहीं करना पड़ता है । स्वयं ग्रन्थकार ही चतुर्थ उद्योत में कहेंगे :—

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥

चतुर्थ कारिका 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव……'में यह दिखलाया जा चुका कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में स्वरूपभेद होता है और विषयभेद भी होता है । ५ वीं कारिका में इतिहास के प्रमाण से व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता सिद्ध की गई और छठी कारिका में उसे स्वसंवेदनासिद्ध बतलाया गया । प्रस्तुत कारिका में यह बतलाया जा रहा है कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की ग्राहक सामग्री में भी भेद होता है । कारिका का आशय यह है कि जिस प्रकार वाच्यार्थ की प्रतीति शब्दानुशासनज्ञानमात्र से हो जाती है इस प्रकार केवल उतने से ही व्यंग्यार्थ की

ध्वन्यालोकः

सोऽर्थो यस्मात्केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः।

(अनु०) इन दोनों में भेद इसीलिये है कि रसरूप ध्वनि का ज्ञान केवल काव्यार्थ तत्त्ववेत्ताओं को ही होता है। यदि यह रसरूप अर्थ वाच्यरूप होता तो उसकी भी प्रतीति वाच्य और वाचक के परिज्ञान मात्र से ही हो जाया करती। किन्तु देखा यह जाता है कि जिस प्रकार गान्धर्वविद्या न जाननेवाले (न तो स्वयं ही गानविद्या की योग्यता रखनेवाले और न दूसरों के गान का मर्म समझने वाले) स्वरश्रुति इत्यादि गान विद्या के अङ्गों के लक्षण नहीं जान पाते उसी प्रकार जिन्होंने वाच्य और वाचक के जानने में ही अपना सारा समय नष्ट किया है और उसी में परिश्रम करते रहे हैं तथा वाच्यार्थ की सीमा से परे काव्यतत्त्वार्थ की निरन्तर चर्वणा से जो लोग विमुख रहे हैं उन लोगों को व्यङ्ग्यार्थ का कभी साक्षात्कार हो ही नहीं सकता।

लोचनम्

योऽर्थस्तस्य भावना वाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा तत्र विमुखानाम्। स्वराः षड्जादयः सप्त। श्रुतिर्नाम शब्दस्य वैलक्षण्यमात्रकारि यद्रूपान्तरं तत्परिमाणा स्वरतदन्तरालोभयभेदकल्पिता द्वाविंशतिधा। आदिशब्देन जात्यंशकग्रामरागभाषाविभाषान्तरभाषादेशीमार्गा गृह्यन्ते। प्रकृष्टं गीतं गानं येषां ते प्रगीताः, गातुं वा प्रारब्धाः इत्यादिकर्मणि क्तः। प्रारम्भेण चात्र फलपर्यन्तता लक्ष्यते॥७॥

है। काव्य का तत्त्वभूत जो अर्थ उसकी भावना अर्थात् निरन्तर वाच्य से भिन्नरूप में निरन्तर चर्वणा, उसमें जो विमुख हैं। षड्ज इत्यादि सात स्वर होते हैं। श्रुति उसे कहते हैं जिसका परिमाण उतना ही हो जितना शब्द की विलक्षणतामात्र उत्पन्न करनेवाला रूपान्तर होता है और जो स्वर तथा उसके मध्यवर्ती दोनों के भेदों के द्वारा कल्पित की हुई २२ प्रकार की होती है। आदि शब्द से जाति अंशक ग्राम राग भाषा विभाषा अन्तरभाषा देशी मार्ग इत्यादि का ग्रहण होता है। प्रगीत शब्द का अर्थ है प्रकृष्ट गीत अर्थात् गान है जिनका अथवा जिन्होंने गाना प्रारम्भ किया है; इस अर्थ में आदिकर्म में क्त प्रत्यय हो जाता है; प्रारम्भ से यहाँ पर फलपर्यन्तता लक्षित होती है॥ ७॥

तारावती

प्रतीति नहीं होती अपितु उसके अवगमन के लिए काव्यतत्त्ववेत्ता होना आवश्यक है। आलोककार का कहना है कि जिस प्रकार सङ्गीत के तत्त्व को गान्धर्व विद्या जाननेवाले ही जान पाते हैं उसी प्रकार व्यंग्यार्थ को भी काव्यतत्ववेत्ता ही जान पाते हैं। यह भी एक प्रमाण है जो वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के भेद को सिद्ध करता है। कारिका में 'वेद्यते' इस क्रिया का दो बार

तारावती

प्रयोग किया गया है। पूर्वार्ध के प्रयोग का आशय यह है कि व्यंग्यार्थ को शब्दानुशासन और अर्थानुशासन के ज्ञान के बल पर नहीं जाना जा सकता। इससे यह शङ्का हो सकती थी कि जो वस्तु शब्दार्थानुशासन के आश्रय से अवगत नहीं होती उसकी सत्ता ही सन्दिग्ध हो जाती है। इसीलिए उत्तरार्ध में 'वेद्यते' क्रिया का पुनः प्रयोग कर यह बतला दिया गया कि काव्य-तत्त्ववेत्ताओं को उसकी प्रतीति होती है अतः उसका अपलाप नही हो सकता। केवल साम-ग्रीभेद से वस्तु की भिन्नता सिद्ध होती है। साहित्यदर्पण में एक ही कारिका में वाच्य और व्यङ्ग्य के भेदक तत्वों को गिना दिया गया है—

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः॥५-२॥

यहाँ पर काव्यतत्त्ववेत्ता कहने से यह नहीं समझना चाहिये कि अधिकारी-भेद का इस कारिका में उल्लेख है। यहाँ पर आशय केवल इतना ही है कि वाच्यार्थज्ञान में कारणभूत सामग्री शब्दार्थानुशासन ज्ञान है और व्यंग्यार्थ ज्ञान में सामग्री सहृदयता इत्यादि है। 'काव्य के तत्त्वभूत अर्थ की भावना से जो लोग विमुख हैं' इस वाक्य में भावना का अर्थ है—'वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ की निरन्तर चर्वणा करना।'

आलोककार ने गान्धर्व विद्या जाननेवालों का दृष्टान्त दिया था। उसकी व्याख्या करते हुये लोचनकार ने स्वर श्रुति इत्यादि पारिभाषिक शब्दों का परिचय दिया है। अतः अनपेक्षित होते हुये भी इन परिभाषाओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। विस्तृत विवे-चन सङ्गीत की पुस्तकों में प्राप्त होगा। प्राणवायु और शरीराग्नि के संयोग से जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे नाद कहते हैं। यह नाद विभिन्न नाड़ियों से अभिव्यक्त होता है और नाडीभेद से इसके २२ प्रकार हो जाते हैं। इन्हीं प्रकारों को श्रुति कहते हैं। इन श्रुतियों से ७ स्वर उत्पन्न होते हैं। श्रुति शब्द का सामान्य अर्थ है जो श्रवणगोचर हो और स्वर शब्द का अर्थ है—जो श्रोता के चित्त को निरपेक्ष भाव से स्वतः अनुरञ्जित कर दे। ये स्वर ७ होते है—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इन्हीं को संक्षेप में 'सरिगमपधनी' भी कहते हैं। श्रुतियाँ परस्पर भेदमात्र करनेवाली होती हैं, उनका परिमाण वही होता है जितने कालांश में उनका उच्चारण होता है। ये स्वरों में भी व्यक्त होती हैं और स्वरों के मध्यभाग में भी व्यक्त होती हैं। यदि समस्त स्वर पृथक् रहें तो उनसे पूर्णतया अनुरञ्जन नहीं हो सकता। अतएव इनके समूह की कल्पना की जाती है। स्वरसमूह को ग्राम कहते हैं। ग्राम दो प्रकार के होते हैं—षड्ज ग्राम और मध्यम ग्राम। ये ग्राम २२ श्रुतियों से उत्पन्न होते हैं। इनकी २१ मूछनायें होती हैं और इन ग्रामों के मेल से १८ जातियाँ उत्पन्न होती हैं इन जातियों के ६३ अंश होते हैं। इनसे ग्रामराग, भाषा, विभाषा, आन्तर भाषा, देशीमार्ग इत्यादि होते हैं जिनका वर्णन सङ्गीतशास्त्र का विषय है।

तारावती

यहाँ पर आलोककार को वाक्यरचना कुछ जटिल सी हो गई है। आलोककार का आशय यही ज्ञात होता है कि जिस प्रकार केवल पुस्तकों से सङ्गीतशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन कर लेने से सङ्गीत का आस्वादन नहीं किया जा सकता उसके लिये सङ्गीत-रसास्वादन के अभ्यास और प्रवृत्ति की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार वाच्यवाचक के ज्ञान के लिये परिश्रम करनेवाले व्यक्ति कभी काव्यरसास्वादन नहीं कर सकते इसके लिये काव्यचर्वणा का अभ्यासनैपुण्य अपेक्षित होता है। यहाँ पर दो पाठ प्राप्त होते हैं—किसी-किसी पुस्तक में 'प्रगीतानां' पाठ है और किसी-किसी में 'अप्रगीतानां' यह पाठ है। दीधितिकार ने 'प्रगीतानां' इस पाठ को ही शुद्ध माना है और उसका अर्थ 'उत्कृष्ट कोटि का गान' करके उसकी सङ्गति दो प्रकार से बिठाई है—(१) केवल गान्धर्वविद्या के लक्षण को जाननेवाले जिस प्रकार उत्कृष्ट कोटि के गीतों के स्वर श्रुति इत्यादि स्वरूप को नहीं जान पाते। (२) जिस प्रकार गान्धर्वविद्या के जाननेवाले स्वर श्रुति इत्यादि को समझ लेते हैं उसी प्रकार शब्दार्थज्ञानमात्र से ही लोग काव्य के तत्त्व को नहीं जान पाते। यह व्यतिरेक दृष्टान्त है और इसमें 'अगोचरः' शब्द की सङ्गति ठीक नहीं बैठती। इसके प्रतिकूल लोचनकार ने 'प्रगीतानां' शब्द में बहुव्रीहि समास मानकर दोनों शब्दों की सङ्गति बैठा दी है। प्रगीत शब्द का अर्थ है जो लोग प्रकृष्ट रूप में गानविद्या को जानते हैं' और अप्रगीत शब्द का अर्थ है—'जो लोग उस विद्या को नहीं जानते।' यदि केवल 'प्रगीतानां' पाठ माना जावे तो यहाँ पर क्त प्रत्यय कर्ता में मानना पड़ेगा। पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'क्त' प्रत्यय कर्म में हुआ करता है किन्तु यदि कर्म का अभी प्रारम्भ हो किया गया हो तो कर्ता अर्थ में भी क्त प्रत्यय हो जाता है। 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' पा० सू० ३।४।७१॥ अतएव प्रगीत शब्द का यहाँ अर्थ हो सकता है 'गानविद्या का प्रारम्भ करनेवाला।' इस प्रकार लोचनकार के मत में 'अप्रगीतानां' तथा 'प्रगीतानां' दोनों शब्दों का अर्थ 'गानविद्या का पूर्ण ज्ञान न रखने वाले' यही होता है। वस्तुतः लोचनकार का ही मत ठीक है क्योंकि प्रस्तुत में 'शब्दार्थानुशासनज्ञान' और 'काव्यतत्त्वज्ञ' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। अप्रस्तुत में भी दोनों का प्रतिरूप होना चाहिये। अतएव गान्धर्वलक्षणाविद्या' का अर्थ है 'गानविद्या का पुस्तकीय ज्ञान रखनेवाले।' और 'अप्रगीतानां' का अर्थ है 'जिन्होंने गीति के रसास्वादन का ठीक परिचय प्राप्त नही किया है'। जिस प्रकार ऐसे व्यक्तियों को गानविद्या का वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं होता उसीप्रकार जो काव्यमर्मज्ञ नहीं हैं उन्हें भी केवल वाच्य-वाचक के ज्ञानमात्र से ही काव्यरसास्वादन प्राप्त नहीं हो सकता। प्रारम्भ से फलपर्यन्तता लक्षित होती है।

ध्वन्यालोकः

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्य तस्यैवेति दर्शयति—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥ ८ ॥

व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम् । तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनाम्, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ।

(अनु०) इस प्रकार वाच्यव्यतिरेकी व्यङ्ग्य की सत्ता प्रतिपादित करके उसी का प्राधान्य होता है यह दिखलाते हैं—

'वह अर्थ और उस अर्थ की व्यञ्जना के सामर्थ्य में योग रखनेवाले किसी शब्द को प्रयत्न पूर्वक परखा जाना चाहिये, क्योंकि वे शब्द और अर्थ महाकवि के होते हैं' ॥ ८ ॥

व्यङ्ग्य अर्थ और उसकी व्यञ्जना के सामर्थ्य में योग रखनेवाला कोई शब्द. सभी शब्द नहीं । वे ही शब्द और अर्थ महाकवि द्वारा ज्ञात किये जाने योग्य हैं । महाकवियों को सुप्रयुक्त व्यङ्ग्यव्यञ्जक से ही महाकवित्व पद का लाभ होता है वाच्यवाचकरचनामात्र से नहीं।

लोचनम्

एवमिति । स्वरूपभेदेन भिन्नसामग्रीज्ञेयत्वेन चेत्यर्थः । प्रत्यभिज्ञेयावित्यहर्थे कृत्यः । सर्वो हि तथा यतते इतीयता प्राधान्ये लोकसिद्धत्व प्रमाणमुक्तम् । नियोगार्थेन च कृत्येन शिक्षाक्रम उक्तः । प्रत्यभिज्ञेय शब्देनेदमाह—

काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित्प्रतिभावतः ॥'

एवमिति । अर्थात् स्वरूपभेद से और भिन्नसामग्रीज्ञेय होने से । (कारिका में) 'प्रत्यभिज्ञेयौ' शब्द में अर्ह अर्थ में कृत्य प्रत्यय हो जाता है । सभी लोग वैसा ही प्रयत्न करते हैं इस प्रकार इस इतने कथन के द्वारा लोकसिद्ध प्रमाण बतला दिया । नियोगार्थक कृत्य प्रत्यय के द्वारा शिक्षाक्रम बतला दिया गया । प्रत्यभिज्ञेय शब्द से यह कह रहे हैं 'प्रतिभाशाली किसी कवि का कभी ही कोई काव्य उत्पन्न होता है ।'

तारावती

ऊपर दो रूपों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद बतलाया गया था स्वरूप भेद और ज्ञापकसामग्रीभेद । इस कारिका में व्यंग्यार्थ तथा व्यञ्जकसामग्री दोनों को प्रयत्नपूर्वक पहचानने का परामर्श दिया गया है । यहाँ पर 'प्रत्यभिज्ञेय' शब्द को समझ लेना चाहिये । यह शब्द 'प्रति' और 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु से 'अर्ह' अर्थ में 'अर्हे कृत्यतृचश्च' इस सूत्र से यत् प्रत्यय होकर बना है । अतः इस शब्द का अर्थ हुआ 'व्यंग्यार्थ और व्यञ्जक शब्द' दोनों प्रत्यभिज्ञान के योग्य हैं ।' 'महाकवेः' इस शब्द में षष्ठी दो प्रकार से हो सकती है—एक तो कर्त्ता में षष्ठी दूसरे शेषषष्ठी । यदि यहाँ पर कर्ता में षष्ठी मानी जावेगी तो इस वाक्य

लोचनम्

इति नयेन यद्यपि स्वयमस्यैतत्स्फुरति तथापीदमित्थमिति विशेषतो निरूप्यमाणं सहस्रशाखी भवति। यथोक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीमदुत्पलपादैः—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनयस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैव तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥ इति॥

इस नीति से यद्यपि यह स्वयं ही इनके लिये परिस्फुरित होता है तथापि यह इसीप्रकार का है यह विशेष रूप से निरूपित किये जाने पर सहस्र शाखाओं में विभक्त हो जाता है। जैसा कि हमारे परम गुरु श्रीमान् उत्पल राजदेव ने कहा है—

'विभिन्न उपायों से प्रार्थना किया हुआ भी तन्वी के निकट स्थित भी कान्त लोकसामान्य-रूप में न पहिचाना हुआ जिस प्रकार रमण के लिये नहीं होता; इसी प्रकार स्वात्मरूप में स्थित भी विश्वेश्वर न देखे हुये गुणोंवाले होकर लोक के समक्ष अपने वैभव के लिये नहीं ही समर्थ होते हैं इसलिये वह इस प्रकार की उसकी प्रत्यभिज्ञा कही गई है।'

तारावती

का अर्थ होगा—'महाकवि को इस प्रकार के व्यंग्यार्थ और व्यञ्जक शब्द का प्रत्यभिज्ञान करना चाहिये।' यदि शेषषष्ठी मानी जावेगी तो 'सहृदयैः' इस शब्द को जोड़कर इसका अर्थ हो जावेगा—महाकवि के इस प्रकार के अर्थ और शब्द का प्रत्यभिज्ञान सहृदयों द्वारा किया जाना चाहिये। सभी लोग ऐसे ही शब्द और अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करने का प्रयत्न किया करते हैं। इस प्रकार सहृदयों के प्रयत्न की बात कहकर यह भी सिद्ध कर दिया गया कि व्यंग्यार्थ की प्रधानता में सहृदयों के हृदय ही प्रमाण हैं और उसकी प्रधानता लोकसिद्ध हो जाती है। साथ ही नियोगार्थक यत् प्रत्यय के प्रयोग से कविशिक्षा भी प्रकट हो जाती है।

यहाँ पर प्रत्यभिज्ञा शब्द को भलीभाँति समझ लेना चाहिये। प्रत्यभिज्ञा शब्द का अर्थ है किसी पुरानी ज्ञात वस्तु को पहिचान लेना। यहाँ पर कहा गया है कि 'महाकवि को चाहिये कि व्यंग्यार्थ और व्यञ्जकशब्द को पहिचान ले।' अब प्रश्न यह उठता है कि जब कवि स्वयं ही शब्द और अर्थ का जनक है तब वह उसे भलीभाँति पहिचान ले यह कहने का क्या आशय है। इसका उत्तर यह है कि कवि व्यंग्यार्थ और व्यञ्जकशब्द का जनक नहीं होता अपितु इस प्रकार शब्द और अर्थ स्वयं स्फुरित हुआ करते हैं। किसी ने कहा है :—

'किसी प्रतिभाशाली कवि का काव्य संयोगवश कभी ही बन जाता है।'

आशय यह है कि काव्य का स्फुरण स्वयं ही होता है, प्रयत्नपूर्वक उसकी रचना कभी

लोचनम्

तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं, न तु तदेवेदमित्येतावन्मात्रम्। महाकवेरिति। यो महाकविरहं भूयासमित्याशास्ते। एवं व्यङ्ग्यस्यार्थस्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं वदता व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्यापि प्राधान्यमुक्तमिति ध्वनति ध्वन्यते ध्वननमिति त्रितयमप्युपपन्नमित्युक्तम् ॥ ८ ॥

इसलिये ज्ञात का भी अनुसन्धानात्मक निरूपण यहाँ पर प्रत्यभिज्ञा है; केवल इतना ही नहीं कि 'यह वही है'। महाकवेरिति। जो यह आशा करता है कि मैं महाकवि बन जाऊँ। इसप्रकार व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्द का प्राधान्य बतलाते हुये व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव का भी प्राधान्य कह दिया गया है; इस प्रकार 'ध्वनित करता है' 'ध्वनित किया जाता है' और 'ध्वनन' ये तीनों ही उपपन्न हो जाते हैं ॥ ८ ॥

तारावती

नहीं हो सकती। किन्तु फिर भी उस काव्य की वास्तविकता का ठीक रूप में निरूपण करने से वह संयोगवश भी उत्पन्न हुआ काव्य सहस्र शाखाओं में विभक्त हो जाता है। यही प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है। इसका परिचय देते हुये लोचनकार के परम गुरु श्री उत्पलराजदेव ने लिखा है—

जिस प्रियतम को बुलाने के लिये दूती-सम्प्रेषण आत्मवृत्तान्तनिवेदन प्रभृति उपायों से विभिन्न प्रकार से प्रार्थना की थी, वह प्रियतम आ भी गया और निकट भी बैठा है। किन्तु नायिका यह नहीं समझ रही है कि यह वही प्रियतम है जिसको अपने निकट बुलाने के लिये मैंने इतनी चेष्टायें की थीं। वह उसे साधारण व्यक्ति के समान ही समझ रही है। अतः वह अपने उस प्रियतम से रमण करने में कभी प्रवृत्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार यद्यपि सभी व्यक्ति जानते हैं कि विश्व का स्वामी परब्रह्म परमेश्वर सभी संसार की आत्मा है तथापि जबतक उस परमात्मा के गुणों का साक्षात्कार नहीं होता तबतक उसके वैभव का प्रभाव किसी प्रकार पड़ नहीं सकता। इसीलिये उसका परिचय कराने की मैंने चेष्टा की है।'

इसी प्रकार कुछ शब्दों में रमणीय अर्थ को अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है। अर्थात् शब्दों में इस प्रकार की विशिष्ट अर्थ के द्योतन की शक्ति स्वतः विद्यमान होती है और हम प्रायः उस शक्ति से परिचित भी होते हैं; किन्तु उस ओर हमारा ध्यान प्रायः नहीं जाता। उसका अनुसन्धान और परिचय ही महाकवि का काम है। ऐसे शब्द प्रतिभा के बल पर स्फुरित हुआ करते हैं। किन्तु जबतक इनकी रमणीयता की ओर ध्यान नहीं जाता तबतक काव्यानन्द की उपलब्धि नहीं होती। अतः जो महाकवि अपने ही काव्य का रसास्वादन करना चाहते हैं अथवा जो परिशीलक महाकवि बनना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि स्वतः स्फुरित होनेवाले भी व्यञ्जक शब्दों की विशेषताओं का परिज्ञान प्राप्त करें। इस प्रकार व्यंग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्द दोनों की प्रधानता बतलाने से व्यञ्जनावृत्ति की भी प्रधानता स्वतः सिद्ध हो जाती है। ध्वनि शब्द का प्रयोग इन तीनों अर्थों में किया जा सकता है। जब

ध्वन्यालोकः

इदानीं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद्वाच्यवाचकावेव प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥ ९ ॥

यथा ह्यालोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवाञ्जनो भवति तदुपायतया। नहि दीपशिखामन्तरेणालोकः सम्भवति। तद्वद्व्यङ्ग्यमर्थं प्रत्यादृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति। अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः ॥ ९ ॥

(अनु०) अब यहाँ पर यह दिखलाया जा रहा है कि यद्यपि व्यङ्ग्य और व्यञ्जक की प्रधानता होती है फिर भी कविगण वाच्यवाचक का ही पहले उपादान करते हैं। यह भी ठीक ही है:—जिस प्रकार लोगों की आवश्यकता तो किसी वस्तु के अवलोकन की होती है और प्रयत्न करते हैं दीपशिखा के लिये। क्योंकि दीपशिखा वस्तु-प्रत्यक्ष का उपाय है, इसी प्रकार कवियों को अभीष्ट होता है व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन किन्तु उसका उपाय होने के कारण उन्हें वाच्य अर्थ के लिये भी प्रयत्न करना पड़ता है ॥ ९ ॥

जिस प्रकार आलोक का इच्छुक होते हुए भी कोई व्यक्ति दीपशिखा में प्रयत्नवान् होता है, क्योंकि दीपशिखा आलोक का उपाय है, उसके अभाव में आलोक हो सकना सम्भव नहीं है—इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति की इच्छा रखनेवाले कवियों को भी वाच्यार्थ के लिये उद्योग करना पड़ता है। यहां पर प्रतिपादक (वक्ता) कवि का व्यङ्ग्यार्थ के प्रति किस प्रकार का व्यापार होता है यह दिखलाया गया ॥ ९ ॥

लोचनम्

ननु प्रथमोपादीयमानत्वाद्वाच्यवाचकतद्भावस्यैव प्राधान्यमित्याशङ्क्योपायानामेव प्रथममुपादानं भवतीत्यभिप्रायेण विरुद्धोऽयं प्राधान्ये साध्ये हेतुरितिदर्शयति—इदानीमित्यादिना। आलोकनमालोकः वनितावदनारविन्दादिविलोकनमित्यर्थः। तत्र चोपायो दीपशिखा ॥ ९ ॥

निःसन्देह प्रथम उपादान किया हुआ होने के कारण वाच्य, वाचक तथा वाच्यवाचकभाव का ही प्राधान्य होता है यह आशङ्का करके उपायों का ही प्रथम उपादान होता है इस अभिप्राय से प्राधान्य को सिद्ध करने में यह हेतु विरुद्ध है, यह दिखला रहे हैं इदानीम् इत्यादि के द्वारा। आलोक का अर्थ है आलोकन अर्थात् चाक्षुष ज्ञान अर्थात् वनितावदनारविन्द इत्यादि का अवलोकन। उसमें उपाय है दीपशिखा ॥ ९ ॥

तारावती

हम ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति कर्तृवाचक प्रत्यय के द्वारा (ध्वनतीति ध्वनिः) यह करेंगे तब ध्वनित करनेवाला व्यञ्जक शब्द ध्वनि का अर्थ होगा। जब हम इसकी व्युत्पत्ति कर्मवाच्य द्वारा (ध्वन्यते यह) करेंगे तब इसका अर्थ होगा 'जो ध्वनित किया जावे' अर्थात् व्यंग्यार्थ।

तारावती

जब हम संज्ञार्थक ल्युट् प्रत्यय करेंगे (ध्वननम्) तब इसका अर्थ होगा ध्वनित करनेवाला व्यापार अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति। इस प्रकार तीनों ही अर्थ सङ्गत हो जाते हैं॥ ८॥

कुन्तक ने शब्द और अर्थ की विलक्षणता तथा लोकोत्तरता की ओर संकेत किया है। उनका कहना है—

शब्दो विवक्षितैकार्थवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारि-स्वस्पन्द-सुन्दरः॥ १–९॥

अर्थात् एक अर्थ के वाचक अनेक शब्द होते हैं किन्तु कवि ऐसे शब्द का ही प्रयोग करता है जो उसके विवक्षित अपूर्व अर्थ को कह सके। इसी प्रकार कवि का अर्थ भी इस प्रकार का होता है जो सहृदयों को आह्लाद दे सके और स्वयं स्फुरित होने के कारण सुन्दर प्रतीत हो।

यहाँ तक व्यंग्य व्यञ्जक और व्यञ्जनावृत्ति तीनों की प्रधानता सिद्ध की जा चुकी। अब यह प्रश्न उठता है कि जबकि व्यंग्यार्थबोध के पहले ही वाच्यवाचक भाव का परिज्ञान अनिवार्य है तब प्रथम उपादान के कारण वाच्यवाचकभाव की प्रधानता ही सिद्ध होती है। व्यंग्यव्यञ्जकभाव का तो उपादान बाद में होता है उनकी प्रधानता कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि लोक में उपाय पहले होते हैं और उन्हीं के लिये पहले उद्योग किया जाता है। उदाहरण के लिये यदि अपनी प्रेयसी के मुख कमल को देखना हो तो पहले दीपशिखा का अन्वेषण किया जावेगा। इसी प्रकार वाच्यार्थ उपाय है और व्यंग्यार्थ उपेय है। अतएव वाच्यार्थ में पहले प्रवृत्ति होती है। आलोक का अर्थ है प्रकाश। किन्तु दीपशिखा और प्रकाश का अभेद सम्बन्ध है। अतएव आलोक के लिये दीपशिखा का अन्वेषण किया जाता है यह वाक्य प्रस्तुत प्रकरण में अधिक सङ्गत नहीं होता। इसीलिये लोचनकार ने 'आलोकनमालोकः' 'वनितावदनारविन्दादिविलोकनम्' यह अर्थ कर दिया है। अतएव इसका अर्थ हो जाता है—इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य चाक्षुष प्रत्यक्ष।

यहाँ पर पूर्वपक्षी ने अनुमान प्रमाण के बल पर वाच्यार्थ की प्रधानता सिद्ध की थी। प्रतिपक्षी का अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'वाच्यवाचकभाव प्रधान होता है, क्योंकि उसका उपादान पहले किया जाता है'। यहाँ पर वाच्यवाचकभाव पक्ष है, प्रधानता साध्य है और प्रथम उपादान हेतु है। किन्तु यह अनुमान प्रक्रिया ठीक नहीं है क्योंकि इसमें विरुद्ध हेत्वाभास है। यहाँ पर प्रधानता साध्य है; उसका अभाव है अप्रधानता। प्रथम उपादानरूप हेतु उसी अप्रधानता को सिद्ध करता है प्रधानता को नहीं। क्योंकि अप्रधान उपाय का उपादान पहले होता है उपेय प्रधान का बाद में। अतएव यह हेतु विरुद्ध है और वाच्यार्थ की प्रधानता को सिद्ध नहीं कर सकता।

[उपाय उसे कहते हैं जिसका किसी उद्देश्य से उपादान करके भी परित्याग कर दिया जाय। महिम भट्ट का कहना है कि 'यह कहा जा सकता है कि जिसके लिये जिसका उपादान

ध्वन्यालोकः

प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते ।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥ १० ॥

यथाहि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः ।

(अनु०) प्रतिपाद्य (श्रोता) की दृष्टि से भी वही दिखला रहे हैं—

'जिस प्रकार पदार्थज्ञान के द्वारा वाक्यार्थबोध होता है उसी प्रकार वाच्यार्थज्ञान के द्वारा ही उस वस्तु व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है ॥ १० ॥

जिस प्रकार पदार्थ के माध्यम से वाक्यार्थ का अवगम होता है उसी प्रकार वाच्यार्थ की प्रतीति के द्वारा ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है।

लोचनम्

प्रतिपदिति भावे क्विप् । 'तस्य वस्तुन' इति व्यङ्ग्यरूपस्य सारस्येत्यर्थः । अनेन श्लोकेनात्यन्तसहृदयो यो न भवति तस्यैव स्फुटसंवेद्य एव क्रमः । यथात्यन्तशब्दवृत्तज्ञो यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रमः । काष्ठाप्राप्तसहृदयभावस्य तु वाक्यवृत्तकुशलस्येव सन्नपि क्रमोऽभ्यस्तानुमानाविनाभावस्मृत्यादिवदसंवेद्य इति दर्शितम् ॥ १० ॥

'प्रतिपत्' शब्द में भाव में क्विप् प्रत्यय है। 'उस वस्तु का' का अर्थ है व्यङ्ग्यरूप सार का। इस श्लोक से अत्यन्त सहृदय जो नहीं होता है उसके लिये क्रम स्फुटरूप में संवेद्य ही होता है। जिस प्रकार अत्यन्त शब्द और वृत्त को जाननेवाला जो नहीं होता उसके लिये पदार्थ और वाक्यार्थ का क्रम होता है। जिसका सहृदयभाव पराकाष्ठा को प्राप्त हो चुका हो उसके लिये तो वाक्य-वृत्त में कुशल के समान विद्यमान भी क्रम अभ्यस्त विषय में अनुमान और व्याप्ति स्मृति इत्यादि के समान असंवेद्य ही होता है यह दिखला दिया गया है ॥ १० ॥

तारावती

किया जाता है वह उसे ही गौण नहीं बनाता। जैसे उदक इत्यादि के उपादान के लिए घर इत्यादि का उपादान किया जाता है। वही उदक इत्यादि घर इत्यादि को गौण नहीं बना सकता है। नहीं तो प्रधान और अप्रधान की व्यवस्था ही निराधार हो जाय। अतएव घर इत्यादि ही प्रतिनिधित्व करते हैं जल इत्यादि नहीं।' इस पर मेरा निवेदन है कि जिस वस्तु का उद्देश्य होता है वही वस्तु प्रधान मानी जा सकती है। घर के बिना भी जल स्थिर रह सकता है किन्तु जल का काम केवल घर से नहीं चलता। दूसरी बात यह है कि घर जल की दृष्टि से गौण न भी हो किन्तु जलार्थी की दृष्टि से तो वह गौण ही होता है। आशय यही है कि घर उपायमात्र होता है, अतः वह उद्देश्यकोटि को कभी प्राप्त नहीं कर सकता।]

तारावती

वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है—कवि के दृष्टिकोण से और सहृदय के दृष्टिकोण से। प्रस्तुत कारिका में कवि के दृष्टिकोण से विचार किया गया है कि कवि व्यंग्यार्थ का अवगम कराने के लिये ही शब्द का प्रयोग किया करता है। व्यंग्यार्थ ही कवि का चरमलक्ष्य होता है; अतएव कवि की दृष्टि में उसी की प्रधानता होती है ॥ ९ ॥

दूसरा दृष्टिकोण पाठक श्रोता या दर्शक का होता है। उसके दृष्टिकोण से भी व्यंग्यार्थ की ही प्रधानता होती है। फिर वह वाच्यार्थज्ञान में क्यों प्रवृत्त होता है इसी बात का उत्तर इस १० वीं कारिका में दिया गया है। प्रतिपादक और प्रतिपाद्य ये दो शब्द हैं। प्रतिपादक शब्द होता है और प्रतिपाद्य अर्थ होता है। किन्तु यहाँ पर इन दोनों शब्दों का इन अर्थों में प्रयोग नहीं हुआ है। जिस प्रकार ९ वीं कारिका में प्रतिपादक का अर्थ है कवि, उसी प्रकार इस कारिका में प्रतिपादक का अर्थ है परिशीलक, जिसके लिये कवि प्रतिपादन करता है। इस आशय को न समझकर कुछ व्याख्याकारों ने प्रतिपाद्य का अर्थ वाच्यार्थ किया है जो उपादेय नहीं हो सकता। ध्यान रखना चाहिये कि वाच्यार्थ कभी प्रतिपाद्य नहीं होता। वह तो व्यंग्यार्थ के प्रतिपादन का माध्यम मात्र होता है।

'प्रतिपत्तस्य' का पदच्छेद होगा—प्रतिपत्+तस्य। प्रति उपसर्ग पद धातु से भाव अर्थ में क्विप् प्रत्यय होकर प्रतिपत् बना है जिसका अर्थ होता है ज्ञान। जिस प्रकार वाक्यार्थ का ज्ञान हमें तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम शब्दों का अर्थ न जान लें उसी प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी हमें तबतक नहीं हो सकती जबतक हम वाच्यार्थ को न जान लें। इस श्लोक में जिस अप्रस्तुत का उपादान हुआ है उससे यह भी सिद्ध होता है कि जो लोग अत्यन्त सहृदय नहीं होते उन्हीं को इस क्रम का पता चलता है कि पहले वाच्यार्थ होता है और बाद में व्यंग्यार्थ होता है। जिस प्रकार कम पढ़े लिखे लोगों को पहले शब्दों का अर्थ जानना पड़ता है तब उन्हें वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। किन्तु जब भाषा पर विशेष अधिकार हो जाता है तब शब्दों के अर्थ की ओर बिना ही ध्यान दिये एक दम वाक्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार जिन लोगों में सहृदयता की कमी है उन लोगों को वाच्यार्थज्ञान के बाद कठिनता से व्यंग्यार्थबोध होता है। किन्तु जो लोग विशेष रूप से सहृदय हैं उनको वाक्य को सुनने के साथ ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। उन्हें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के पौर्वापर्य क्रम का पता नहीं चलता। इसके लिये दूसरा उदाहरण यह हो सकता है कि जिस प्रकार पहले हेतु (धुआँ) के दर्शन होते हैं, बाद में साध्य (अग्नि) से उसकी व्याप्ति का स्मरण किया जाता है और तब लिङ्गपरामर्श के द्वारा साध्य (अग्नि) का अनुमान लगाया जाता है। पहले-पहल जो लोग अनुमान लगाते हैं उन्हें इस क्रम की प्रतीति होती है। किन्तु अभ्यास हो जाने के बाद धुये को देखते ही अग्नि का ज्ञान हो जाता है, उस समय व्याप्ति स्मृति इत्यादि क्रम लक्षित नहीं होता है।

ध्वन्यालोकः

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेर्व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न व्यालुप्यते तथा दर्शयति—

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थप्रतिपादनम् ।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥ ११ ॥

यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि पदार्थो व्यापारनिष्पत्तौ न विभाव्यते विभक्ततया ।

तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥ १२ ॥

(अनु०) अब यह दिखलाया जा रहा है कि यद्यपि व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ बोध के बाद होती है फिर भी व्यंग्यार्थ की प्रधानता किस प्रकार लुप्त नहीं हो जाती—"जिसप्रकार पदों का अर्थ अपने सामर्थ्य से ही वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हुये व्यापार की निष्पत्ति में पृथक् रूप में प्रतीत नहीं होता" ॥ ११ ॥

आशय यह है कि पदार्थ अपने सामर्थ्य (आकांक्षा योग्यता और सन्निधि) के द्वारा वाच्यार्थ को प्रकाशित करते हुए भी व्यापार की निष्पत्ति में पृथक् रूप में प्रतीत नहीं होता ।

" इसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुख अर्थात् उसी से सन्तुष्ट न होनेवाले सहृदयों की ऐसी बुद्धि में जो कि तत्त्वार्थ को शीघ्र ही देख लेती है वह व्यंग्यार्थ एकदम आ जाता है ॥ १२ ॥

लोचनम्

न व्यालुप्यत इति । प्राधान्यादेव तत्पर्यन्तानुसरणरणरणकत्वारता मध्ये विश्रान्तिं न कुर्वन्ति इति क्रमस्य सतोऽप्यलक्षणं प्राधान्ये हेतुः । स्वसामर्थ्यमाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधयः । विभाव्यत इति । विशब्देन विभक्ततोक्ता ।

न व्यालुप्यत इति । प्रधानता के ही कारण तत्पर्यन्त अनुसरण में औत्सुक्य की शीघ्रता करते हुए मध्य में विश्रान्ति नहीं करते हैं यह क्रम के होते हुए भी लक्षित न करना प्रधानता में हेतु है । स्वसामर्थ्य का अर्थ है आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि । विभाव्यत इति । वि शब्द से विभ-

तारावती

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि व्यञ्जक वाक्य भी होता है और निरर्थक वर्ण इत्यादि भी व्यञ्जक होते हैं । उक्त वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का दृष्टान्त ऐसे ही स्थान पर सङ्गत होता है जहाँ वाच्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है । जहाँ पर निरर्थक वर्ण इत्यादि से ही व्यंग्यार्थ अवगत हो जाता है वहाँ पर शब्द इत्यादि का प्रत्यक्ष होना ही व्यंग्यार्थ में कारण होता है । अतः वहाँ के लिये यह दृष्टान्त नहीं है (पदार्थ वाक्यार्थ के लिये देखो उ० ३) ॥ १० ॥

११ वीं और १२ वीं कारिकाओं का मिलाकर एक पूर्ण अर्थ होता है ११ वीं कारिका में दृष्टान्त है १२ वीं कारिका में दार्ष्टान्त है । इसीलिए दोनों कारिकाओं का एक ही सन्दर्भ

लोचनम्

विभक्ततया न भाव्यत इत्यर्थः । अनेन विद्यमान एव क्रमो न संवेद्यत इत्युक्तम् । तेन यत्स्फोटाभिप्रायेणासन्नेव क्रम इति व्याचक्षते तत् प्रत्युत विरुद्धमेव । वाच्येऽर्थे विमुखो विश्रान्तिनिबन्धनं परितोषमलभमान आत्मा हृदयं येषामित्यनेन सचेतसामित्यस्यैवार्थोऽभिव्यक्तः । सहृदयानामेव तह्ययं महिमास्तु, न तु काव्यस्यासौ कश्चिदतिशय इत्याशङ्क्याह—अवभासत इति । तेनात्र विभक्ततया न भासते, नतु वाच्यस्य सर्वथैवानवभासः । अत एव तृतीयोद्योते घटप्रदीपदृष्टान्तबलाद्व्यङ्ग्यप्रतीतिकालेऽपि वाच्यप्रतीतिर्न विघटत इति यद्वक्ष्यति तेन सहास्य ग्रन्थस्य न विरोधः ॥ ११ , १२ ॥

क्तता बतलाई गई है । अर्थात् विभक्त होने के कारण ज्ञात नहीं होता है । इससे विद्यमान ही क्रम संवेदनागोचर नहीं होता यह कहा गया है । इससे जो कि 'स्फोट के अभिप्राय से न विद्यमान होते हुए भी क्रम' यह व्याख्या करते हैं वह तो प्रत्युत विरुद्ध ही है । वाच्य अर्थ में विमुख अर्थात् विश्रान्ति के कारण परितोष को न प्राप्त करनेवाली है आत्मा अर्थात् हृदय जिनका इसप्रकार इससे 'सचेतसाम्' इसी का अर्थ अभिव्यक्त किया गया है । तो यह सहृदयों की ही महिमा हो यह काव्य का कोई अतिशय नहीं है, यह आशंका करके कह रहे हैं— अवभासत इति । इससे यहाँ पर विभक्ततया भासित नहीं होता वाच्य का सर्वथा ही अवभासन हो ऐसा नहीं होता । अतएव तृतीय उद्योत में घट-प्रदीप के दृष्टान्त के बल पर जो यह कहेंगे कि व्यंग्यप्रतीतिकाल में भी वाच्यप्रतीति विघटित नहीं होती उसके साथ इस ग्रन्थ का विरोध नहीं है ॥११, १२॥

तारावती

दिया गया है । इन कारिकाओं में यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार शब्दों का अर्थ जान लेने पर ही वाक्यार्थज्ञान होता है । किन्तु शब्दार्थ अपनी शक्ति से ही वाक्यार्थ का प्रतिपादन कर देता है, वाक्यार्थरूप व्यापार की निष्पत्ति में शब्दार्थ की बिलकुल प्रतीति नहीं होती । यह बात मालूम ही नहीं पड़ती कि शब्दार्थ और वाक्यार्थ दो पृथक्-पृथक् वस्तुयें हैं और एक के बाद दूसरी होती है इसी प्रकार यद्यपि यह नियम है कि वाच्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है तथापि जो सहृदय हैं और जिनकी आत्मा वाच्यार्थज्ञानमात्र से ही सन्तुष्ट नहीं होती उनकी विवेकशील बुद्धि में व्यंग्यार्थ का अवभास एकदम हो जाता है । उन्हें यह पता ही नहीं चलता कि वाच्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति हुई है । यही इन दोनों कारिकाओं का आशय है ।

वास्तविकता यह है कि क्रम का प्रतीत न होना ही व्यंग्यार्थ की प्रधानता में प्रमाण है । जो वस्तु प्रधान होती है हम उसी को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और उसके लिये जो सामग्री जुटाते हैं उस पर रुकते नहीं, उस ओर ध्यान भी नहीं देते । किन्तु अपनी अभीष्ट

तारावती

वस्तु की प्राप्ति की उत्कण्ठा में बढ़ते ही चले जाते हैं। व्यंग्यार्थ प्रधान होता है इसलिये सहृदय लोग उस तक पहुँच जाने के लिये उतावले हो जाते हैं और शीघ्रता करते हुए मध्य में पड़नेवाले वाच्यार्थ पर रुकते नहीं और न उसे लक्षित ही कर पाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि व्यंग्यार्थ ही उनका अभीष्ट है अतएव वही प्रधान होता है।

प्रस्तुत कारिका में शब्दसामर्थ्य के द्वारा वाच्यार्थबोध का दृष्टान्त दिया गया है। अतः शब्दसामर्थ्य को समझ लेना चाहिये। वाक्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।

अर्थात् वाक्य ऐसे पदसमूह को कहते हैं जिसमें योग्यता आकांक्षा और आसत्ति विद्यमान हो। पद की यह तीन विशेषतायें वाक्यार्थबोध में कारण होती हैं और इन्हीं को यहाँ पर पद-सामर्थ्य से अभिहित किया गया है। कारिकावली में योग्यता की निम्नलिखित परिभाषा दी हुई है—

पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता

अर्थात् एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध योग्यता कहलाता है। योग्यता की दूसरी परिभाषा यह की गई है—

'योग्यता नाम पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः।'

अर्थात् पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा न होना 'योग्यता' कहलाता है। जैसे 'अग्नि से सींचता है' इस वाक्य का वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता क्योंकि सींचना क्रिया का करण अग्नि नहीं हो सकती। अतः इनका सम्बन्ध बाधित है और इन शब्दों में परस्पर मिलने की योग्यता नहीं है। यदि किसी पद के अभाव में एक पद के अन्वय की पूर्ति न हो तो उस पद की उस पद के साथ आकांक्षा होती है। जैसे क्रियापद की कारकपद के साथ आकांक्षा होती है। यदि गाय, घोड़ा, हाथी, बैल इत्यादि दस-पाँच शब्द जोड़ दिये जावें तो उनसे कोई वाक्य नहीं बन सकेगा क्योंकि उनमें परस्पर आकांक्षा नहीं है। आसत्ति का अर्थ होता है निकटता। यदि शब्द साथ-साथ न बोले जाकर बिलम्ब से बोले जावें तो निकटता न होने के कारण उनसे वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता। जब शब्द समूह में ये तीनों तत्त्व विद्यमान होते हैं तभी वाक्यार्थबोध होता है। किन्तु वाक्यार्थबोध में शब्द तथा उनके इन सामर्थ्यों का पृथक् बोध नहीं होता। वाक्यार्थ एकदम प्रकट हो जाता है। शब्दार्थ की ओर ध्यान भी नहीं जाता। 'विभाव्यते' में 'वि' का अर्थ है विभक्तरूप में और 'भाव्यते' का अर्थ है प्रतीत होते हैं। अर्थात् 'पदार्थ वाक्यार्थ में विभक्तरूप में प्रतीत नहीं होता'। इससे सिद्ध होता है क्रम रहता अवश्य है किन्तु प्रकट नहीं हो पाता। कुछ लोगों ने इस सन्दर्भ की यह व्याख्या की थी कि वैय्याकरण लोग पदार्थ को मानते ही नहीं। उनके मत में अखण्ड स्फोट ही वाक्य का अर्थ होता है, पदों का अर्थ कुछ भी नहीं होता। अतएव वहाँ पर पदार्थ और वाक्यार्थ का क्रम भी नहीं होता। किन्तु यह व्याख्या विपरीत है। ध्वनिकार ने स्पष्ट रूप में 'विभाव्यते' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है क्रम होता है किन्तु विभक्तरूप में प्रतीत नहीं होता।'

ध्वन्यालोकः

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ १३ ॥

(अनु०) इसप्रकार वाच्यव्यतिरिक्त व्यंग्यार्थ की सत्ता और उसकी प्रधानता का प्रतिपादन कर अब यह दिखलाया जा रहा है कि प्रकृत में उसका उपयोग क्या है ?

'जहाँ पर अर्थ अथवा शब्द दोनों अपनी आत्मा और अपने अर्थ को उपसर्जन (गौण) बनाकर उस व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं वह काव्यविशेष विद्वानों के द्वारा ध्वनि इस नाम से अभिहित किया जाता है ॥ १३ ॥

तारावती

'वाच्यार्थविमुखात्मना' का अर्थ है—जिनकी आत्मा अर्थात् हृदय वाच्य अर्थ में विमुख होता है अर्थात् जिन्हें वाच्य अर्थ में सन्तोष नहीं होता और सन्तोष न होने का कारण यही होता है कि उनकी दृष्टि में अर्थ की विश्रान्ति वाच्यार्थ पर ही नहीं होती। वस्तुतः 'सचेतसां' की ही यह व्याख्या है। सहृदय कहते ही उसे हैं जिसकी दृष्टि वाच्यार्थ तक ही सीमित नहीं रहती अपितु उससे परे भी उसके प्रतीयमान अर्थ को देखने में समर्थ हो जाती है। अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि प्रतीयमान अर्थ का प्रतीत होना सहृदयों की ही विशेषता है क्योंकि सहृदयों को ही व्यंग्यार्थबोध होता है, जो सहृदय नहीं होते उन्हें उस अर्थ को प्रतीति होती ही नहीं। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति सहृदयों की ही विशेषता ठहरती है। इसीलिये 'अवभासते' इस क्रिया का प्रयोग किया गया है इसका आशय यह है कि प्रतीयमान अर्थ का अवभास उसी काव्यश्रवण के साथ ही या उससे बाद ही होता है और उसका आस्वादन भी उसी समय होता है। अतएव अन्वय व्यतिरेक काव्य का भी बन जाता है। विशिष्ट प्रकार के शब्द और अर्थ रूप काव्य के होने पर ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति और आस्वादन होते हैं और उनके न होने पर काव्यरसास्वादन भी नहीं होता। इस प्रकार काव्यरसास्वादन के प्रति शब्दार्थरूप काव्य की भी कारणता सिद्ध हो जाती है। सहृदय रसास्वादन में निमित्तकारणमात्र होता है। उपादानकारणता शब्द और अर्थ रूप काव्य में ही रहती है।

यहाँ पर केवल इतनी बात कही गई है शब्दार्थ वाक्यार्थ से तथा वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से पृथग्भूत होकर प्रतीत नहीं होते। यह नहीं समझना चाहिये कि वाच्यार्थ की बिल्कुल प्रतीति ही नहीं होती। इसलिये तृतीय उद्योत की ३३ वीं कारिका में यह कहा जावेगा कि घट और प्रदीप के दृष्टान्त से व्यंग्यार्थ के प्रतीतिकाल में भी वाच्यार्थ विघटित नहीं होता। इस प्रकार इन दोनों सन्दर्भों का परस्पर विरोध नहीं है।

ध्वन्यालोकः

यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति । अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम् ।

(अनु०) यहाँ पर 'अर्थ' शब्द का अर्थ है विशेष प्रकार का वाच्य अर्थ और शब्द का अर्थ है विशेष प्रकार का वाचक। जहाँ पर वाच्य अथवा वाचक उस प्रधानीभूत व्यंग्यार्थ को व्यक्त करते हैं उस काव्यविशेष को ध्वनि कहते हैं। ध्वनि की इस परिभाषा के द्वारा यह दिखलाया गया है कि ध्वनि का विषय वाच्यार्थ को चारुता से उत्पन्न होनेवाले उपमा इत्यादि से भी भिन्न है और वाचक की चारुता से उत्पन्न अनुप्रास इत्यादि से भी भिन्न है।

लोचनम्

सद्भावमिति । सत्तां साधुभावं प्राधान्यं चेत्यर्थः । द्वयं हि प्रतिपिपादयिषितम् । प्रकृत इति लक्षणे । उपयोजयन् उपयोगं गमयन् । तमर्थमिति चायमुपयोगः । स्वशब्द आत्मवाची । स्वश्चार्थश्च तौ स्वार्थौ, तौ गुणीकृतौ याभ्याम्, यथासंख्येन तेनार्थो गुणीकृतात्मा शब्दो गुणीकृताभिधेयः तमर्थमिति । 'सरस्वतीस्वादु तदर्थवस्तु' इति यदुक्तम् । व्यङ्क्तः इति द्विवचनेनेदमाह—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकः तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात् । विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि भवत्येव । विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वनन व्यापारः । तेन यद्भट्टनायकेन द्विवचन दूषितं तद्गजनिमीलिकयैव । अर्थः शब्दो वेति

सद्भावमिति। अर्थात् सत्ता या साधुभाव अथवा प्राधान्य को। दोनों का प्रतिपादन करना यहाँ पर अभीष्ट है। 'प्रकृते' शब्द का अर्थ है उपयोग को प्राप्त कराते हुये। 'तमर्थम्' इसके लिये (अर्थात् 'तम्' शब्द से परामर्श करने के लिये) यह उपयोग है। स्व शब्द आत्मवाचक (अर्थ के स्वरूप को बतलानेवाला) है। 'स्वार्थ' शब्द का अर्थ है 'स्व' और अर्थ दोनों मिलकर वे दोनों जिन दो के द्वारा गौण बना दिये जावें। इससे यथासंख्य से अर्थ अपनी आत्मा को गौण बना देनेवाला होता है और शब्द अपने अभिधेय को गौण बना देनेवाला होता है। उस अर्थ को अर्थात् 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' में जो बात कही गई थी। 'व्यङ्क्तः' अर्थात् द्योतित करते हैं। 'व्यङ्क्तः' इस द्विवचन से यह कहा है—यद्यपि अविवक्षितवाच्य में शब्द ही व्यञ्जक होता है तथापि अर्थ की भी सहकारिता टूटती नहीं, नहीं तो न जाने हुए अर्थवाला शब्द भी उसका व्यंजक हो जावे। और विवक्षितान्यपरवाच्य में शब्द की भी सहकारिता होती ही है क्योंकि विशिष्ट शब्द के द्वारा अभिधेयता के अभाव में उस अर्थ में भी व्यंञ्जकता नहीं होती। इस प्रकार सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वननव्यापार होता है। इस प्रकार भट्टनायक ने जो द्विवचन का खण्डन किया है वह गजनिमीलिका (बिना सोचे समझे खण्डन पर टूट पड़ना) ही है। 'अर्थः शब्दो वा' इसमें 'वा' का प्रयोग अर्थात्

लोचनम्

विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण । काव्यञ्च तद्विशेषश्चासौ । काव्यस्य वा विशेषः । काव्यग्रहणाद्गुणालङ्कारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षणश्च आत्मेत्युक्तम् । तेनैतन्निरवकाशं श्रुतार्थापत्तावपि ध्वनिव्यवहारः स्यादिति । यच्चोक्तम्-'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यात्मा स्यादिति' तदप्यङ्गीकुर्म एव । नाम्नि खल्वयं विवाद इति । यच्चोक्तम्—'चारुणः प्रतीतिर्यदि काव्यात्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणादपि सा भवन्ती तथा स्यात्' इति । तत्र शब्दार्थमयकाव्यात्माभिधानप्रस्तावे क एष प्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत् । स इति । अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा । अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम् । व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति । कारिकया तु प्राधान्ये समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् ।

विकल्पाभिधान तो प्राधान्य के अभिप्राय से है । काव्य तथा उसकी विशेषता अथवा काव्य की विशेषता । काव्यग्रहण से गुण और अलंकार से उपस्कृत शब्द और अर्थ की पीठ पर आनेवाला ध्वनि लक्षण वाला आत्मा है यह कहा है । इससे यह निरवकाश हो गया कि 'श्रुतार्थापत्ति में भी ध्वनि का व्यवहार हो जावे । और जो कहा है—'तो चारुत्व प्रतीति ही काव्य की आत्मा हो जावे' उसे हम अङ्गीकार करते ही हैं । निस्सन्देह यह नाम में ही विवाद है और जो यह कहा है—यदि चारुत्व की प्रतीति काव्य की आत्मा है तो प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों से भी होनेवाली (वह प्रतीति) वैसी (काव्य की आत्मा) हो जावेगी । उस पर (यह कहना है कि) शब्दार्थमय काव्य की आत्मा के निरूपण के प्रस्ताव में यह प्रसङ्ग ही कौन है ? इस प्रकार यह कोई बात नहीं । स इति । अर्थ अथवा शब्द अथवा व्यापार । अर्थ भी वाच्य भी (हो सकता है) 'जो ध्वनित करता है' इस व्युत्पत्ति से, इसी प्रकार शब्द भी । अथवा व्यंग्य अर्थ 'ध्वन्यते' इस व्युत्पत्ति से अथवा शब्द और अर्थ का व्यापार 'ध्वननम्' इस व्युत्पत्ति से । कारिका के द्वारा तो प्रधानतया काव्यरूप समुदाय ही मुख्यरूप में ध्वनित होता है यह प्रतिपादित किया है ।

तारावती

सारांश यह है कि वाच्यार्थ कारण है और व्यंग्यार्थ कार्य । कार्य प्रधान होता है और कारण अप्रधान । कारण की सत्ता पहले होती है और कार्य की बाद में अतएव 'पहले होने के कारण वाच्यार्थ प्रधान है' यह हेतुविरुद्ध हेत्वाभास का उदाहरण हो जाता है ॥११-१२॥

ध्वनि का परिचय कराना इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन है । १३ वीं कारिका में ध्वनि की परिभाषा दी गई है १२ वीं कारिका तक उसकी भूमिका तैय्यार की गई है । ध्वनि-सिद्धान्त को समझने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वाच्यव्यतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ का 'सद्भाव' समझ लिया जावे । 'सत्' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग होता है—'सद्भावे, साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते' अर्थात् सत् का अर्थ है सत्ता और साधुभाव । यहाँ पर दोनों अर्थों में

तारावती

इस शब्द का प्रयोग किया गया है वाच्यव्यतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ की सत्ता भी बतलाई गई है और उसका साधुभाव अर्थात् प्राधान्य भी बतलाया गया है। लेखक ने पिछले प्रकरण में दोनों के प्रतिपादन की इच्छा की है। अब इस प्रतिपादन का ध्वनि सिद्धान्त से क्या सम्बन्ध है उसका प्रस्तुत प्रकरण में क्या उपयोग है यह बात इस कारिका में बतलाई गई है—"जहाँ पर अर्थ अथवा शब्द, स्वार्थ को उपसर्जन (गौण) बनाकर उस अर्थ को अभिव्यक्त किया करते हैं वह काव्यविशेष विद्वानों के द्वारा ध्वनि नाम से अभिहित किया जाता है।" यहाँ पर 'उस अर्थ को' इस शब्द का जो प्रयोग किया गया है उसी का परिचय पिछले प्रकरण में दिया गया है। इस परिभाषा में 'स्वार्थ शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें द्वन्द्व समास है। 'स्व अर्थात् आत्म स्वरूप और अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ। इनका क्रमशः अन्वय लगता है और इनका अर्थ हो जाता है कि जहाँ पर अर्थ अपनी आत्मा को (अपने को) गौण बना देता है और शब्द जहाँ पर अपने अभिधेयार्थ को गौण बना देता है वहाँ काव्य ध्वनिकाव्य होता है। 'उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं' का आशय यह है कि जिस अर्थ का विवेचन 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' इस कारिका में किया जा चुका है। इस परिभाषा के दो एक शब्दों पर विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता है :—

(१) व्यङ्क्तः—'दोनों अभिव्यक्त करते हैं' में द्विवचन का आशय यह है कि अविवक्षित-वाच्यध्वनि में जहाँ पर अभिव्यक्ति शब्द के आधार पर होती है अर्थ का सहकार भी अपेक्षित होता है क्योंकि वहाँ पर बिना अर्थ ज्ञान के ध्वनि निकल ही नहीं सकती; अन्यथा निरर्थक शब्दों से भी ध्वनि निकलने लगेगी। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य में जहाँ पर अर्थ के आधार पर अभिव्यक्ति होती है, शब्द का सहकार भी अपेक्षित होता है। क्योंकि जबतक वह अर्थ विशिष्ट प्रकार के शब्द से अभिहित नहीं होगा तबतक वह अर्थ व्यञ्जक हो ही नहीं सकता। इस प्रकार ध्वननव्यापार सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का सम्मिलित व्यापार होता है। यही द्विवचन का अभिप्राय है। इस आशय को न समझकर भट्टनायक ने द्विवचन दूषित बतलाया है। यह उनका दोषदर्शन उसी प्रकार का है जैसे कोई हाथी स्वभाव से ही आँखें झपकाया करता है। इसी प्रकार भट्टनायक का स्वभाव ही खण्डन करने का बन गया है। जिस प्रकार हाथी का आँख झपकाना उसकी विचारशीलता का परिचायक नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार भट्टनायक का खण्डन करना भी उनकी विचारशीलता का परिचायक नहीं है। अब यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि द्विवचन का ही प्रयोग करना था तो 'अर्थः शब्दो वा' क्यों लिखा। सीधा 'अर्थशब्दौ' के प्रयोग से काम चल सकता था और तब क्रिया का द्विवचन भी उत्पन्न हो जाता। इसका उत्तर यह है—'अर्थ अथवा शब्द' में अथवा शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि यद्यपि दोनों के सहयोग की सर्वत्र अपेक्षा होती है फिर भी प्रधानता जिसकी होती है ध्वनि उसी की कही जाती है। यही बात काव्यप्रकाश की निम्नलिखित कारिका से व्यक्त होती है—

लोचनम्

विभक्त इति। गुणालङ्काराणां वाच्यवाचकभावप्राणत्वात्। अस्य च तदन्यव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसारत्वान्नास्य तेष्वन्तर्भाव इति। अनन्यत्रभावो विषय-शब्दार्थः। एवं तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरितिनिराकृतम्।

विभक्त इति। गुण और अलङ्कारों का प्राण वाच्यवाचकभाव है और इस का उससे भिन्न व्यंग्य-व्यंञ्जकभाव ही सार होने के कारण इसका उनमें अन्तर्भाव नहीं होता। विषय शब्द का अर्थ है अन्यत्र न होना। इस प्रकार उससे भिन्न यह ध्वनि क्या है, इसका निराकरण हो गया।

तारावती

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता॥

(२) काव्य विशेष–इस शब्द में एक तो समानाधिकरण अर्थात् 'काव्यं च तद्विशेषश्च' दूसरा व्यधिकरण अर्थात् 'काव्यस्य विशेषः'। काव्य और उसकी विशेषता अथवा काव्य की विशेषता ये दोनों अर्थ यहाँ पर हो सकते हैं। आशय यह है कि जिस ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाया गया है वह ऐसे शब्द और अर्थ की पीठ पर आना चाहिये जिनमें गुण भी विद्यमान हों और अलङ्कार भी (तथा जिनमें रीतियों और वृत्तियों का अनुसरण किया गया हो।) काव्य विशेष शब्द के ग्रहण करने का यही आशय है।

कुछ लोगों का कहना है कि जहाँ पर अन्य प्रमाणों के द्वारा किसी अर्थ की प्रमा (यथार्थनुभव) हो जावे और वह किसी अर्थ की कल्पना के बिना उपपन्न नहीं हो रहा हो तो उसकी उपपत्ति के लिये जिस अर्थान्तर की कल्पना की जाती है उसे अर्थापत्ति कहते हैं। शब्द के आधार पर जहाँ इस प्रकार की उपपत्ति सम्पन्न की जाती है उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। यह मीमांसकों का मत है। जैसे मोटा ताजा देवदत्त दिन में नहीं खाता। न खाने और मोटे ताजे होने का सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता क्योंकि जो खावेगा नहीं वह मोटा ताजा होगा कैसे देवदत्त की पीनता से श्रुतार्थापत्ति के द्वारा उसका रात्रिभोजन सिद्ध होता है। ध्वनिवादियों के मत में वहाँ पर भी ध्वनि कही आवेगी। इस विषय में मेरा (लोचनकार का) उत्तर यह है कि जब हम काव्यविशेष को ध्वनि कहते हैं और काव्यविशेष का अर्थ है काव्य और उसकी विशेषता अथवा काव्य की विशेषता अर्थात् गुण और अलङ्कार से उपस्कृत शब्द और अर्थ का अनुसरण करनेवाले काव्य की विशेषता ही ध्वनि कहलाती है और उसे ही काव्य की आत्मा कहते हैं। इस प्रकार श्रुतार्थापत्ति का सन्निवेश ध्वनि में कभी नहीं हो सकता।

दूसरे लोगों ने आक्षेप किया है कि 'यदि ध्वनि का यही रूप है और इसको काव्य की आत्मा मानते हैं तो उसका तो आशय यह हुआ कि चारुता की प्रतीति ही काव्य की आत्मा सिद्ध हो गई।' मेरा निवेदन है कि चारुताप्रतीति को काव्य की आत्मा मानने में मुझे कोई अनुपपत्ति नहीं है। यह तो केवल नामकरण का विवाद है। चाहे आप उसे चारुताप्रतीति

तारावती

कह लीजिये चाहे ध्वनि। कुछ लोगों ने कहा है कि 'यदि चारुता प्रतीति ही काव्य की आत्मा है तो जहाँ पर प्रत्यक्ष इत्यादि के द्वारा हमें सुन्दरता की प्रतीति हो जावे आप उसे भी काव्य कहेंगे।' इस पर मेरा यह कहना है कि जब हम शब्दार्थमय काव्य की आत्मा का निरूपण कर रहे हैं तब प्रत्यक्ष इत्यादि के द्वारा सुन्दरता प्रतीति को काव्य की आत्मा कहने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(३) सः ध्वनिरिति। यहाँ पर ध्वनि शब्द का पूर्वोक्त तीनों अर्थों में प्रयोग हुआ है। ध्वनि के अन्दर अर्थ भी आ जाता है, शब्द भी और व्यापार भी। अर्थ भी वाच्य और व्यंग्य दोनों प्रकार का आता है। जब हम इसको व्युत्पत्ति 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस प्रकार कर्तृवाच्य में करते हैं तब उसका अर्थ हो जाता है वाच्यार्थ। शब्द का समावेश भी इसी व्युत्पत्ति में हो जाता है। जब 'ध्वन्यते' यह कर्मवाच्य में व्याख्या की जाती है तब इसका अर्थ हो जाता है व्यंग्यार्थ। जब ल्युट् प्रत्यय के द्वारा व्युत्पत्ति की जाती है 'ध्वननमिति' तब इसका अर्थ हो जाता है शब्द और अर्थ का व्यापार। इन सबका समुदाय ही प्रधान होने के कारण काव्यरूप होता है और उसी को मुख्यरूप में ध्वनि कहते हैं' यह बात इस कारिका में बतलाई गई है। आशय यह है कि काव्य में शब्द भी होता है वाच्यार्थ भी होता है व्यंग्यार्थ भी होता है; शब्द और वाच्यार्थ के गुण तथा अलङ्कार (रीति और वृत्ति) भी होते हैं और व्यञ्जना व्यापार भी होता है। इन सबका समूह ही मुख्य काव्य कहा जाता है। इसी को ध्वनि कहते हैं। समुदाय को बनानेवाले पृथक् तत्त्वों की अपेक्षा समुदाय की प्रधानता होती है और उसमें भी अन्य तत्त्व व्यञ्जक होते हैं जिनका सहारा लेकर व्यंग्यार्थ प्रवृत्त हुआ करता है। व्यंग्यार्थ ही प्रधान होकर ध्वनि का रूप धारण करता है। 'मुख्यरूप में काव्य कहा जाता है' में मुख्य शब्द का अर्थ यह है कि काव्यत्व अन्यत्र भी हो सकता है किन्तु अन्य प्रकार का काव्य अमुख्य ही कहा जावेगा।

ऊपर व्यंग्यार्थ की सत्ता, उसकी प्रधानता और ध्वनि के स्वरूप का विवेचन किया जा चुका। अब उन पक्षों पर क्रमशः विचार किया जा रहा है जो कि ग्रन्थारम्भ में ध्वनि का खण्डन करने के लिये दिखलाये गये थे। अभाववादियों के प्रथम पक्ष का कहना था कि— "शब्द और अर्थ काव्य के शरीर होते हैं, शब्दगत चारुता अनुप्रास इत्यादि के नाम से प्रसिद्ध है और अर्थगत चारुता उपमा इत्यादि होती है, इसी प्रकार संघटनाधर्म माधुर्य इत्यादि तथा उनसे सम्बन्धित वृत्तियाँ और रीतियाँ भी हैं। उनसे भिन्न ध्वनि नाम की यह कौन सी नई बला है?" इस प्रथम पक्ष का निराकरण तो ध्वनि की प्रस्तुत परिभाषा द्वारा ही हो गया। उपर्युक्त विवेचन से यह बात सिद्ध हो गई कि वाच्यार्थ की चारुता में हेतु उपमा इत्यादि और वाचक की चारुता में हेतु अनुप्रास इत्यादि से इस ध्वनि का विषय भिन्न है। कारण यह है कि गुण और अलङ्कारों का प्राण वाच्य और वाचक ही होते हैं किन्तु ध्वनि का प्राण व्यंग्य और व्यंजक हैं। यह दोनों में भेद है। इस प्रकार ध्वनिविरोधियों के प्रथम पक्ष का निराकरण

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तम्—'प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वनिर्नास्ति' इति, तदप्युक्तम् । यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम् । ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः ।

(अनु०) जो यह भी कहा गया था कि 'प्रसिद्ध प्रस्थान का अतिक्रमण करनेवाले मार्ग में काव्यत्व होता ही नहीं; अतएव ध्वनि की सत्ता होती नहीं ।' यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि ध्वनि केवल लक्षणकारों में ही प्रसिद्ध नहीं है; लक्ष्य परीक्षा करने पर वही सहृदयों के हृदय को आनन्द देनेवाला काव्यतत्त्व है । इसके अतिरिक्त अन्य सब चित्रकाव्य ही कहा जाता है, यह आगे चलकर फिर बतलाया जावेगा ।

लोचनम्

लक्षणकृतामेवेति । लक्षणकाराप्रसिद्धता विरुद्धो हेतुः । तत एव हि यत्नेन लक्षणीयता । लक्ष्ये त्वप्रसिद्धत्वमसिद्धो हेतुः । यच्च नृत्तगीतादिकल्पं तत्काव्यस्य न किञ्चित् । चित्रमिति—विस्मयकृद्वृत्तादिवशात्, न तु सहृदयाभिलषणीयचमत्कारसाररसनिःष्यन्दमयमित्यर्थः । काव्यानुकारित्वाद्वा चित्रम्, आलेखमात्रत्वाद्वा, कलामात्रत्वाद्वा । अग्र इति ।

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थितम् ।
द्विधा काव्यं ततोन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥

इति तृतीयोद्योते वक्ष्यति ।

लक्षणकृतामेवेति । लक्षणकारों में प्रसिद्ध होना विरुद्ध हेतु है । इसीलिये निस्सदेह प्रयत्नपूर्वक लक्षण करना आवश्यक है । लक्ष्य में तो अप्रसिद्ध होना असिद्धहेतु है और जो नृत्तगीत इत्यादि के समान है वह काव्य का कुछ नहीं होता । चित्रमिति । विस्मयकारक वृत्त (छन्द) इत्यादि के कारण (चित्रकाव्य) सहृदयों के द्वारा अभिलषणीय चमत्कार-सार रस के निष्यन्द से युक्त नहीं होता । अथवा काव्य का अनुकरण करने के कारण चित्र कहलाता है या आलेखमात्र होने के कारण या कलामात्र होने के कारण । अग्रे इति ।

'व्यंग्य के प्रधान तथा गुण भाव से इस प्रकार दो प्रकार का काव्य व्यवस्थित है; उससे भिन्न जो है वह चित्र कहा जाता है ।' यह तृतीय उद्योत में कहेंगे ।

तारावती

हो गया । आलोककार ने 'विभक्त एव ध्वनेर्विषयः' इस वाक्य में जो विषय शब्द का प्रयोग किया है उसका अर्थ है—'विशेषेण सिनोति बध्नातीति विषयः' अर्थात् जो अपने सम्बन्धी पदार्थ को विशेष रूप से आवद्ध कर ले अर्थात् अन्यत्र न होना ही विषय शब्द का अर्थ है । आशय यह है कि ध्वनि का अपना स्वतन्त्र क्षेत्र है उससे भिन्न स्थानों पर ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता । अतएव ध्वनि उपमा अनुप्रास इत्यादि से भिन्न है ।

तारावती

अब अभाववादियों का दूसरा पक्ष लीजिये– इन लोगों का यह कहना था कि 'गुण अलङ्कार रीति वृत्ति इत्यादि अलङ्कारशास्त्र के प्रसिद्ध प्रस्थान के अतिरिक्त काव्य हो ही नहीं सकता।' किन्तु इन लोगों का विचार भी ठीक नहीं क्योंकि ध्वनि केवल लक्षणकारों में ही प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु जब हम रामायण महाभारत प्रभृति लक्ष्यग्रन्थों की परीक्षा करते हैं तब हमें मालूम पड़ता है कि वही ध्वनि सहृदयों के हृदयों में आह्लाद उत्पन्न करनेवाला काव्य का तत्त्व है। विरोधियों ने जो प्रसिद्ध प्रस्थानातिक्रम की बात कही है उसकी दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है--(१) ध्वनि का लक्षण नहीं बनाना चाहिये क्योंकि लक्षणकारों ने उसे बनाया नहीं है। (२) ध्वनि का लक्षण नहीं बनाना चाहिये क्योंकि लक्ष्यग्रन्थों में वह उपलब्ध नहीं होता। प्रथम तर्क में विरुद्ध हेत्वाभास है। लक्षणकारों ने लक्षण नहीं किया है इसीलिए तो उसके लक्षण बनाने की आवश्यकता है। दूसरे तर्क में असिद्ध हेत्वाभास है। रामायण महाभारत प्रभृति सभी लक्ष्यग्रन्थों में उसका अस्तित्व पाया जाता है। अतः लक्ष्यग्रन्थों में न मिलनारूप हेतु स्वरूपतः असिद्ध है। इन विरोधियों ने यह भी कहा था कि जिस प्रकार नाटक में नृत्य गीत इत्यादि के द्वारा रससृष्टि की जाती है किन्तु उनका काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार यह ध्वनि भी कोई ऐसी वस्तु है जिसका सम्बन्ध काव्य से किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता तो वह काव्य की आत्मा किसी प्रकार नहीं कही जा सकती।' इस कथन को सुनकर भी हँसी आती है। नृत्यगीत इत्यादि तो रससृष्टि के सहायक-मात्र होते हैं काव्य से उनका कोई सम्बन्ध होता ही नहीं। किन्तु यह बात ध्वनि के विषय में नहीं कही जा सकती, क्योंकि ध्वनि तो काव्य का सर्वस्व है।

जहाँ पर ध्वनि नहीं होती वहाँ पर मुख्य काव्य न होकर चित्रकाव्यमात्र रह जाता है। आशय यह है कि काव्य का प्रभाव दो प्रकार का देखा जाता है—एक तो काव्य को सुनकर पढ़कर या अभिनय देखकर परिशीलक रसमग्न हो जाता है, अपनी परिमित प्रमातृसत्ता भुला-कर आनन्दमय जगदात्मा से एकाकार हो जाता है और अपने को उस परिस्थिति में खो देता है। दूसरा काव्य ऐसा होता है कि जिसको पढ़कर केवल विस्मय की अनुभूति होकर रह जाती है। कवि जिन अलौकिक शब्दों तथा अर्थों का उपादान करता है वे हमारे अन्दर कौतूहलमात्र जागृत कर देते हैं, उनमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वे हमें आनन्दविभोर कर हमारी सत्ता पर अधिकार कर सकें। उनमें शब्द भी विचित्र होते हैं, अर्थ भी विचित्र होते हैं और उनकी संघटना भी विचित्र होती है। अतः उन्हें हम चित्रकाव्य तो कह सकते हैं मुख्यकाव्य नहीं क्योंकि वे मुख्यकाव्य के समान ऐसे प्रवाह को बहानेवाले नहीं होते जिसकी आकांक्षा सहृदय लोग किया करते हैं और जो चमत्कार का सार होता है। उन्हें हम चित्रकाव्य या तो इसलिये कहते हैं कि काव्य के समान ही उनमें भी शब्द और अर्थ का प्रयोग होता है, या इसलिये कहते हैं कि उनमें भी विष्णु इत्यादि का चित्रण होता है, या कला की

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तम्—'कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादिष्वेवान्तर्भावः' इति, तदप्यसमीचीनम् ; वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः ? वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः; स त्वङ्गिरूप एवेतिप्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । परिकरश्लोकश्चात्र-

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः ॥

(अनु०) जो यह कहा गया था कि 'ध्वनि कमनीयता का अतिक्रमण नहीं करती अर्थात् ध्वनि के द्वारा कमनीयता की ही प्रतीति होती है । अतएव ध्वनि का समावेश उक्त अलङ्कारादिकों में ही हो जाता है' यह कथन भी समीचीन नहीं है । क्योंकि केवल वाच्य और वाचक का आश्रय लेनेवाले प्रसिद्ध काव्य प्रस्थान (गुण अलङ्कार इत्यादि मार्ग) में व्यंग्य और व्यञ्जक के आश्रय से व्यवस्थित होनेवाली ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? यह आगे चलकर प्रतिपादित किया जावेगा कि वाच्य वाचक की चारुता में हेतु अलङ्कार इत्यादि उस ध्वनि के अङ्ग होते हैं और ध्वनि अङ्गी होता है । इस विषय में परिकर श्लोक भी है—

ध्वनि के व्यंग्य-व्यन्जक सम्बन्ध के आधीन होने के कारण वाच्यपाचकचारुत्व हेतुओं (अलङ्कारादिकों) में उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ?

लोचनम्

परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः ।

परिकर के लिये अर्थात् कारिका के अर्थ की अधिकता की प्राप्ति के लिये श्लोक परिकर श्लोक होता है ।

तारावती

प्रधानता होने से उन्हें हम चित्रकाव्य कहते हैं । इस सबका विस्तृत विवेचन तीसरे उद्योत की ४१ वीं कारिका (प्रधानगुणभावाभ्यां०) की व्याख्या के अवसर पर किया जावेगा ।

अब तीसरा पक्ष लीजिये—इन लोगों का कहना था कि यदि ध्वनि को चारुता का हेतु मान भी लें और वह शब्द, अर्थ, गुण, और अलङ्कारों के अन्तर्गत सिद्ध भी हो जावे तो भी ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती । ध्वनि भी चारुताहेतुओं में एक है । अतएव चारुताहेतु अलङ्कार गुण रीति और वृत्तिरूप प्रसिद्ध प्रस्थान में उसका भी समावेश कर देना चाहिये ।' किन्तु यह मत समीचीन नहीं है । प्रसिद्ध प्रस्थान तो केवल शब्द और अर्थ का ही सहारा लेकर स्थित होता है उस स्थान में ध्वनि का समावेश कैसे हो सकता है जिसका आधार व्यंग्यार्थ होता है और जिसमें पद वाक्य इत्यादि अनेक प्रकार के व्यन्जकों का समावेश रहता है । जब आश्रय ही भिन्न है तब दोनों का एकीकरण कैसे हो सकता है ? वास्तविकता तो यह है कि वाच्य और वाचक की चारुता में हेतु जो प्रसिद्ध प्रस्थान है वह

तारावती

तो ध्वनि का उपकारकमात्र होता है। अतएव वह गुण अलङ्कार इत्यादि काव्य का मार्ग ध्वनि का अङ्ग ही होता है। अङ्गी अथवा प्रधान ध्वनि ही होती है। इसका विस्तृत विवेचन आगे चलकर किया जावेगा।

यहाँ पर आलोककार ने एक परिकर श्लोक भी दिया है। परिकर शब्द का अर्थ है—परिकरोति प्रकृतार्थमधिकाधानेनोपकरोतीति परिकरः' अर्थात् प्रकृत अर्थ में अधिकता का आधानकर जो उसका उपकार करता है उसे परिकर कहते हैं। परिकर के लिए अर्थात् कारिका के उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो अर्थ अपेक्षित होता है किन्तु कारिका में उसका कथन नहीं किया गया होता उसका अवाप अर्थात् प्रक्षेप करने के लिये जो श्लोक होता है उसे परिकर श्लोक कहते हैं। यहाँ पर जो परिकर श्लोक लिखा गया है उसका आशय यह है—ध्वनि व्यंग्य और व्यञ्जक के सम्बन्ध से निबद्ध होती है। अतः वाच्य और वाचक के आधार पर होनेवाले गुण और अलङ्काररूप चारुता के हेतुओं में उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है?'

(यहाँ पर कहने का आशय यही है कि ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कार में नहीं हो सकता। इस विषय में द्वितीय उद्योत की ५ वीं कारिका पर लोचन के ये विचार द्रष्टव्य हैं--'कटक केयूर इत्यादि यद्यपि शरीर से ही समवेत रहते हैं तथापि उनसे विभिन्न चित्तवृत्तियों के औचित्य की सूचना मिलती है। अतएव चेतन आत्मा ही अलङ्कार्य होता है। वह इस प्रकार--कुण्डल इत्यादि से उपेत भी शवशरीर अचेतन होने के कारण शोभित नहीं होता क्योंकि वहाँ अलङ्कार्य है ही नहीं। कटक इत्यादि से युक्त यतिशरीर हास्यावह हो जाता है क्योंकि अलङ्कार्य अनुचित है। शरीर का तो कुछ भी अनौचित्य नहीं होता। अतएव वस्तुतः आत्मा ही अलङ्कार्य होता है। क्योंकि यह अभिमान होता है कि मैं अलंकृत हूँ।' इसी प्रकार एकावली में गुण और अलङ्कार में ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रतिषेध किया गया है। रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व में भी व्यंग्यार्थ की ही आत्मरूपता प्रतिपादित की है और उसपर जयरथ ने टीका करते हुए लिखा है—'गुणों के विषय में 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः' और अलङ्कारों के विषय में 'उपकुर्वन्ति तं सन्तम्' इत्यादि नीति अपनाई गई है। इस प्रकार शब्दार्थरूप अङ्ग में अतिशयता के आधान के द्वारा गुणों और अलङ्कारों की रसोपस्कारकता होती है। रसादिरूप व्यंग्य अर्थ को अलंकृत करनेवाले अलङ्कारों की अलङ्कारता मुख्य वृत्ति से होती है। क्योंकि उनका निबन्धन अलङ्कार्य की सत्ता के आधीन होता है। क्योंकि अलङ्कार्य के रूप में व्यंग्य रसाद्यात्मा की ही प्रतिष्ठा की गई है। इत्यादि)

व्यंग्यार्थ की दृष्टि से अलङ्कार दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे अलङ्कार होते हैं जिनमें व्यंग्यार्थ की स्पष्ट तथा सुन्दर प्रतीति होती है और दूसरे वे अलङ्कार होते हैं जिनमें व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती। ऐसे अलङ्कार केवल व्यंग्यार्थ को उपस्कृत करनेवाले होते हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिन उपमा इत्यादि अलङ्कारों में व्यंग्यार्थ की विशद प्रतीति

ध्वन्यालोकः

ननु यत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम माभूद्ध्वनेर्विषयः। यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालङ्कारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यतीत्यादि निराकर्तुमभिहितम्—'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति। अर्थो गुणीकृतात्मा गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति। तेषु कथं तस्यान्तर्भावः। व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः। न चैतत्समासोक्त्यादिष्वस्ति।

(अनु०) जिन अलङ्कार इत्यादिकों में प्रतीयमान अर्थ की विशदतापूर्वक प्रतीति नहीं होती हम नहीं कहते कि वे अलङ्कार इत्यादि ध्वनि का विषय हो सकते हैं किन्तु जहाँ पर प्रतीयमान अर्थ प्रतीत होता है जैसे समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक और सङ्कर इत्यादि अलङ्कारों में, वहाँ पर ध्वनि का अन्तर्भाव हो जावेगा। इसी का निराकरण करने के लिये कहा गया 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ'। जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को और शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है वह ध्वनि होती है। अतएव उन (वाच्यप्रधान) अलंकारों में (व्यंग्यप्रधान) ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है? निस्सन्देह ध्वनि वहीं होती है जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है। किन्तु यह बात समासोक्ति इत्यादि में होती नहीं।

लोचनम्

यत्रेत्यलङ्कारे। वैशद्येनेति। चारुतया स्फुटतया चेत्यर्थः। अभिहितमिति भूतप्रयोग आदौ व्यङ्क्त इत्यस्य व्याख्यातत्वात्।

यत्र का अर्थ है अलङ्कार में। वैशद्येन का अर्थ है चारुता तथा स्फुटता के साथ। 'अभिहितम्' में भूतकाल का प्रयोग पहले 'व्यङ्क्तः' की व्याख्या किये जाने के कारण (किया गया है।)

तारावती

नहीं होती, हम नहीं कहते कि उन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव मान लिया जावे। किन्तु जिन अलङ्कारों में प्रतीयमान अर्थ की स्पष्ट प्रतीत होती है जैसे समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक सङ्कर इत्यादि। इन अलकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव सफलतापूर्वक किया जा सकता है। मेरा निवेदन है कि शंका के निराकरण के उद्देश्य से कहा जा चुका है कि जहाँ पर अर्थ अथवा शब्द दोनों अपनी आत्मा और अपने अर्थ को उपसर्जन (गौण) बना देते हैं......' 'वहाँ पर ध्वनि होती है।' अर्थ अपनी आत्मा को गौण बना देता है और शब्द अपने अर्थ को गौण बना देता है, इस अवस्था में अर्थ अथवा शब्द दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है तब उसे ध्वनि कहते हैं। ऐसी दशा में अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है?

लोचनम्

गुणीकृतात्मेति—आत्मेत्यनेन स्वशब्दस्यार्थो व्याख्यातः । न चैतदिति । व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यम् । प्राधान्यञ्च यद्यपि ज्ञप्तौ न चकास्ति 'बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां' इति नयेनाखण्डचर्वणाविश्रान्तेः, तथापि विवेचकैर्जीवितान्वेषणे क्रियमाणे यदा व्यङ्ग्योऽर्थः पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव । ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताच्चमत्कारलाभ इति । यद्यपि पर्यन्ते रसध्वनिरस्ति, तथापि मध्यकक्षानिविष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थो न रसोन्मुखीभवति स्वातन्त्र्येणापि तु वाच्यमेवार्थं संस्कर्तुं धावतीति गुणीभूतव्यङ्ग्यतोक्ता ।

गुणीकृतात्मा में आत्मा शब्द से स्वशब्द के अर्थ की व्याख्या की गई है। नचैतदिति। अर्थात् व्यङ्ग्य का प्राधान्य। प्राधान्य यद्यपि ज्ञप्ति (रसप्रतीति) के अवसर पर प्रकाशित नहीं होता क्योंकि कहा गया है कि 'तत्वावभासिनी बुद्धि में …' इत्यादि नीति से अखण्ड चर्वणा में ही विश्रान्ति होती है, तथापि विवेचकों द्वारा जीवित का अन्वेषण किये जाने पर जब व्यंग्य अर्थ वाच्य का ही अनुप्राणन कर रहा होता है तब उसके उपकरण होने के कारण ही उसका अलङ्कारत्व सिद्ध होता है। तब उससे उपस्कृत हुये वाच्य से ही चमत्कार का लाभ होता है। यद्यपि पर्यन्त में रसध्वनि होती है तथापि मध्य कक्षा में निविष्ट यह व्यंग्य अर्थ रसोन्मुख नहीं होता स्वतन्त्रतापूर्वक वाच्य अर्थ का ही संस्कार करने के लिये दौड़ता है, इस प्रकार इसकी गुणभूतता कही गई है।

तारावती

अलङ्कारों में जहाँ कहीं व्यंग्यार्थ होता है वहाँ वह वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण स्थान का अधिकारी होता है और ध्वनि में व्यंग्यार्थ प्रधान होता है। यही व्यञ्जनामूलक अलङ्कारों में ध्वनि काव्य से भेद है। ऊपर 'कहा जा चुका है' इस वाक्य में भूतकाल का प्रयोग किया गया है इसका कारण यह है कि यह बात पिछली कारिका में कही गई है। कारिका में 'स्व' शब्द का प्रयोग किया गया था जिसकी व्याख्या यहाँ आत्मा शब्द से की गई।

यद्यपि रसास्वादन के अवसर पर प्रधानता का पता नहीं चलता; क्योंकि पहले ही बतलाया जा चुका है कि 'तत्त्वद्योतिनी बुद्धि में उस अर्थ की प्रतीति एकदम हो जाती है जिससे किसी भी काव्य का पर्यवसान अखण्ड चर्वणा में ही होता है। और उसमें पौर्वापर्य का कुछ भी अनुभव नहीं होता तथापि जब विवेचक लोग काव्य के जीवन का अन्वेषण करते हैं तब उन्हें मालूम पड़ता है कि जहाँ पर व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ को अनुप्राणित करता है वहाँ पर व्यंग्य के वाच्यार्थ के साधक होने के कारण समासोक्ति इत्यादि अलङ्कार हुआ करता है। क्योंकि वहाँ पर वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ से उपस्कृत होकर चमत्कार में कारण हुआ करता है। यद्यपि पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है किन्तु वह व्यंग्यार्थ मध्यकक्षा में सन्निविष्ट हो चुका होता है। अतः वह रसध्वनि की सहायता के लिये उन्मुख नहीं हो सकता। किन्तु स्वतन्त्रतापूर्वक

ध्वन्यालोकः

समासोक्तौ तावत्—

उपोढरागेण विलोलतारकं, तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया, पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगत वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते समारोपितः । नायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् ॥

(अनु०) समासोक्ति में तो :—

'परिवृद्ध राग (लाली अथवा प्रेम) से परिपूर्ण चन्द्र ने विलोल तारामों (नक्षत्रों अथवा पुतलियों) वाले रजनी के मुख (प्रारम्भ अर्थात् प्रदोष अथवा मुख) इस प्रकार पकड़ लिया कि रागवश (लाली के कारण अथवा प्रेम के कारण) उसका (नायिकारूपी रात्रि का) तिमिर रूपी वस्त्र सामने ही गिर गया किन्तु वह जान भी न सकी ।'

इत्यादि वाक्यों में व्यंग्यार्थ से अनुगत होकर प्रधानतया वाच्यार्थ की ही प्रतीति होती है । क्योंकि यहाँ पर वाच्यार्थ रात्रि तथा चन्द्रपरक ही है जिन पर नायक और नायिका के व्यवहार का आरोप कर लिया गया है।

लोचनम्

समासोक्ताविति ।

यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानैर्विशेषणैः ।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः ॥

इत्यत्र समासोक्तेर्लक्षणस्वरूपं हेतुर्नाम तन्निर्वचनमिति पादचतुष्टयेन

समासोक्ताविति । 'जिस उक्ति में उसके समान विशेषणों के आधार पर अन्य अर्थ अवगत होता है; संक्षिप्त अर्थ होने पर विद्वान् लोग उसे समासोक्ति कहते हैं ।'

यहाँ पर समासोक्ति का लक्षण स्वरूप, हेतु, नाम और उसका निर्वचन यह चार पादों में

तारावती

वाच्यार्थ के संस्कार की ओर ही दौड़ता है। इस प्रकार अलङ्कारों में आने वाला व्यंग्यार्थ गुणीभूत व्यंग्य की सीमा में आता है; ध्वनि काव्य के क्षेत्र में नहीं आता । इस विषय में रसगङ्गाधरकार का कहना है कि 'ध्वनिकार से पहले भामह भट्टोद्भट इत्यादि ने ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया, केवल इतने से ही यह सिद्ध नहीं होता कि उन आचार्यों को ध्वनिसिद्धान्त मान्य नहीं है। क्योंकि कितने ही गुणीभूतव्यंग्य के भेद तो समासोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा इत्यादि से गतार्थ हो जाते हैं और जितना व्यंग्यप्रपञ्च है वह पर्यायोक्त की कुक्षि में निविष्ट हो जाता है । अनुभव सिद्ध अर्थ का अपलाप कोई बालक भी नहीं कर सकता । उनके ध्वनि शब्द का व्यवहार न करने से ही उनका अनङ्गीकार व्यक्त

लोचनम्

क्रमादुक्तम् । उपोढो रागः सान्ध्योऽरुणिमा प्रेम च येन । विलोलास्तारकाः ज्योतींषि नेत्रविभागाश्च यत्र । तथेति । झटित्येव प्रेमरभसेन च । गृहीतमाभासित परिचुम्बितुमाक्रान्तं च । निशाया मुखं प्रारम्भो वदनकोकनदं चेति । यथेति । झटितिग्रहणेन प्रेमरभसेन च । तिमिरं चांशुकाश्च सूक्ष्मांशवस्तिमिरांशुकं रश्मिशबलीकृतं तमःपटलं तिमिरांशुकं नीलजालिका नवोढाप्रौढवधूचिता । रागाद्रक्तत्वात् सान्ध्यकृतादनन्तरं प्रेमरूपाच्च हेतोः । पुरोऽपि पूर्वस्यां दिशि अग्रे च गलितं प्रशान्तं पतितं च । तया करणभूतया समस्तं मिश्रितम्, उपलक्षणत्वेन वा । न लक्षितं रात्रिप्रारम्भोऽसाविति न ज्ञातं, तिमिरसंवलितांशुदर्शने हि रात्रिमुखमिति लोकेन लक्ष्यते न तु स्फुट आलोके । नायिकापक्षे तु तयेति कर्तृपदम् । रात्रिपक्षे तु अपिशब्दो लक्षितमित्यस्यानन्तरः। अत्र च नायकेन पश्चादागतेन चुम्बनोपक्रमे पुरो नीलांशुकस्य गलनं पतनम् । यदि वा पुरोऽग्रे 'नायकेन तथा—गृहीतं मुखमिति सम्बन्धः । तेनात्र व्यङ्ग्ये प्रतीतेऽपि न प्राधान्यम् । तथाहि—नायकव्यवहारो निशाशशिनावेव शृङ्गारविभावरूपौ संस्कुर्वाणोऽलङ्कारतां भजते, ततस्तु वाच्याद्विभावीभूताद्रसनि-

क्रमशः कहा गया है । उपोढ (परिवृद्ध) राग अर्थात् सान्ध्य अरुणिमा अथवा प्रेम है जिसके द्वारा । विलोल (चञ्चल) हैं तारक अर्थात् तारे अथवा नेत्रविभाग जिसमें । तथा अर्थात् शीघ्र ही अथवा प्रेम की उत्सुकता में । गृहीत अर्थात् प्रकाशित कर दिया अथवा चुम्बन के लिये आक्रान्त कर लिया । निशा का मुख अर्थात् प्रारम्भ अथवा मुख कमल । यथा अर्थात् शीघ्र ही ग्रहण के द्वारा अथवा प्रेम की शीघ्रता से । तिमिर और अंशुक अर्थात् सूक्ष्म किरणें अर्थात् किरण-जाल से चित्रित किया हुआ तमःपटल अथवा तिमिरांशुक अर्थात् नवोढा प्रौढवधू के योग्य नील जालिका (कामशास्त्र में प्रसिद्ध नीलवर्ण का वस्त्र) 'रागात्' अर्थात् सन्ध्याकाल की की हुई लाली के अनन्तर अथवा प्रेमरूप हेतु से । 'पुरोऽपि' अर्थात् पूर्व दिशा में और आगे । 'गलितम्' अर्थात् प्रशान्त अथवा पतित । 'तया' अर्थात् करणभूतरात्रि के द्वारा मिलाया हुआ अथवा उपलक्षण के रूप में । 'न लक्षित' यह रात्रि का प्रारम्भ है यह नहीं जान पाया । तिमिर से संवलित किरणों को देखने से लोक के द्वारा रात्रिमुख है यह लक्षित कर लिया जाता है स्फुट आलोक में लक्षित नहीं किया जा सकता । नायिका के पक्ष में 'तया' यह कर्तृपद है, रात्रिपक्ष में तो 'अपि' शब्द लक्षित इसके बाद आवेगा । यहाँ पर पीछे से आये हुये नायक के द्वारा चुम्बन के उपक्रम में सामने नीलांशुक का पतन अर्थात् गिरना । अथवा 'पुरः' अर्थात् 'आगे नायक ने इस प्रकार मुख पकड़ लिया' यह सम्बन्ध है । इससे यहाँ पर व्यंग्य की प्रतीति में अप्रधानता नहीं होती । वह इस प्रकार—नायक का व्यवहार शृङ्गाररस के विभाव रात्रि और चन्द्र का ही संस्कार करते हुए अलङ्कारत्व को प्राप्त होता है और उससे विभाव रूप में स्थित

लोचनम्

ष्यन्दः । यस्तु व्याचष्टे—'तया निशयेति कर्तृपदं, न चाचेतनायाः कर्तृत्वमुपपन्नमिति शब्देनैवात्र नायकव्यवहार उन्नीतोऽभिधेय एव न व्यङ्ग्य इत्यत एव समासोक्तिः, इति । स प्रकृतमेव ग्रन्थार्थमत्यजद्व्यङ्ग्येनानुगतमिति । एकदेशविवर्ति चेत्थं रूपकं स्यात्, 'राजहंसैर्वीज्यन्त शरदैव सरोनृपाः' इतिवत् । न तु समासोक्तिः, तुल्यविशेषणाभावात् । गम्यत इति चानेनाभिधाव्यापारनिरासादित्यलमवान्तरेण बहुना । नायिकाया नायके यो व्यवहारः स निशायां समारोपितः, नायिकायां नायकस्य यो व्यवहारः स शशिनि समारोपित इति व्याख्याने नैकशेषप्रसङ्गः ।

वाच्य से रस प्रवाहित होता है । जिसने तो यह व्याख्या की—'तया' अर्थात् निशा के द्वारा यह कर्तृपद हैं; अचेतन रात्रि का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता; इस प्रकार शब्द से ही नायक के व्यवहार का उन्नयन होता है अतः वह अभिधेय ही है व्यंग्य नहीं; इसी से यहाँ पर समासोक्ति है ।' उसने तो 'व्यंग्य से अनुगत' इस प्रकृत ग्रन्थ को ही छोड़ दिया। इस प्रकार तो एकदेशविवर्ति रूपक हो जावेगा । जैसे—'सरोवररूपी नृपों पर शरत् ही राजहंसों से पंखा झल रही थी' । समासोक्ति तो नहीं होगी क्योंकि तुल्य विशेषण नहीं है । 'गम्यते' इस (भामह के) शब्द के द्वारा ही अभिधाव्यापार का निराकरण हो जाता है । अस्तु, अवान्तर बहुत विस्तार की क्या आवश्यकता ? नायिका का नायक में जो व्यवहार है वह निशा में आरोपित कर लिया गया है; नायिका में नायक का जो व्यवहार है वह चन्द्रमा में आरोपित कर लिया गया है । इस प्रकार एकशेष का प्रसङ्ग नहीं आता ।

तारावती

नहीं होता । यह दूसरा विचार है कि अलंकार्य ध्वनि प्राधान्य के कारण पर्यायोक्त की कुक्षि में कैसे निविष्ट हो सकती है ?' रुय्यक ने अलङ्कार सर्वस्व में भी लिखा है कि 'पुराने आचार्य प्रतीयमान अर्थ को वाच्योपस्कारक होने के कारण अलङ्कारपक्षनिक्षिप्त ही मानते हैं । पर्यायोक्त इत्यादि में प्रतीयमान वस्तु के दो भेद किये गये हैं—'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्' रुद्रट ने भी भावालङ्कार दो ही प्रकार का माना है । रूपक इत्यादि में उपमा वाच्योपस्कारक होती है । उत्प्रेक्षा प्रतीयमाना कही ही गई है । रसवत् इत्यादि में रस भाव इत्यादि को वाच्यशोभाकारक कहा ही गया है । इस प्रकार तीनों ही प्रतीयमान अर्थ अलङ्कार हो सकते हैं ।' प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भटपक्षवालों का मत बहुत ही विशद रूप में प्रस्तुत किया है । उसका सार यह है कि जहाँ प्रतीयमानवस्तु वाच्योपस्कारक होती है वहाँ तो वह अलङ्कार होती ही है जहाँ वह प्रधान भी होती है वहाँ भी गुणों के सौन्दर्य में हेतु होने के कारण अलङ्कार कही जा सकती है । प्रतीयमान अलङ्कार या तो पर्यायोक्त से गतार्थ हो जाते हैं या उनकी प्रतीयमानता भी स्वीकार की जा सकती है । प्रधानीभूत रसादि की प्रतीयमानता में रसवत् इत्यादि अलंकार कहे गये हैं और उनकी गौणता में उदात्त अलंकार बतलाया गया

तारावती

है। इस प्रकार सभी प्रतीयमान अर्थ अलंकार की कोटि में आ जाते हैं। इसी पूर्वपक्ष को लेकर यहाँ विचार किया जा रहा है।

पहले समासोक्ति को ही ले लीजिये। समासोक्ति का अर्थ है संक्षिप्तकथन। सादृश्यमूलक अलंकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का कथन किया जाता है। किन्तु जब एक को ही कहकर दोनों का काम चलाया जाता है तब उक्ति को संक्षिप्त करने के कारण उसे समासोक्ति कहते हैं। भामह ने समासोक्ति का लक्षण इस प्रकार लिखा है—'जिस कथन में समान विशेषणों के कारण अन्य अर्थ की प्रतीति हो उसे अर्थ के संक्षिप्त करने के कारण विद्वान् लोग समासोक्ति कहते हैं।'' इस परिभाषा में चार चरणों में लक्षण की चार बातें बतलाई गई हैं। 'जिस उक्ति में अन्य अर्थ की प्रतीति हो' यह लक्षण का स्वरूप बतलाया गया है। 'समान विशेषणों के होने से' यह हेतु है। 'वह समासोक्ति कही जाती है' यह नाम और 'अर्थ के संक्षिप्त होने के कारण' यह समासोक्ति शब्द की व्युत्पत्ति है। सभासोक्ति में प्रस्तुत का वर्णन ऐसे ही शब्दों में किया जाता है जिनसे एक दूसरा अप्रस्तुत अर्थ स्वतः अवभासित होने लगता है और उस प्रतीयमान अप्रस्तुत अर्थ के साथ प्रस्तुत अर्थ का उपमानोपमेय भाव बन जाता है। इसीलिये साहित्यदर्पणकार ने समासोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥१०-७८॥

अर्थात् 'जहाँ पर समान कार्य, लिङ्ग अथवा विशेषणों से प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप किया जाता है उसे समासोक्ति कहते हैं।'

समासोक्ति का जो उदाहरण दिया गया है उसका शब्दानुवाद यह है :—

'परिवृद्धरागवाले चन्द्र ने विलोलताराओंवाले निशामुख को इस प्रकार पकड़ लिया कि उससे मिलाया हुआ पुरतः गलित हुआ भी, तिमिरांशुक उससे लक्षित न किया जा सका।'

यहाँ पर परिवृद्धराग, विलोल ताराओंवाले, इस प्रकार, पकड़ लिया, निशामुख, कि (यथा), तिमिरांशुक, पुरतः रागवश, गलित हुआ, और उससे लक्षित न किया जा सका इन शब्दों का कुछ ऐसे ढंग से प्रयोग हुआ है कि उनसे नायकनायिका का काव्य व्यवहार भी अवभासित होने लगता है। (१) राग का अर्थ है संन्या की लाली और प्रेम। (२) विलोल ताराओंवाले का अर्थ है जिसमें नक्षत्र टिमटिमा रहे हैं और जिसकी पुतलियाँ सम्भोग की उत्कण्ठा में चञ्चल हो गई हैं। (३) इस प्रकार का अर्थ है शीघ्र ही और प्रेम के आवेश में भरकर। (४) पकड़ लिया का अर्थ है प्रकाशित कर दिया और चुम्बन के लिये आक्रान्त कर लिया। (५) निशामुख में मुख का अर्थ है प्रारम्भ और मुखकमल (६) 'कि' का अर्थ है शीघ्र पकड़ लेने से और प्रेम की उत्कण्ठा से। (७) तिमिरांशुकं का अर्थ है सूक्ष्म किरणों से संवलित तम:पटल और तिमिरांशुक अथवा नील जालिका नाम का कामशास्त्र में प्रसिद्ध एक वस्त्र जोकि प्रौढ़ नवोढा के परिधान के योग्य होता है। (८) पुरतः का अर्थ है पूर्व

तारावती

दिशा में और आगे ही। (९) रागवश का अर्थ है—सन्ध्या की लाली के बाद में (क्योंकि सन्ध्या की लाली के अवसर पर ही अन्धकार नष्ट नहीं हो जाता वह उसके बाद में नष्ट होता है) और प्रेम के कारण। (१०) गलित का अर्थ है शान्त हुआ और गिर गया। (११) 'उससे' (तया) में रात्रि के पक्ष में या तो करण में तृतीया है या उपलक्षण में। (इत्थंभूत-लक्षणे २।३।२१) इस पाणिनि सूत्र से जिसके द्वारा कोई वस्तु लक्षित की जा सकती है उसमें तृतीया हो जाती है। इस प्रकार रात्रि के पक्ष में 'उससे लक्षित नहीं किया गया' का अर्थ होगा कि संसार यह भी नहीं समझ सका कि अन्धकार गलित हो गया है क्योंकि अन्धकार से मिली हुई किरणों को देखकर संसार रात्रिमुख को समझ जाता है किन्तु आलोक के स्फुट प्रकट होने पर नहीं समझ पाता। नायिका के पक्ष में 'उससे' यह तृतीया विभक्ति कर्ता में मानी जावेगी। अतएव इस पक्ष में 'उससे लक्षित नहीं किया जा सका' का अर्थ होगा कि नायिका ने नहीं जान पाया कि उसका वस्त्र छूट कर गिर गया है' 'भी'। शब्द का अन्वय रात्रि के पक्ष में 'लक्षित किया जा सका' के साथ होगा अर्थात् लोक ने जान भी नहीं पाया; नायिका के पक्ष में इसका अन्वय 'गलित हुआ' के साथ होगा अर्थात् नायिका ने गिरे हुये वस्त्र को भी नहीं जान पाया। इसी नायिका के पक्ष में 'पुरः' का भी दो प्रकार से अन्वय लग सकता है—'पीछे से आये हुये नायक ने जब चुम्बन का उपक्रम किया तो नायिका का नीलांशुक 'सामने ही' छूटकर गिर गया।' अथवा 'नायक' ने 'सामने ही मुखको पकड़ लिया। यदि इन दोनों प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों का उपमानोपमेयभाव कल्पित किया जावे तो पूरे वाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा—'जिस प्रकार कोई नायक प्रेमोन्मत्त होकर पीछे से (अथवा सामने से) आकर चुम्बन करने के लिये किसी नायिका का मुख दबा ले, उस समय नायिका के नेत्रों की पुतली चञ्चल हो जावें, उसका तिमिरांशुक पूर्णरूप से छूटकर गिर जावे और वह छुटे हुये वस्त्र को भी न जान सके, उसी प्रकार लाली से भरकर चन्द्र ने रात्रि के प्रारम्भ को प्रकाशित कर दिया, उस समय नक्षत्र टिमटिमा रहे थे, रात्रि के कारण किरणों के जाल के साथ जो तमःपटल सम्वलित हो रहा था वह भी शान्त हो गया, किरणों के तमःपटलसम्वलित होनेपर जो लोग जान सकते थे कि यह निशामुख है किन्तु चन्द्रमा के प्रकाश से रात्रि के जगमगा उठने पर कोई जान भी न सका कि यह निशामुख है।' इस प्रकार यहाँ पर व्यंग्यार्थ प्रतीत होकर भी प्रधान नहीं बन सका। कारण यह है कि यहाँ पर सन्ध्या वर्ण्य विषय है। चन्द्र और निशा शृङ्गार रस के विभाव हैं। उनपर नायक और नायिका के वृत्तान्त का आरोप कर लिया गया है। इस प्रकार नायक-नायिकापरक व्यंग्यार्थ चन्द्रनिशापरक वाच्यार्थ का संस्कार करते हुये अलंकाररूपता को धारण कर लेता है उसके बाद विभाव रूप में स्थित वाच्यार्थ से ही रस प्रवाहित होता है।

कुछ लोगों ने (सम्भवतः चन्द्रिकाकार ने) इस सन्दर्भ की व्याख्या इस प्रकार की है—"रात्रि के पक्ष में भी 'उससे मिलाया हुआ तिमिरांशुक रागवश पुरतः गलित हुआ भी लक्षित न किया जा सका' यह कर्तृपरक अर्थ ही करना चाहिये। रात्रि अचेतन है; अतः उसका

तारावती

'देखना' क्रिया के प्रति कर्ता हो सकना असम्भव है। इस प्रकार यहाँ पर शब्द (अभिधावृत्ति) के द्वारा ही नायक का व्यवहार प्रतीत होता है। अतः नायक का व्यवहार भी अभिधावृत्ति-गम्य ही है। नायक का व्यवहार व्यंग्य नहीं है। इसीलिये यहाँ पर समासोक्ति मानी जाती है।" किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार की व्याख्या करनेवालों ने तो इस ग्रन्थ के आशय को ही छोड़ दिया कि 'समासोक्ति के उदाहरण 'उपोढरागेण' इत्यादि पद्य में व्यंग्यार्थ के द्वारा अनुगत होकर वाच्यार्थ की प्रतीति होती है। यदि रात्रि को कर्ता मानकर वाच्यार्थ से ही नायकनायिकापरक अर्थ की प्रतीति मानी जावेगी तो यह एकदेशविवर्ति रूपक हो जावेगा; समासोक्ति का उदाहरण नहीं हो सकेगा। जैसे 'शरत् के द्वारा ही राजहंसों से सरोवररूपी राजाओं पर वायु की जा रही थी' इस वाक्य में 'सरोवररूपी राजा कहने से शरत् को चामरग्राहिणी और राजहंसों को चामर मान लिया जाता है। इस प्रकार यह एकदेशविवर्ति रूपक का उदाहरण हो जाता है। उसी प्रकार प्रकृत में भी तिमिर पर अंशुक का आरोप करने के कारण शेष नायक इत्यादि का व्यवहार एकदेशविवर्ति रूपक हो जावेगा। क्योंकि फिर आरोप में विशेषणों की तुल्यता हेतु नहीं रहेगी। (यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि जब 'समासोक्ति' के नामकरण में ही उक्ति शब्द आ गया है तब दूसरा अर्थ उक्त ही होना चाहिये व्यंग्य कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि नाम में उक्ति शब्द प्रस्तुत अर्थ को अभिधेयता का बोधक है, अप्रस्तुत अर्थ तो व्यंग्य ही रहता है। इसलिये भामह ने समासोक्ति का लक्षण करते हुए प्रस्तुत के लिये 'उक्तौ' शब्द का प्रयोग किया है और अप्रस्तुत के लिये 'अन्योऽर्थो गम्यते' यह लिखा है।। गम्यते इस क्रिया के प्रयोग सामर्थ्य से ही अप्रस्तुत अर्थ की अभिधेयता का निराकरण हो जाता है।

आलोककार ने उदाहरण की व्याख्या करते हुये 'नायिकानायकव्यवहारयोः' इस शब्द का प्रयोग किया है। 'नायिकानायक' में द्वन्द्व समास है और 'पुमान् स्त्रिया' इस पाणनि सूत्र से यहाँ पर एकशेष हो जाना चाहिये। किन्तु यहाँ पर पृथक्-पृथक् अर्थ किया जाता है— नायिका का नायक में जो व्यवहार है वह निशा पर आरोपित कर लिया गया है और नायिका के प्रति नायक का जो व्यवहार है उसका चन्द्र पर आरोप कर लिया गया है। इस प्रकार की व्याख्या करने पर एकशेष लागू नहीं होता। (इस विषय में पण्डितराज ने लिखा है कि 'निशामुखं चुम्बति चन्द्रिकैषा' 'अहर्मुखं चुम्बति चण्डभानुः' इत्यादि वाक्यों में जहाँ स्त्रीलिङ्ग और पुंल्लिङ्ग का निर्देश नहीं होता वहाँ नायिका और नायक का व्यवहार हो ही नहीं सकता। प्रकृत में तो स्त्रीलिङ्ग वाचक टाप् और प्रथमा के द्वारा प्रकृत्यर्थगत स्त्रीत्व और पुंस्त्व से स्वाधिकरण में ही नायकत्व और नयिकात्व को अभिव्यक्ति हो जाती है। इस निशा और शशी में नायिकात्व इत्यादि की सिद्धि श्लिष्ट विशेषणों के बल पर होती है। शक्ति का नियंत्रण तो प्रकरण इत्यादि के द्वारा ही हो जाता है; इसलिए अप्रकृत अर्थ का बोधन व्यञ्जनाव्यापार से ही होता है इस प्रकार व्यञ्जना के माहात्म्य से ही अप्रकृत वाक्यार्थ के

ध्वन्यालोकः

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाधिक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थं आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव जायते । तथा हि—तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम् । चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा ।

(अनु०)आक्षेप में भी यद्यपि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ विशेष का आक्षेप कर लिया जाता है, तथापि चारुता वाच्यार्थ में ही होती है क्योंकि प्रधान वाक्यार्थ की पूर्ति आक्षिप्त उक्ति की शक्ति से ही हुआ करती है। वह इस प्रकार-विशेष रूप से जिस बात के कहने की इच्छा की गई हो और शब्द के द्वारा उसका प्रतिषेध रूप आक्षेप कर दिया जावे तो वह एक विशेष व्यंग्यार्थ को आक्षिप्त कर मुख्य रूप से काव्यशरीर (आस्वाद का विषय) बन जावेगा । निस्सन्देह वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में प्रधानता उसी को मानी जाती है जो सौन्दर्य में कारण हो।

लोचनम्

आक्षेप इति ।

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥

तत्राद्यो यथा—

अहं त्वां यदि नेक्षेयं क्षणमप्युत्सुका ततः ।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते ॥

इति वक्ष्यमाणमरणविषयो निषेधात्माक्षेपः । तत्रेयदस्त्वित्येतदेवात्र प्रिये इत्याक्षिपत्सच्चारुत्वनिबन्धनमित्याक्षेप्येणाक्षेपकमलङ्कृतं सत्प्रधानम् । उक्तविषयस्तु यथा ममैव—

आक्षेप इति । 'विशेष अभिधान की इच्छा से जो इष्ट का प्रतिषेध किया जाता है। वह वक्ष्यमाण तथा उक्त विषय दो प्रकार का आक्षेप होता है।'

उसमें पहला जैसे—'यदि मैं तुम्हें क्षण भर भी न देखूँ तो उत्कण्ठा से··· ··अथवा इतना ही रहने दो उस अप्रिय बात के कहने से क्या ?' यह वक्ष्यमाण मरणविषयक निषेधात्मक ही आक्षेप है।

उसमें इतना हो यही यहाँ पर 'मर जाऊँ' या इसका आक्षेप करते हुये चारुत्व का निबन्धन हो जाता है; इस प्रकार आक्षेप्य से अलंकृत आक्षेपक प्रधान है। उक्त विषय जैसे मेरा ही—

तारावती

तादात्म्य के साथ प्रकृत वाक्यार्थ अवस्थित होता है। यह गुणीभूत व्यंग्य का भेद है इस बात को स्वीकार करना एक रमणीय मार्ग है।)

अब आक्षेप को लीजिये। भामह ने इसका लक्षण और विभाजन इस प्रकार किया है—

लोचनम्

भो भोः किं किमकाण्ड एव पतितस्त्वं पान्थ कान्या गति-
स्तत्तादृक्तृषितस्य मे खलमतिः सोऽयं जलं गूहते ।
अस्थानोपनतामकालसुलभां तृष्णां प्रतिक्रुध्य भोः
त्रैलोक्यप्रथितप्रभावमहिमा मार्गः पुनर्मारवः ॥

अत्र कश्चित्सेवकः प्राप्तः प्राप्तव्यमस्मात्किमिति न लभ इति प्रत्याशा-विशस्यमानहृदयः केनचिदमुनाक्षेपेण प्रतिबोध्यते । तत्राक्षेपेण निषेधरूपेण वाच्यस्यैवासत्पुरुषसेवातद्वैफल्यतत्कृतोद्वेगात्मनः शान्तरसस्थायिभूतनिर्वेद-विभावरूपतया चमत्कृतिदायित्वम् ।

'हे हे पान्थ ! बिना ही अवसर तथा स्थान के क्यों गिर गये हो ? इस प्रकार प्यासे मुझ-जैसे के लिये और सहारा ही क्या है ? किन्तु यह दुष्टबुद्धिवाला अपने जलों को छिपाता जाता है। बिना स्थान के आई हुई तथा बिना अवसर के सुलभ इस तृष्णा के प्रति क्रोध करो; तीनों लोकों में प्रसिद्ध अपने प्रभाव की महिमावाला यह मार्ग तो मरु देश का है।'

यहाँ पर कोई आया हुआ सेवक 'इससे प्राप्तव्य को मैं क्यों प्राप्त नहीं कर रहा हूँ' इस प्रत्याशा से विशीर्यमाणहृदय होकर किसी के द्वारा इस आक्षेप से समझाया जा रहा है। उसमें निषेधात्मक आक्षेप द्वारा असत्-पुरुष सेवा और उसके वैफल्य से उत्पन्न हुये उद्वेगात्मक वाच्यका ही शान्तरस के स्थायिभाव निर्वेद की विभावरूपता होने के कारण चमत्कृति-दायित्व है।

तारावती

('व्यंग्यभूत) विशेष अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा से जहाँ कथन के लिए अभीष्ट का निषेध जैसा कर दिया जावे उसे आक्षेप कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है वक्ष्यमाण (अनुक्त) विषय और उक्त विषय। वक्ष्यमाण (अनुक्त) विषय का उदाहरण जैसे प्रस्थानोन्मुख प्रियतम से कोई नायिका कह रही है :—

'यदि मैं तुम्हें क्षण भर भी न देखूँ तो उत्कण्ठा के कारण······अथवा इतना ही रहने दो; मैं तुमसे अप्रिय बातें क्यों कहूँ।'

यहाँ पर 'यदि मैं तुम्हें न देखूँ तो मर जाऊँ' यह कहना अभीष्ट था, किन्तु 'रहने दो, मैं तुमसे अप्रिय बातें क्यों कहूँ' कहकर उसकी व्यञ्जना की गई है। व्यंग्यार्थ 'मर जाऊं' की अपेक्षा वाच्यार्थ 'क्यों कहूँ' में अधिक सौन्दर्य है। व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ को अलङ्कृतमात्र करता है, आस्वादन में निमित्त वाच्यार्थ ही होता है। अतः यहाँ पर व्यंग्यार्थ ध्वनि के क्षेत्र से बाहर हो जाता है और आक्षेप अलङ्कार कहा जाता है। उक्त विषय आक्षेप का उदाहरण जैसे मेरा ही (अभिनवगुप्त का ही) पद्य—

(कोई सेवक किसी स्वामी की सेवा में संलग्न है जो कि धन इत्यादि देने में बड़ा ही कृपण है। दूसरा व्यक्ति समझाते हुए कृपण की सेवा से पृथक् होने का निर्देश कर रहा है :—)

तारावती

'व्यक्ति—हे पथिक ? क्यों तुम यहाँ कहाँ जल पीने की इच्छा से इस मरुदेश में आ पड़े हो ?' (धनाशा से इस कृपण की शरण में आ गये हो जहाँ तुम्हें एक पैसे की भी आशा नहीं।) पथिक—'इस प्रकार प्यास से पीडित मुझजैसे व्यक्ति के लिये और आश्रय ही क्या है ? (मैं इस समय धनलिप्सा से अत्यन्त उद्विग्न हो उठा हूँ। इसीलिये और कोई आश्रय न होने के कारण यहाँ आया हूँ।) किन्तु यह दुष्ट बुद्धिवाला मरुदेश अपने जलों को संवृत ही करता चला जाता है। (यह दुष्ट धनिक अपने धन को छिपाने में ही अपना कल्याण समझता है।) व्यक्ति—तुम्हें तो अपनी तृष्णा के प्रति क्रोध करना चाहिये जो सर्वदा ऐसे ही बुरे अवसर पर आती है जब कि उसके अनुकूल जल मिलना असम्भव हो जाता है। मरुदेश के मार्ग का क्या दोष ? इसकी जलसङ्कोच विषयक महिमा और प्रभाव तो सभी कोई जानता है। (तुम्हें अपनी धनलिप्सा के प्रति ही क्रोध करना चाहिये। इस धनिक की कृपणता तो प्रसिद्ध ही है।)

इस पद्य में कोई व्यक्ति इस आक्षेप के द्वारा किसी ऐसे सेवक को समझा रहा है जो कि किसी स्वामी के पास आया है और जिसका हृदय प्रतिक्षण इस आशा से टूट रहा है कि उसे अपने स्वामी से प्राप्तव्य वस्तु क्यों नहीं मिल रही है। यहाँ पर असत्पुरुष की सेवा और उसकी विफलता विभाव है, चित्त में उत्पन्न होनेवाले उद्वेग के कारण उत्पन्न वैवर्ण्य इत्यादि अनुभाव हैं। इस प्रकार शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद व्यक्त होता है। आक्षेप के द्वारा असत्पुरुष की सेवा से पृथक् करना ही यहाँ पर मुख्य वक्तव्य है जो कि व्यञ्जनावृत्ति से आक्षिप्त होता है। उस व्यंग्यार्थ के द्वारा उपकृत होकर वाच्यार्थ ही चमत्कृति को प्रदान करनेवाला हो गया है। आशय यह है कि उक्त पद्य में मरुभूमि का अर्थ वाच्य है और असत्पुरुष का अर्थ व्यंग्य है। इस व्यंग्यार्थ से उपकृत होकर वाच्यार्थ निर्वेद का आस्वादन करने में कारण होता है। अतः वही प्रधान है।

संक्षेप में आक्षेप अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ प्रकरण के अनुसार किसी बात को कहना अनिवार्य हो गया हो, किन्तु उसमें किसी प्रकार की विशेषता का आधान करने के लिये उसका निषेध कर दिया जावे। यह निषेध किसी बात को बिना कहे हुए ही इस रूप में हो सकता है कि सुननेवाले के लिये उसका विधिपरक तात्पर्य स्पष्ट हो जावे, किसी बात को आंशिक रूप में कहकर शेष अंश का निषेध भी हो सकता है, किसी बात को पूर्णरूप से कहकर उस वस्तु का भी निषेध हो सकता है और सब कुछ कहकर कथन का भी निषेध हो सकता है। विशेषता का आधान करने के लिये जिस अर्थ का आक्षेप किया जाता है वह वाच्यार्थ को ही अलंकृत करता है और आस्वादन का पर्यवसान वाच्यार्थ में ही होता है। उक्त उदाहरण में कृपण व्यक्ति की अनुदारता को अधिकाधिक स्पष्ट करना प्रकरणप्राप्त है, जो कर तो दिया गया है किन्तु उसकी निन्दा न करने का निर्देश भी दे दिया गया है।

लोचनम्

वामनस्य तु 'उपमानाक्षेपः' इत्याक्षेपलक्षणम् । उपमानस्य चन्द्रादेराक्षेपः । अस्मिन् सति किं त्वया कृत्यमिति । यथा—

तस्यास्तन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ यदि च तैः किं नाम नीलोत्पलैः ।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे
ही धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः ॥

वामन का तो 'उपमान के आक्षेप को आक्षेप कहते हैं' यह लक्षण है। उपमान चन्द्र इत्यादि का आक्षेप होता है। 'इसके होते हुये तुम्हारा क्या काम ?' इस प्रकार। जैसे—

'उसका वह सौम्य तथा सुन्दर मुख विद्यमान है ही फिर पूर्णिमा के चन्द्र की क्या आवश्यकता ? सौन्दर्य का स्थान यदि वे दोनों नेत्र हैं ही फिर उन नीलोत्पलों की आवश्यकता ही क्या ? उस अधर के होते हुये कोमल कान्तिवाले किसलयों की क्या आवश्यकता। आश्चर्य तथा खेद है कि ब्रह्मा जी का आग्रह पुनरुक्त वस्तुओं के रचनाक्रम में अपूर्व ही है।'

तारावती

यह निषेध विधिपरक है। इस प्रकार यहाँ पर आक्षेप अलङ्कार है। यहाँ पर दूसरा अलङ्कार अप्रस्तुतप्रशंसा भी हो सकता है। अतः इन दोनों का यहाँ पर सङ्कर है। (रुय्यक के अलङ्कारसर्वस्व पर विमर्शिनी नामक टीका में जयरथ ने लिखा है—'यहाँ पर स्वयम् अनुपपन्न होने के कारण अविश्रान्त होकर निषेध विधि के अर्थ में अपने को समर्पित कर देता है। इस प्रकार इसकी लक्षणामूलकता सिद्ध हो गई जो कि 'परार्थ स्वसमर्पणं' के रूप में कही गई है। जैसा कि किसी ने आक्षेप का लक्षण किया है :—

यत्र स्वयमविश्रान्ते परार्थे स्वसमर्पणम्।
कुरुतेऽसौ स आक्षेपो निषेधस्यैव भासनात् ॥'

जगन्नाथ ने आक्षेप में चार तत्त्व बतलाए हैं—'इष्ट अर्थ, उसका निषेध, उसकी भी असत्यता और अर्थगत विशेष का प्रतिपादन। इससे आक्षेप में न निषेध की विधि होती है, न विहित का निषेध होता है, अपितु असत्य निषेध से विधि के आक्षिप्त होने के कारण आक्षेप होता है। यह आक्षेप यौगिक शब्द है।)

यह तो हुई भामह के मत में आक्षेप अलङ्कार की बात। वामन उपमान के आक्षेप करने को आक्षेप अलङ्कार मानते हैं। जिसमें यह बात कही जाती है कि अमुक वस्तु (उपमेय) के होते हुए तुम्हारा (उपमान का) क्या काम ? उसका उदाहरण यह होगा :—

'सौन्दर्य और सौभाग्य से युक्त उसका वह मुख विद्यमान ही है फिर पूर्णिमा के चन्द्र की क्या आवश्यकता यदि सौन्दर्य का स्थान वे दोनों नेत्र उपस्थित ही हैं फिर उन प्रसिद्ध नीलकमलों की क्या आवश्यकता ? उस अधर के होते हुये भी कोमल कलिकावाले किसलयों

लोचनम्

अत्र व्यङ्ग्योऽप्युपमार्थो वाच्यस्यैवोपस्कुरुते । किं तेन कृत्यमिति त्वपहस्तनारूप आक्षेपो वाच्य एव चमत्कारकारणम् । यदि वोपमानस्याक्षेपः सामर्थ्यादाकर्षणम् । यथा—

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥

इत्यत्रेर्ष्याकलुषितनायकान्तरमुपमानमाक्षिप्तमपि वाच्यार्थमेवालङ्करोतीत्येषा तु समासोक्तिरेव । तदाह—चारुत्वोत्कर्षेति ।

यहाँ पर व्यंग्य भी उपमा का अर्थ वाच्य का ही उपकार करता है 'उसकी आवश्यकता ही क्या ?' यह निराकरण रूप आक्षेप वाच्य में ही चमत्कार का कारण है। अथवा उपमान का आक्षेप अर्थात् सामर्थ्य से आकर्षण । जैसे—

'शरद् ने पाण्डुपयोधर के द्वारा आर्द्रनखक्षत के समान ऐन्द्र धनुष को धारण करते हुये तथा सकलङ्क चन्द्र को प्रसन्न करते हुए सूर्य के सन्ताप को अधिक कर दिया ।'

यहाँ पर ईर्ष्या-कलुषित दूसरे नायक को उपमान के लिए आक्षिप्त करते हुए भी वाच्यार्थ को ही अलंकृत करती है, इस प्रकार यह समासोक्ति ही है। इसीलिये कह रहे हैं चारुत्वोत्कर्षनिबन्धन इत्यादि ।

तारावती

की क्या आवश्यकता ? दुःख की बात है कि ब्रह्माजी का पुनरुक्त वस्तुओं के निर्माण करने का एक विचित्र दुराग्रह बना हुआ है। (जब उनसे भी अधिक सुन्दर वस्तुयें नायिका के अंगों के रूप में विद्यमान हैं तो फिर उन अनुपादेय निकृष्ट वस्तुओं को रचना दुराग्रह-मात्र है।)

यहाँ पर 'मुख पूर्णचन्द्र के समान हैं' इस उपमा की व्यञ्जना होती है। यह व्यङ्ग्य-उपमा वाच्य को हो अलंकृत करती है और वाच्य ही चमत्कार में कारण होता है। यहाँ पर वाच्यार्थ है 'चन्द्रमा की आवश्यकता ही क्या है' यह है उसकी अपहस्तना या अनादर रूप आक्षेप। यह वाच्यार्थ ही चमत्कार का अधिक पोषक है, व्यङ्ग्य उपमा नहीं।

(यहाँ पर यह ध्यान रखने की बात है कि इन व्यञ्जनामूलक अलङ्कारों के विषय में प्राचीन और नवीन आचार्य एकमत नहीं हैं। वामन के अनुसार यहाँ पर उपमान का आक्षेप मानकर आक्षेपालङ्कार माना गया है किन्तु काव्यप्रकाशकार इत्यादि के मत में यहाँ पर प्रतीप अलङ्कार होगा। काव्यप्रकाशकार ने लिखा है—इसका (चन्द्र इत्यादि का) पूरा भार तो (मुख इत्यादि) उपमेय ही अधिक प्रौढ़ता से वहन करने में समर्थ है फिर अमुक वस्तु

ध्वन्यालोकः

यथा—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः॥

अत्र सत्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव-प्राधान्यविवक्षा।

(अनु०) जैसे—संध्या अनुरागवती है और दिवस उसके आगे चलनेवाला है। आश्चर्य है यह कैसी दैवगति कि फिर भी समागम नहीं होता।'

यहाँ पर यद्यपि व्यङ्ग्य की प्रतीतिं होती है। तथापि वाच्य की चारुता ही उत्कर्ष का आधान करनेवाली है। अतएव यहाँ पर वाच्यार्थ की ही प्रधानता विवक्षित है।

लोचनम्

अत्रैव प्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—अनुरागवतीति। तेनाक्षेपप्रमेयसमर्थनमेवा-परिसमाप्तमिति मन्तव्यम्। तत्रोदाहरणत्वेन समासोक्तिश्लोकः पठितः।

इसी में प्रसिद्ध दृष्टान्त कहते हैं—अनुरागवती इत्यादि। इससे आक्षेप के प्रमेय का समर्थन ही परिसमाप्त नहीं हो पाया है यह मानना चाहिये। वहाँ पर उदाहरण के रूप में समासोक्ति का श्लोक पढ़ा गया है।

तारावती

(उपमान) की रचना क्यों की गई, यह कहकर जो उपमान आक्षिप्त किया जाता है······वह उपमान के प्रतिकूलवर्ती उपमेय होने के कारण प्रतीप अलङ्कार कहा जावेगा।' अतएव काव्य-प्रकाशकार के मत में यहा पर प्रतीप अलङ्कार होगा आक्षेप नहीं।)

वामन के 'उपमानाक्षेपः' का यह भी अर्थ हो सकता है कि जहाँ पर उपमान का आक्षेप किया जावे अथवा उपमान को खींचकर निकट लाया जावे। जैसेः—

'अपने श्वेत वर्ण के मेघों में (अथवा गोरे रंग के स्तनों में) ताजे नखक्षत के समान इन्द्रधनुष को धारण किये हुए और कलङ्क से युक्त चन्द्र को प्रसन्न करती हुई शरद् ऋतु ने सूर्य के ताप को और अधिक बढ़ा दिया।'

यहाँ पर सूर्य के लिये ईर्ष्याकलुषित किसी दूसरे नायक का उपमान आक्षिप्त कर लिया गया है और शरद् के लिये पुंश्चली नायिका के उपमान का आक्षेप कर लिया गया है। आशय यह है कि शरद् काल में श्वेत बादलों में इन्द्रधनुष की रेखा पड़ी हुई ऐसी शोभित हो रही थी जैसे किसी नायिका के गौरवर्ण के स्तनों में लगी हुई ताजी नखरेखा हो। उस शरद् काल ने चन्द्र को अत्यन्त प्रसन्न (निर्मल) बना दिया था जैसे कोई नायिका किसी कलङ्की (व्यभिचारी) कामी को आनन्द दे रही हो। उस काल में सूर्य की गर्मी बहुत बढ़ ई जैसे कोई दूसरा नायक यह देखकर सन्तप्त हो जाता है कि उसकी प्रेयसी किसी दूसरे

लोचनम्

अहो दैवगतिरिति। गुरुपारतन्त्र्यादिनिमित्तोऽसमागम इत्यर्थः। तस्यैवेति। वाच्यस्यैवेति यावत्। वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोः युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्। एषापि समासोक्तिर्वास्तु आक्षेपो वा, किमनेनास्माकम्। सर्वथालङ्कारेषु व्यङ्ग्यं वाच्ये गुणीभवतीति न साध्यमित्यत्राशयोऽत्र ग्रन्थेऽस्मद्गुरुभिर्निरूपितः।

अहोदैवगतिरिति। गुरु पारतन्त्र्य इत्यादि के निमित्त समागम का अभाव है, यह आशय है। तस्यैवेति। अर्थात् वाच्य का ही। वामन के अभिप्राय से यह आक्षेप है, भामह के अभिप्राय से तो यह समासोक्ति है। इस आशय को हृदय में रखकर समासोक्ति और आक्षेप का ग्रन्थकार ने युक्ति से एक ही उदाहरण दे दिया है। यह भी समासोक्ति हो या आक्षेप, इससे हमारा क्या प्रयोजन ? सर्वथा अलङ्कारों में व्यङ्ग्य वाच्य में गुणीभूत हो जाता है, यह हमारा साध्य है। यहाँ पर यही ग्रन्थकार का आशय है जो कि हमारे गुरुओं ने निरूपित किया है।

तारावती

कामी को आनन्द दे रही है। यहाँ शरद् और सूर्य के लिये नायिका और ईर्ष्याकलुषित दूसरे नायक का यद्यपि आक्षेप हो जाता है तथापि यह वाच्यार्थ को ही अलंकृत करता है और वाच्यार्थ ही सौन्दर्य में कारण होता है। इस प्रकार यह जो वामन के मत में आक्षेप का उदाहरण दिया गया है वह भामह के मत में समासोक्ति ही होगी। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए आलोककार ने कहा है कि रमणीयता के उत्कर्ष के आधार पर ही वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रधानता का कथन अभीष्ट होता है।

यहाँ पर आलोककार के दिये हुए उदाहरण पर विचार किया जा रहा है। आलोककार ने यह उदाहरण दिया है :—

'सन्ध्या अनुराग से भरी हुई है और दिन उसके आगे-आगे चलता है, फिर भी देखो भाग्यचक्र कितना विचित्र है कि दोनों का समागम नहीं होता।'

यहाँ पर सन्ध्या के लिये नायिका का आक्षेप कर लिया जाता है और दिन के लिये नायक का। नायिका प्रेम से भरी हुई है और नायक भी सामने ही है किन्तु गुरुपारतन्त्र्य इत्यादि कारणों से समागम नहीं हो रहा है। यद्यपि इस व्यङ्ग्यार्थ की यहाँ पर अवगति होती है, तथापि[1] सौन्दर्य का पर्यवसान वाच्यार्थ में ही होता है। अतएव वाच्यार्थ की प्रधानता यहाँ पर कही जावेगी।

अब यहाँ पर विचार करने की बात यह है कि आलोककार ने जो उदाहरण दिया है वह वास्तव में आक्षेप अलङ्कार का उदाहरण नहीं हो सकता। अतएव लोचनकार ने इसकी सङ्गति बिठाने के लिये दो उत्तर दिये हैं (१) प्रस्तुत उदाहरण आक्षेप अलंकार का नहीं

ध्वन्यालोकः

यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम् ।

(अनु०) जिस प्रकार दीपक और अपह्नुति इत्यादि में व्यङ्ग्य के रूप में यद्यपि उपमा की प्रतीति होती है तथापि प्रधानतया उसकी विवक्षा न होने के कारण उपमा के नाम से उसे अभिहित नहीं किया जाता उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। (आशय यह है कि सादृश्यमूलक अलङ्कारों में उपमा की व्यञ्जना होती है, किन्तु प्रधान न होने के कारण उसे उपमा न कहकर विभिन्न नामों से पुकारते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जो प्रधान होता है नाम उसी का लिया जाता है।)

लोचनम्

एवं प्राधान्यविवक्षायां दृष्टान्तमुक्त्वा व्यपदेशोऽपि प्राधान्यकृत एव भवतीत्यत्र दृष्टान्त स्वपरप्रसिद्धमाह—यथा चेति। उपमाया इति। उपमानोपमेयभावस्येत्यर्थः। तयेत्युपमया। दीपके हि 'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते' इति तल्लक्षणम्।

इस प्रकार प्राधान्यविवक्षा में दृष्टान्त कहकर नामकरण भी प्राधान्य के आधार पर ही हुआ करता है; इस विषय में स्व-परप्रसिद्ध दृष्टान्त कह रहे हैं—यथा चेति। उपमाया इति। उपमानोपमेयभाव का। 'तया' का अर्थ है उपमा के द्वारा। दीपक में निस्सन्देह 'आदि मध्य और अन्त विषय में तीन प्रकार का दीपक इष्ट है' यह लक्षण है।

तारावती

है। आलोककार ने आक्षेप अलंकार का परिचय मात्र दिया है और उसमें व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ के रमणीयताधिक्य का प्रतिपादन किया है। इसके बाद आलोककार ने यह वाक्य लिख दिया कि 'वाच्य और व्यङ्ग्य की प्राधान्यविवक्षा चारुता के उत्कर्ष के अधीन होती है।' प्रस्तुत पद्य इसी वाक्य का उदाहरण है। वास्तव में मूल में आक्षेप का उदाहरण दिया ही नहीं गया है और आक्षेपतत्त्व का समर्थन ही समाप्त नहीं हो पाया है, यही यहाँ पर समझना चाहिये। यहाँ पर उदाहरण के रूप में समासोक्ति का पद्य उद्धृत किया गया है। (२) यह उदाहरण वामन के अनुसार आक्षेप का हो सकता है और भामह के अनुसार समासोक्ति का। यही अपने हृदय में समझकर ग्रन्थकार ने युक्तिपूर्वक समासोक्ति और आक्षेप दोनों का एक ही उदाहरण दे दिया है। चाहे यह आक्षेप माना जावे चाहे समासोक्ति, इससे मुझे विशेष प्रयोजन नहीं। इस ग्रन्थ का यहाँ पर यही आशय है कि अलंकारों में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की दृष्टि से सर्वथा गौण हो जाता है। यही यहाँ पर हमें (ग्रन्थकार को) सिद्ध करना है।

तारावती

ऊपर इस बात का दृष्टान्त दे दिया गया कि अलंकारों में प्राधान्यविवक्षा वाच्यार्थपरक ही होती है, व्यङ्गयार्थ केवल उस वाच्यार्थ का अलङ्करण करता है और सर्वथा गौण स्थान का ही अधिकारी होता है। (यहाँ पर पूर्वपक्ष यह कह सकता है कि जब व्यञ्जना उपस्थित ही है, तो चाहे वह गौण ही क्यों न हो, उसका मानाजाना सर्वथा उचित है। गौण होने के कारण व्यञ्जना का सर्वथा अपलाप नहीं किया जा सकता। अतएव) नामकरण प्रधानता के आधार पर ही होता है। इस विषय में आलोककार ने एक ऐसा दृष्टान्त दिया है जो ध्वनिवादियों को तो स्वीकार्य है ही, विरोधी (अलङ्कार सम्प्रदायवाले) भी उसे अस्वीकार नहीं कर सकते। आलोककार ने कहा है कि जैसे दीपक और अपह्नुति इन अलंकारों में उपमा व्यक्त होती है किन्तु उसकी प्रधानता नहीं होती, अतएव कोई भी उसको उपमा नहीं कहता, इसी प्रकार जिन आक्षेप, समासोक्ति इत्यादि में व्यङ्गयार्थ की प्रतीति होते हुए भी उन्हें ध्वनि के नाम से न पुकारकर उन अलङ्कारों के नाम से पुकारा जाता है जिनको प्रधानता होती है। यहाँ पर उपमा का अर्थ है उपमानोपमेयभाव। दीपक और समासोक्ति में उपमानोपमेयभाव व्यङ्गय होता है। भामह ने दीपक का लक्षण यह दिया है—'दीपक के तीन भेद माने जाते हैं आदिविषय, मध्यविषय, और अन्तविषय।'

'यहाँ पर लोचनकार ने भामह के लक्षण का संकेत मात्र दिया है। भामह का पूरा लक्षण इस प्रकार है :—

> आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।
> एकस्यैव त्र्यवस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा॥
> अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्।

अर्थात्—'दीपक तीन प्रकार का माना जाता है—आदि-विषय, मध्यविषय और अन्तविषय; एक की ही तीन अवस्थायें हो जाती हैं, इसीलिये इसको तीन भेदों में विभक्त कर दिया जाता है। ये तीनों भेद इसके दीपक नाम को सार्थक बना देते हैं क्यों कि ये अर्थ का दीपन करते हैं।' किन्तु न तो यह परिभाषा ही स्पष्ट है और न भेदों का स्वरूप ही। यहाँ पर भामह का आशय यह है कि जिस प्रकार प्रज्वलित दीपक सारे भवन को जगमगा देता है उसी प्रकार जब एक शब्द पूरे पद्य को प्रभावित कर देता है या पूरे पद्य से सम्बन्धित हो जाता है तब उसे दीपक कहते हैं। यदि यह शब्द आदि में होता है तो इसे आदिविषय दीपक कहते हैं, यदि यह शब्द मध्य में होता है तो मध्यविषय दीपक कहते हैं और यदि अन्त में होता है तो अन्तविषय दीपक कहते हैं। भट्टिकाव्य के १० वें सर्ग में भामह के लक्षणों के उदाहरण सङ्कलित किये गये हैं और दण्डी के काव्यादर्श में इन पर विशेष प्रकाश डाला गया है। दण्डी के विवरण का सारांश यह है कि 'जाति गुण क्रिया अथवा द्रव्यवाचक शब्द जब एक स्थान पर स्थित होकर पूरे वाक्य का उपकार करता है तब उसे दीपक कहते हैं। यह शब्द आदि में भी स्थित हो सकता है, मध्य में भी और अन्त में भी।' किन्तु

लोचनम्

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितः
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना।
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः॥

इत्यत्र दीपनकृतमेव चारुत्वम्। 'अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदर्थगतोपमा' इति तत्रापह्नुत्यैव शोभा। यथा—

नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः॥ इति॥

'शानपर घिसी हुई मणि, अस्त्र से दलित किया हुआ समरविजयी, कलाशेष चन्द्र, सुरत में मसली हुई बालललना, मद से क्षीण हाथी, शरत् काल में तट से छूटी हुई नदी ये अपनी कृशता से ही शोभित होते हैं, उसी प्रकार याचकों में नष्टविभव व्यक्ति भी।'

यहाँ पर चारुत्व दीपन से ही उत्पन्न हुआ है। 'अभीष्ट की किञ्चित् अर्थगत उपमा को अपह्नुति कहते हैं'। वहाँ पर अपह्नुति (छिपाने की क्रिया) से ही शोभा होती है। जैसे—

'मद से मुखर यह भृङ्ग-पंक्ति बार-बार गुन्जार नहीं कर रही है, यह तो आकृष्यमाण कामधनुष् की ध्वनि है।'

तारावती

परवर्त्ती आचार्यों को न तो यह लक्षण ही रुचिकर हुआ और न विभाजन ही। वस्तुतः विभाजन ऐसा होना चाहिये जिससे चमत्कार में कुछ अन्तर पड़े। शब्द के आदि, मध्य अथवा अन्त में स्थित होने से विच्छित्ति की विशेषता में कोई अन्तर नहीं आता। अतएव परवर्त्ती आचार्यों ने इस विभाजन को ठुकरा दिया। दीपक की व्याख्या भी नये रूप में की गई। जिस प्रकार प्रासाद पर प्रकाश करने के लिये दीपक जलाया जावे और वह पास के मार्ग को भी प्रकाशित कर दे उसी प्रकार किसी प्रस्तुत के लिये प्रयुक्त किया गया कोई शब्द जहाँ अप्रस्तुत से भी अन्वित हो जावे उसे दीपक अलंकार कहते हैं। यही परिभाषा काव्य-प्रकाश में भी अपनाई गई और इसी को साहित्यदर्पणकार इत्यादि ने भी स्वीकार किया। काव्यप्रकाशकार ने लिखा है कि—'जहाँ प्रकृत और अप्रकृत के धर्म का एकत्र उपादान हो उसे दीपक कहते हैं और साहित्यदर्पण में लिखा है—'अप्रस्तुत और प्रस्तुत के एकधर्माभि-सम्बन्ध को दीपक कहते हैं।' उद्भट और रुय्यक ने भी दीपक में उपमागर्भता अंकित की है।)

दीपक का उदाहरण यह है:—

'शान पर घिसी हुई मणि, अस्त्र के द्वारा घायल किया हुआ विजेता वीर, कलामात्र शेष चन्द्र, सुरत में मसली हुई बाल ललना, मद से क्षीण हाथी, शरत्काल में तट से छूटी हुई

ध्वन्यालोकः

अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ—

आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति ॥

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम् न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम् ।

(अनु०) अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में भी—

'साथियों द्वारा पुकारा हुआ भी, 'अच्छा' कहकर निद्रा छोड़े हुये भी, जाने की इच्छा करते हुये भी पथिक निद्रा के सङ्कोच को शिथिल नहीं कर रहा है ।'

इत्यादि उदाहरणों में प्रकरण-सामर्थ्य से केवल व्यंग्य की प्रतीति होती है। उसकी प्रतीति से किसी प्रकार की चारुता निष्पन्न नहीं होती। अतएव उसकी प्रधानता नहीं कही जा सकती ।

लोचनम्

एवमाक्षेपं विचार्योद्देश्यक्रमेणैव प्रमेयान्तरमाह—अनुक्तनिमित्तायामिति ।

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः ।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरितिस्मृता ॥ यथा—
स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥

इयं चाचिन्त्यनिमित्तेति नास्यां व्यङ्ग्यस्य सद्भावः । उक्तनिमित्तायामपि वस्तुस्वभावमात्रत्वे पर्यवसानमिति तत्रापि न व्यङ्ग्यसद्भावशङ्का । यथा—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमोस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै कुसुमधन्वने ॥

इस प्रकार आक्षेप पर विचार कर उद्देश्य-क्रम से दूसरे प्रमेय को कह रहे हैं—'अनुक्त निमित्ता में' इत्यादि ।

'एकदेश के अपगम हो जाने पर किसी अतिशयता के ख्यापन के लिये जो किसी दूसरे गुण की प्रशंसा की जाती है वह विशेषोक्ति मानी जाती है ।' जैसे—

'अकेला ही वह कुसुमायुध तीन भुवनों को जीत लेता है जिसके शरीर को हरते हुए भी शम्भु ने बल नहीं हरा ।'

यह अचिन्त्यनिमित्ता है, इसमें व्यंग्य की सद्भावना नहीं है। उक्तनिमित्ता में भी वस्तु-स्वभावमात्र में ही पर्यवसान होता है, अतः वहाँ पर भी व्यंग्यसद्भाव की शंका नहीं । जैसे—

'कर्पूर के समान दग्ध भी जो जन-जन में शक्तिमान् है, अवारणीय पराक्रमवाले उस कुसुमधन्वा को नमस्कार ।'

लोचनम्

तेन प्रकारद्वयमवधीर्य तृतीयं प्रकारमाशङ्कते—अनुक्तनिमित्तायामपीति ।

इससे दो प्रकारों की अवधीरणा करके तृतीय प्रकार की आशंका कर रहे हैं—'अनुक्त-निमित्तायामपि' इत्यादि ।

तारावती

नदियाँ, ये सब अपनी कृशता में ही शोभित होते हैं तथा याचकों को दान देने के कारण विभव से रिक्त हुए पुरुषों की भी शोभा अपनी अकिञ्चनता में ही होती है।'

यहाँ गलितविभव पुरुष प्रस्तुत है और शान पर घिसी हुई मणि इत्यादि अप्रस्तुत हैं। इनका उपमानोपमेयभाव व्यक्त होता है। किन्तु इसे उपमालंकार के नाम से कोई नहीं पुकारता क्योंकि यहाँ पर सादृश्य के कारण चमत्कार की प्रतीति नहीं होती अपितु इतने अप्रस्तुतों के एक साथ दीपन के कारण चारुता की प्रतीति होती है। इसीलिये इसे दीपक के नाम से अभिहित किया जाता है। यही बात अपह्नुति के विषय में भी कही जा सकती है। भामह ने अपह्नुति का निम्नलिखित लक्षण दिया है:—

अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा ॥

अर्थात् अभीष्ट को जहाँ छिपाया जाता है और जहाँ पर कुछ उपमा अन्तर्भूत होती है उसे अपह्नुति कहते हैं, प्रकृत अर्थ को छिपाने के कारण इसका यह नामकरण किया गया है। भामह ने ही अपह्नुति का यह उदाहरण दिया है—'यह मदसे मुखर भ्रमरपंक्ति बार-बार गुञ्जार नहीं कर रही है किन्तु कामदेव के खींचे जाते हुये धनुष की प्रत्यञ्चा सुनाई पड़ रही है।' इस अपह्नुति में भी 'भ्रमरपंक्ति कामदेव के धनुष की प्रत्यञ्चा के समान है' यह उपमा व्यक्त होती है किन्तु सौन्दर्य उपमा में नहीं अपह्नुति में है। इस पूरे प्रकरण का आशय यही है कि जिस प्रकार दीपक और अपह्नुति में उपमा की व्यञ्जना होते हुये भी कोई उन्हें उपमा के नाम से नहीं पुकारता क्योंकि सौन्दर्य का पर्यवसान उपमा में नहीं दीपन और अपह्नव में होता है। इसी प्रकार यद्यपि समासोक्ति और आक्षेप व्यङ्ग्यार्थ रहता है तथापि उसे कोई ध्वनि नहीं कह सकता क्योंकि वहाँ पर चारुत्वनिष्पत्तिरूप प्राधान्य वाच्य में रहता है व्यङ्ग्य में नहीं।

यहाँ तक यह सिद्ध किया जा चुका कि ध्वनि का अन्तर्भाव आक्षेप और समासोक्ति में नहीं हो सकता। अब अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति को लीजिये। भामह ने विशेषोक्ति का यह लक्षण किया है:—

'(कारणसमूह के) एक भाग के कम हो जाने पर जो किसी विशेषता को ख्यापित करने के लिये दूसरे गुणों की प्रशंसा की जाती है, उसे विशेषोक्ति कहते हैं।' दण्डी ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है:—

तारावती

गुण-जाति-क्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥

'किसी विशेषता को प्रकट करने के लिये ही जो गुण जाति इत्यादि की न्यूनता दिखलाई जाती है उसे विशेषोक्ति कहते हैं।' इसी आधार पर आचार्य दण्डी ने विशेषोक्ति के गुण-वैकल्य, क्रियावैकल्य इत्यादि भेद किये हैं। सरस्वतीकण्ठामरण में भी यही परिभाषा स्वीकार की गई है और वामन ने भी–'एकगुणहानकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः।' कहकर इसी लक्षण को पुष्ट किया है। किन्तु नवीन आचार्य इस लक्षण को नहीं मानते। काव्य-प्रकाशकार ने लिखा है—

'जहाँ कारणों की अखण्ड सत्ता विद्यमान हो उसे विशेषोक्ति कहते हैं।' इसी परिभाषा का अनुसरण साहित्यदर्पण में भी किया गया है और कुवलयानन्द में अप्पय दीक्षित ने भी इसी परिभाषा को अपनाया है। इस प्रकार विशेषोक्ति की परिभाषा के विषय में प्राचीनों और नवीनों में ऐकमत्य नहीं है। यद्यपि प्राचीनों की परिभाषा विशेषोक्ति इस नामकरण से अधिक संङ्गत हो जाती है तथापि नवीन आचार्यों ने जिस मत को व्यवस्थित रूप दे दिया है वही मान्यता को प्राप्त हो सकता है।

नवीन आचार्यों ने विशेषोक्ति के तीन भेद किये हैं—अचिन्त्य-निमित्ता, उक्तनिमित्ता और अनुक्त-निमित्ता। पुष्कल कारणों के होते हुये भी फलोत्पत्ति क्यों नहीं होती, इस निमित्त की प्रतीति व्यञ्जना के आधार पर होती है। कहीं-कहीं निमित्त इतना गुप्त होता है कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते, उसे अचिन्त्य-निमित्ता कहते हैं। वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती ही नहीं, अतः वह ध्वनि का विषय नहीं हो सकता। कहीं-कहीं पर निभित्त का कथन स्वयं कर दिया जाता है उसे उक्त-निमित्ता कहते हैं। वहाँ पर भी वाच्यवृत्ति में ही निमित्त का कथन होने के कारण ध्वनि का अवसर नहीं होता। तीसरा प्रकार वह होता है जिसके निमित्त का उपादान अभिहित नहीं होता किन्तु उसकी प्रतीति की जा सकती है। वह प्रतीति व्यञ्जना के ही आधार पर हो सकती है, अतः उसी में ध्वनि के अन्तर्भाव की शङ्का की जा सकती है। तीनों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। अचिन्त्य-मिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरणः—

'कुसुमायुध अकेला होते हुये मी तीनों लोकों को जीत लेता है। भगवान् शङ्कर ने उसके शरीर का अपहरण करते हुए भी बल का अपहरण नहीं किया।'

शङ्कर जी ने उसके बल का अपहरण क्यों नहीं किया इसका कारण समझ में नहीं आता। अतः यह अचिन्त्य निमित्ता विशेषोक्ति है। यहाँ पर व्यङ्ग्य की कोई सम्भावना नहीं। यह भामह का उदाहरण है। उक्त-निमित्ता विशेषोक्ति में भी अर्थ की परिसमाप्ति वस्तुस्वभाव में ही हो जाती है, उसमें अर्थान्तर व्यञ्जना की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अतएव वहाँ पर मी व्यङ्ग्य की सद्भावना की शङ्का नहीं हो सकती। जैसे—

लोचनम्

व्यङ्गयस्येति—शीतकृता खल्वार्तिरिति भट्टोद्भटः। तदभिप्रायेणाह—न त्वत्र काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति। यत्तु रसिकैरपि निमित्तं कल्पितम्—'कान्तासमागमे गमनादपि लघुतरमुपायं स्वप्नं मन्यमानो निद्रागमबुद्ध्या संकोचं नात्यजत्' इति तदपि निमित्तं चारुत्वहेतुतया नालङ्कारविद्भिः कल्पितम्, अपितु विशेषोक्तिभाग एव न शिथिलयतीत्येवंभूतोऽभिव्यज्यमाननिमित्तोपस्कृतश्चारुत्वहेतुः। अन्यथा तु विशेषोक्तिरेवेयं न भवेत्। एवमभिप्रायद्वयमपि साधारणोक्त्या ग्रन्थकृन्न्यरूपयन्न त्वौद्भटेनैवाभिप्रायेण ग्रन्थो व्यवस्थित इति मन्तव्यम्।

'व्यंग्यस्य' इति। निस्सन्देह यहाँ पर शीतकृत आर्ति निमित्त है यह भट्टोद्भट ने लिखा है, उस अभिप्राय से कह रहे हैं—यहाँ पर कोई चारुत्व की निष्पत्ति नहीं है' इत्यादि। जो कि रसिकों ने निमित्त की कल्पना की 'कान्तासमागम के विषय में भी गमन की अपेक्षा भी स्वप्न को लघुतर उपाय मानते हुए निद्रागम की बुद्धि से संकोच को नहीं छोड़ा। वह भी निमित्त-चारुत्वहेतुता के रूप में अलंकार-शास्त्रवेत्ताओं ने कल्पित नहीं किया है अपितु 'शिथिल नहीं करता' इस प्रकार का विशेषोक्ति भाग ही अभिव्यज्यमान निमित्त से उपस्कृत होकर चारुता में हेतु होता है। नहीं तो यह विशेषोक्ति ही न हो। इस प्रकार दोनों अभिप्रायों को साधारणोक्ति से ग्रन्थकार ने निरूपित किया है, उद्भट के अभिप्राय से हो ग्रन्थ नहीं व्यवस्थित है, ऐसा समझा जाना चाहिये।

तारावती

'कपूर के समान जला हुआ भी जो कामदेव प्रत्येक व्यक्ति पर अपनी शक्ति से सफलता प्राप्त कर लेता है उस अपारबलवाले कामदेव को मैं नमस्कार करता हूँ।' यहाँ पर कपूर के समान जलनारूप कारण उपस्थित है किन्तु शक्ति का ह्रासरूप कार्य उत्पन्न नहीं हुआ है। इसमें कारण यह है कि वह अपारबलवाला है। अपारबलवाला होने का उल्लेख कर ही दिया गया है। अतः यहाँ पर व्यङ्गय की आवश्यकता नहीं। यह उक्त-निमित्ता विशेषोक्ति है।

व्यङ्गयार्थ की आवश्यकता अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में पड़ती है। इसीलिये आलोककार ने उक्त दोनों प्रकारों को छोड़कर अनुक्त-निमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण दिया है—'पथिक को उसके साथी बुला भी रहें हैं; 'अच्छा' कह कर उसने उत्तर भी दिया है और निद्रा भी छोड़ दी है, जाना भी चाहता है, किन्तु निद्रा के संकोच को दूर नहीं कर रहा है।' यहाँ पर निद्रासङ्कोच को शिथिल करने के सभी कारण उपस्थित हैं, किन्तु वह फिर भी निद्रा-संकोच को शिथिल नहीं कर रहा है। इस प्रकार कारणों के सन्निहित होते हुये भी कार्य का न होना विशेषोक्ति है। इस कार्याभाव का कारण क्या हो सकता है? इस पर भट्टोद्भट

ध्वन्यालोकः

पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्गयत्वम्, तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेनाङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न पुनः पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्गयस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनभावेनाविवक्षितत्वात्।

(अनु०) पर्यायोक्त में भी यदि प्रधानतया व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाना चाहिये। ध्वनि का पर्यायोक्त में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि यह बात विस्तारपूर्वक प्रतिपादित की जावेगी कि ध्वनि का विषय भी व्यापक होता है और ध्वनि प्रधान भी होती है। दूसरी बात यह है कि भामह ने पर्यायोक्त का जैसा उदाहरण दिया है उससे व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता सिद्ध नहीं होती क्योंकि वहाँ पर वाच्यार्थ गौणरूप में विवक्षित है ही नहीं।

लोचनम्

पर्यायोक्तेऽपीति।

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥

इति लक्षणम्। यथा—

शत्रुच्छेददृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः।
रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना॥ इति।

अत्र भीष्मस्य भार्गवप्रभावाभिभावी प्रभाव इति यद्यपि प्रतीयते, तथापि तत्सहायेन देशिता धर्मदेशनेत्यभिधीयमानेनैव काव्यार्थोऽलङ्कृतः। अतएव पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यंग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम्। अर्थालङ्कारत्वं सामान्यलक्षणं चेति सर्वं युज्यते।

पर्यायोक्त में भी 'जो वाच्य-वाचक वृत्ति से शून्य अवगमनात्मक दूसरे प्रकार से कहा जावे उसे पर्यायोक्त कहते हैं। यह लक्षण है जैसे—'शत्रुनाश की दृढ इच्छावाले उत्पथगामी मुनि को राम के इस धनुष के द्वारा धर्मोपदेश दे दिया गया।'

यहाँ पर यद्यपि भीष्म का प्रभाव परशुराम के प्रभाव को अभिभूत करनेवाला है यह प्रतीत होता है तथापि उसकी सहायता से 'देशिता धर्मदेशना' (धर्मोपदेश दे दिया) इस अभिधीयमान के द्वारा ही काव्य अलंकृत किया जाता है। अतएव पर्याय से अर्थात् व्यंजनात्मक दूसरे प्रकार से उपलक्षित होकर जो अभिधावृत्तिगम्य होता है वह अभिधीयमान उक्त होकर ही पर्यायोक्त कहा जाता है, यह लक्षण पद है, पर्यायोक्त यह लक्ष्य पद है, अर्थालङ्कारत्व और सामान्य लक्षण यह सभी कुछ उचित ही ठहरता है।

तारावती

ने लिखा है कि 'वह शीत के कारण परेशान है, इसीलिये निद्रा के संकोच को नहीं छोड़ रहा है।' इस व्यङ्ग्यार्थ में न कोई चमत्कार है न चारुता। अतएव व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता न होने से हम उसे ध्वनि नहीं कह सकते। कुछ रसिकों ने दूसरे निमित्त की कल्पना की है—'वह इसलिये निद्रा नहीं छोड़ रहा है कि वह यह समझता है कि जाने में देर लगेगी। और यदि निद्रा आ गई तथा स्वप्न भी देखने को मिल गया तो प्रियतमा का समागम जाने की अपेक्षा भी अधिक सरलता से हो जावेगा। इसीलिये वह नींद लाना चाहता है।' इस पर मेरा निवेदन यह है कि अलङ्कार शास्त्र के विद्वानों ने इस निमित्त को भी वासनाहेतु नहीं माना है, अपितु अभिव्यक्त होनेवाले इस निमित्त से उपस्कृत होकर 'संकोच को ढीला नहीं कर रहा है' यह विशेषोक्ति भाग ही चारुता में हेतु है। यदि 'स्वप्न में नायिका दर्शन की आकांक्षारूप व्यङ्ग्यार्थ को ही प्रधान मानने का दुराग्रह किया जावेगा तो यहाँ पर विशेषोक्ति अलंकार हो ही नहीं सकेगा। यहाँ पर यह समझना भूल है कि ग्रंथकार ने केवल भट्टोद्भट के बतलाये हुये व्यङ्ग्यार्थ को मानकर ही उत्तर दिया है। वास्तविकता यह है कि इस उत्तर के देने में आलोककार के सामने दोनों अभिप्राय थे। इसीलिये उद्भट की व्याख्या का उल्लेख न कर आलोककार ने सामान्य रूप में ही कह दिया कि प्रकरणसामर्थ्य से व्यङ्ग्यार्थ की केवल प्रतीति होती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि विशेषोक्ति में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

अब पर्यायोक्त को लीजिये—भामह ने पर्यायोक्त का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

"(जब वाच्य अर्थ ही) वाच्य-वाचक वृत्तियों से भिन्न दूसरे ही व्यञ्जनात्मक प्रकार से अभिहित किया जावे तब उसे पर्यायोक्त कहते हैं।' (इसी लक्षण को उद्भट ने भी उद्धृत किया है और प्रतीहारेन्दुराज ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'वाचक की अर्थात् अभिधायक स्वशब्द की वृत्ति अर्थात् व्यापार होता है वाच्यार्थ का प्रत्यायन कराना। वाच्य अर्थात् अभिधेय का व्यापार होता है दूसरे वाच्य के साथ आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के माहात्म्य से संसर्ग को प्राप्त होना। इस प्रकार के शब्द का जो वाच्य-वाचकव्यापार, उसके बिना भी प्रकारान्तर से अर्थात् अर्थसामर्थ्यात्मक अवगमन स्वभाव से जो अवगत होता है वह पर्याय से स्वकण्ठ से न कहा हुआ भी सान्तराल शब्दव्यापार से अवगत होने के कारण पर्यायोक्त वस्तु कही जाती है। इससे स्वसंश्लेष के द्वारा काव्यार्थ अलंकृत किया जाता है।)

पर्याय शब्द का अर्थ है समानार्थक शब्द, जब अभीष्ट अर्थ को उन्हीं शब्दों में न कहकर पर्यायवाचक शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जाता है तब उसे पर्यायोक्त कहते हैं। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ये पर्यायवाचक शब्द घट के स्थान पर कलश कह देने के समान नहीं होते। यदि इसीप्रकार की पर्यायता यहाँ पर अभीष्ट होतो तो विच्छित्तिवैचित्र्य हो क्या रह जाता। अतएव यहाँ पर वृत्तियों का पर्याय होता है। जो बात अभिधावृत्ति से कही जाती है

तारावती

यदि वही बात चमत्कार के उद्देश्य से व्यञ्जनावृत्ति में कही जावे तब उसे पर्यायोक्त अलंकार कहते हैं। आचार्य दण्डी ने इसका लक्षण अधिक स्पष्ट रूप में दिया है :—

अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये।
तत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते॥

अर्थात् 'जब कथन के लिये अभीष्ट किसी अर्थ को साक्षात् शब्दों द्वारा न कहकर उसी सिद्धि के लिये दूसरे प्रकार से कहा जाता है उसे पर्यायोक्त कहते हैं।' साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—'जब गम्य अर्थ को ही कुछ बांकेपन के साथ कहा जावे तब उसे पर्यायोक्त कहते हैं।' काव्यप्रकाशकार ने यद्यपि कारिका में तो व्यंग्यार्थप्रतीति का उल्लेख नहीं किया है तथापि उसकी व्याख्या करते हुये लिखा है—'वाच्य-वाचकभाव से व्यतिरिक्त अवगमन (व्यञ्जना) व्यापार के द्वारा जो कि प्रतिपादन किया जाता है उसे ही बांकेपन के साथ प्रकारान्तर से कहने के कारण पर्यायोक्त कहते हैं।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि पर्यायोक्त एक ऐसा अलङ्कार है जिसमें ध्वनि के अन्तर्भाव का सबसे अधिक अवसर है। व्यञ्जना का यही अर्थ है कि अभीष्ट बात को सीधे न कहकर उसको इस सौन्दर्य के साथ घुमा-फिराकर कहा जावे कि सहृदय लोगों को उसकी अभिव्यक्ति हो जावे। पर्यायोक्त भी यही वस्तु है। अब प्रश्न यह है कि जब पुराने आचार्य पर्यायोक्त का वर्णन करते ही चले आ रहे हैं तब क्यों न ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त में ही कर दिया जावे, नया नामकरण करने की क्या आवश्यकता? आनन्दवर्धन ने इसका उत्तर यह दिया है कि यदि व्यंग्यार्थ में ही चमत्कार का पर्यवसान होता है और व्यंग्यार्थ ही मुख्य है तो हम उसको ध्वनि कहने के लिये बाध्य हैं और हमें पर्यायोक्त का ध्वनि में अन्तर्भाव करना होगा। क्योंकि ध्वनि केवल पर्यायोक्त में आनेवाले व्यंग्यार्थ तक ही तो सीमित नहीं, उसका क्षेत्र तो बहुत ही व्यापक है। यदि व्यंग्यार्थ गौण है और चमत्कार वाच्यार्थ में है तो उसमें ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

रुय्यक ने भी पर्यायोक्त का यह लक्षण किया है—'गम्य का भी दूसरी भंगिमा से अभिधान पर्यायोक्त कहलाता है। जो कुछ गम्य होता है उसी के अभिधान में पर्यायोक्त कहा जाता है।' इस पर प्रश्न उठाया है कि 'जो गम्य है उसका अभिधान कैसे हो सकता है?' और इसका उत्तर दिया है कि 'गम्य की अपेक्षा प्रतीयमान की सत्ता दूसरे ही रूप में होती है। उसी का, उसी समय, उसी विच्छित्ति के द्वारा वाच्यत्व और गम्यत्व सम्भव नहीं होता है। अतः अभिधान कार्यमुख से होता है। (कारण के प्रकरण में कार्य का वर्णन होता है और कारण प्रतीयमान होता है।) प्रस्तुत तो वहाँ पर कार्य भी होता ही है अतः वह भी वर्णनीय होता है।'

तारावती

पर्यायोक्त का उदाहरण यह है:—

'शत्रुओं के विनाश को जिनकी दृढ़ इच्छा थी, जो उचित मार्ग का अतिक्रमणकर चलनेवाले थे उन मुनि परशुराम को मेरे इस धनुष ने धर्म का उपदेश दे दिया।' (एक तो मुनि का शत्रु-भाव रखना ही अनुचित, फिर विनाश की इच्छा और उस पर दृढ़ता के साथ जमना तो और भी अनुचित है। ऐसे अधार्मिक को भी जिसने धर्म पर चलने के लिये वाध्य कर दिया उसके महत्त्व के विषय में जो कहा जावे वही थोड़ा है।)

यद्यपि यहाँ पर यह अभिव्यक्त होता है कि भीष्म का प्रभाव परशुराम के प्रभाव का अतिक्रमण करनेवाला है तथापि काव्यार्थ (वीररस) की शोभा 'धर्म सिखा दिया' इस वाच्यार्थ से ही बढ़ती है, व्यंग्यार्थ केवल उसका सहायक हो जाता है। इसीलिये (भामह का कहा हुआ) लक्षण, लक्ष्य, अलङ्कारता और सामान्य लक्षण सभी कुछ समीचीन सिद्ध होता है। पर्याय का अर्थ है प्रकारान्तर और वह प्रकार अवगमन या व्यञ्जनाव्यापार ही हो सकता है। उस व्यंग्यार्थ के द्वारा अवगत होकर जो बात कही जाती है उस कही हुई बात को ही उक्त कहते हैं और वही उक्त पर्यायोक्त कहलाता है। यह है लक्षण का वाक्य। आशय यह है कि जब लक्षण में ही कह दिया गया कि 'अभिधीयते' जो प्रकारान्तर से कहा जावे उसे पर्यायोक्त कहते हैं, तब व्यंग्यार्थ की प्रधानता में पर्यायोक्त हो ही नहीं सकता।) 'पर्यायोक्त' यह लक्ष्य वाक्य है, (इसमें भी उक्त शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका आशय है चमत्कारपूर्ण वाच्यार्थ को ही पर्यायोक्त कहते हैं।) पर्यायोक्त एक अलङ्कार है और अलङ्कार का सामान्य लक्षण है जो दूसरे को शोभित करे। यदि व्यंग्य की प्रधानता मानी जावेगी तो वह अलङ्कार्य हो जावेगा और उसकी अलङ्कारता तथा सामान्य लक्षण ठीक नहीं घट सकेगा। अतएव यही माना जाना चाहिये कि पर्यायोक्त में व्यंग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ ही शोभाधायक होता है और उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

(अलंकार सर्वस्व में पर्यायोक्त का यह उदाहरण दिया गया है—

स्पृष्टास्ताः नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः॥

यहाँ पर हयग्रीव के स्वर्गविजय का वर्णन करना है। किन्तु उसे उस रूप में न कहकर उसके कार्य का कथन कर दिया गया है। मम्मट का उदाहरण इस प्रकार है:—

यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः॥

यहाँ पर 'ऐरावत और शक्र मद-मान से रहित हो गये' यह व्यंग्य भी स्वशब्द से कहा जा रहा है। यहाँ पर जो कहा गया है वही व्यंग्य है। किन्तु अन्तर यह है कि जिस प्रकार व्यंग्य है उस प्रकार नहीं कहा जा रहा है। जैसे निर्विकल्पक और सविकल्पक का

लोचनम्

यदि त्वभिधीयत इत्यस्य बलाद्व्याख्यानमभिधीयते प्रतीयते प्रधानतयेति, उदाहरणं च 'भम धम्मिअ' इत्यादि, तदालङ्कारत्वमेव दूरे सम्पन्नमात्मतायां पर्यवसानात्। तदा चालङ्कारमध्ये गणना न कार्या। भेदान्तराणि चास्य वक्तव्यानि। तदाह—यदि प्राधान्येनेति। ध्वनाविति। आत्मन्यन्तर्भावादात्मैवासौ नालङ्कारः स्यादित्यर्थः।

और यदि 'अभिधीयते' इसके बल पर यह व्याख्यान हो 'अभिधीयते' अर्थात् प्रधानतया प्रतीतिगोचर होता है तथा उदाहरण 'भम धम्मिअ' इत्यादि (दिया जावे) तो अलङ्कारत्व ही दूर हो जायगा क्योंकि उसका पर्यवसान तो आत्मरूपता में हो गया। तब अलङ्कारों के मध्य में गणना नहीं करनी चाहिये और इसके दूसरे भेदों को भी कहा जाना चाहिये। यह कह रहे हैं—'यदि प्रधानतया' इत्यादि। 'ध्वनि में' इत्यादि। अर्थात् आत्मा में अन्तर्भाव होने के कारण यह आत्मा ही होगी अलङ्कार नहीं।

तारावती

ज्ञान एक जैसा ही होता है। गोत्व शुक्लत्व, और गमन क्रिया का ज्ञान होता है, किन्तु सविकल्पक ज्ञान में बौद्ध-दर्शन के अनुसार भेद अथवा अतद्व्यावृत्ति और व्याकरण-दर्शन के अनुसार संसर्ग अथवा नाम-जात्यादिरूप विशेषण विद्यमान रहता है जो निर्विकल्पक में नहीं होता। इस प्रकार वहाँ ज्ञान के प्रकारों में भेद होता है। इसीप्रकार पर्यायोक्त में भी प्रकारगत भेद ही होता है वस्तुगत नहीं।)

यदि दुराग्रह करके 'अभिधीयते' का यही अर्थ किया जावे कि 'प्रधानता से प्रतीत होता है' और प्रधानता से प्रतीत होनेवाले अर्थ को पर्यायोक्त कहा जावे तथा ध्वनि के उदाहरण 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि को इसके उदाहरण के रूप में रक्खा जावे तो वह अर्थ स्वमात्रपर्यवसित हो जावेगा, उसकी अलंकारता ही दूर जा पड़ेगी। (क्योंकि जो अलंकृत की जानेवाली वस्तु है वह अलंकार्य कैसे हो सकती है ?) तब ध्वनि के अनुकूल इसके दूसरे भेदों का कथन भी करना पड़ेगा। इसीलिये आलोककार ने कहा है कि यदि व्यंग्यार्थ प्रधान होगा तो ध्वनि में पर्यायोक्त का अन्तर्भाव करना पड़ेगा। ध्वनि में अन्तर्भाव का आशय यह है कि ध्वनिरूप आत्मा में जब उसका अन्तर्भाव हो जावेगा तब वह आत्मा ही बन जावेगा अलंकार नहीं हो सकेगा।

'ध्वनि का पर्यायोक्त में अन्तर्भाव नहीं हो सकता' इस कथन का आशय यह है कि जिस प्रकार के गौणव्यंग्यार्थ को आप अलंकाररूप में स्वीकार करते हैं उस प्रकार के व्यंग्यार्थ में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। कारण यह है कि ध्वनि का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है और गुण रीति इत्यादि काव्य के जितने भी तत्त्व हैं उन सबका वह प्रतिष्ठाभाजन भी है। अतएव ध्वनि को हम प्रधान कहेंगे ये गुण अलंकार में होते नहीं। अलंकार व्यापक नहीं हो

लोचनम्

तत्रेति। यादृशोऽलङ्कारत्वेन विवक्षितस्तादृशे ध्वनिर्नान्तर्भवति, न तादृगस्माभिर्ध्वनिरुक्तः। ध्वनिर्हि महाविषयः सर्वत्र भावाद्व्यापकः समस्तप्रतिष्ठास्थानत्वाच्चाङ्गी। न चालङ्कारो व्यापकोऽन्यालङ्कारवत्। न चाङ्गी, अलङ्कार्यतन्त्रत्वात्। अथ व्यापकाङ्गित्वे तस्योपगम्येते त्यज्यते चालङ्कारता, तर्ह्यस्मत्पक्ष एवायमवलम्ब्यते केवलं मात्सर्यग्रहात् पर्यायोक्तत्वाचेतिभावः। न चेयदपि प्राक्तनैर्दृष्टमपि त्वस्मानिरेवोन्मीलितमिति दर्शयति—

तत्र इति। जिस प्रकार का अलङ्काररूप में विवक्षित है उस प्रकार (के तत्त्व) में ध्वनि अन्तर्भूत नहीं होती (क्योंकि) हम लोगों ने वैसी ध्वनि नहीं कही है। ध्वनि महाविषयवाली होती है, सर्वत्र सत्ता के कारण व्यापक होती है तथा समस्त प्रतिष्ठा का स्थान होने के कारण अङ्गी होती है। कोई एक (विशेष) अलङ्कार व्यापक नहीं होता—अन्य अलङ्कारों के समान। अंगी भी नहीं होता—अलङ्कार्य के आधीन होने के कारण। यदि व्यापकता तथा अङ्गिता ही उसकी स्वीकार की जाती है और अलङ्कारता को छोड़ दिया जाता है तो मेरी ही नीति स्वीकार कर ली जाती है, केवल मात्सर्यग्रहण से पर्यायोक्त की वाणी के द्वारा (स्वीकार किया गया है।) यह आशय है। केवल इतना भी नहीं, पुराने लोगों ने नहीं देख पाया किन्तु हमने ही उन्मीलित किया है, यह दिखला रहे हैं—

तारावती

सकते, जैसे कटक कुण्डल इत्यादि नहीं होते।) यहाँ पर अनुमान प्रमाण के बल पर अलंकारों की व्यापकता का अभाव सिद्ध किया गया है। अलंकार पक्ष है, व्यापक न होना साध्य है, अलंकारत्व हेतु है और कटक कुण्डल इत्यादि उदाहरण हैं। आशय यह है कि जिस प्रकार आत्मा तो व्यापक होती है किन्तु आभूषण व्यापक नहीं हो सकते उसी प्रकार ध्वनि व्यापक हो सकती है अलंकार नहीं।) इसीप्रकार पर्यायोक्त अलंकार अङ्गी (प्रधान) भी नहीं हो सकता क्योंकि वह अलंकार्य के आधीन होता है (अर्थात् उसकी अलंकारता ही तब सिद्ध होती है जब वह किसी को अलंकृत करता है। जिसे अलंकृत करता है वही अङ्गी होता है, अलंकार अङ्ग ही हो सकता है। यदि आप पर्यायोक्त में प्रतीयमान अर्थ की व्यापकता और अलंकार्यता स्वीकार करने का आग्रह करते हैं तब तो नामका ही झगड़ा रह जाता है। तब तो फिर आप ध्वनि को स्वीकार ही कर लेते हैं। केवल द्वेषवश आप ध्वनि नाम को स्वीकार नहीं करते, हमारे माने हुये तत्त्व का ही नाम पर्यायोक्त रख देते हैं। अब यह दिखलाया जा रहा है कि प्राचीनों ने इस बात को भी नहीं पाया केवल हमने ही इसका उन्मीलन किया है। भामह के उदाहरण जैसे पर्यायोक्त में व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती ही नहीं। आशय यह है कि भामह को पर्यायोक्त का जैसा स्वरूप अभीष्ट था उन्होंने वैसा ही उदाहरण के द्वारा दिखलाया। यहाँ पर भी (अर्थात् उस उदाहरण में भी) व्यंग्य की प्रधानता नहीं है

लोचनम्

न पुनरिति। भामहस्य यादृक्तदीयं रूपमभिमतं तादृगुदाहरणेन दर्शितम्। तत्रापि नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं चारुत्वाहेतुत्वात्। तेन तदनुसारितया तत्सदृशं यदुदाहरणान्तरमपि कल्प्यते तत्र नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यमिति सङ्गतिः।

यदि तु तदुक्तमुदाहरणमनादृत्य 'भम धम्मिअ' इत्याद्युदाह्रियते तदस्मच्छिष्यतैव। केवलं तु नयमनवलम्ब्यापश्रवणेनात्मसंस्कारः इत्यनार्यचेष्टितम्। यदाहुरैतिहासिकाः—'अवज्ञयाऽप्यवच्छाद्य शृण्वन्नरकमृच्छति' इति। भामहेन ह्युदाहृतम्—

गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः।
विप्रा न भुञ्जते, इति।

एतद्धि भगवद्वासुदेववचनं पर्यायेण रसदानं निषेधति। यत्स एवाह—'तच्च रसदाननिवृत्तये' इति। न चास्य रसदाननिषेधस्य व्यङ्ग्यस्य किञ्चिच्चारुत्वमस्ति येन प्राधान्यं शङ्क्येत। अपितु तद्व्यङ्ग्योपोद्बलितं विप्रभोजनेन विना यत्र भोजनं तदेवोक्तप्रकारेण पर्यायोक्तं सत् प्राकरणिकं भोजनार्थमलङ्कुरुते।

न पुनः इत्यादि। भामह को जैसा उसका रूप अभिमत है वैसा उदाहरण के द्वारा दिखला दिया गया। उसमें भी व्यंग्य की प्रधानता नहीं होती क्योंकि वह चारुत्व में हेतु नहीं होता। उससे इसके अनुसरण करने से उसके समान जो दूसरे उदाहरण की भी कल्पना की जावे उसमें भी व्यंग्य की प्रधानता ही (सिद्ध होती है) इस प्रकार असङ्गति नहीं है।

यदि उनके बतलाये हुए उदाहरण का अनादर करके 'भम धम्मिअ' इत्यादि का उदाहरण दिया जाता है तो हमारी शिष्यता ही हो गई। केवल (शिष्य की) नीति का अवलम्बन कर अपश्रवण से आत्मसंस्कार कर लिया यह अनार्यचेष्टा ही है। जैसा कि ऐतिहासिकों ने कहा है—(विद्या तथा गुरु के विषय में) 'अवज्ञा के द्वारा भी अपने को छिपाकर सुनते हुए नरक को प्राप्त होता है।' भामह ने यह उदाहरण दिया है—

'घरों में या मार्गों में (वह) अन्न हम लोग नहीं खाते जो अधीती ब्राह्मण नहीं खा लेते।'

निस्सन्देह यह भगवान् वासुदेव का वचन पर्यायोक्त से विषदान का निषेध करता है। जैसा कि उन्होंने ही कहा है—'और वह विषदान की निवृत्ति के लिये था' इस व्यंग्य रसदान निषेध की कोई चारुता नहीं है जिससे प्राधान्य की शंका की जावे। अपितु उस व्यंग्य से युक्त (उससे बढ़ाया हुआ) जो विप्रभोजन के बिना भोजन न करना है वही उक्त प्रकार से पर्यायोक्त होकर प्राकरणिक भोजनार्थ को अलंकृत करता है। इनका यह कथन अभीष्ट नहीं है

लोचनम्

नह्यस्य निर्विषं भोजनं भवत्विति विवक्षितमिति पर्यायोक्तमलङ्कार एवेति चिरन्तनानामभिमत इति तात्पर्यम् ।

कि 'निर्विष भोजन हो', इस प्रकार पर्यायोक्त अलंकार ही है, यह चिरन्तनों के लिये अभिमत है, यह तात्पर्य है।

तारावती

क्योंकि वहाँ पर व्यंग्यार्थ चारुता में हेतु नहीं है। अतएव उनके अनुकरण पर यदि दूसरे उदाहरणों की भी कल्पना की जावेगी तो उसमें भी व्यंग्यार्थ की प्रधानता नहीं रखनी पड़ेगी। अर्थात् अलंकार के क्षेत्र में जब भामह को महत्ता दी जाती है और भामह के बतलाये हुये मार्ग पर अलंकारों का विवेचन किया जाता है तो उन्हीं के बतलाये हुये मार्ग पर दूसरे उदाहरणों की भी कल्पना करनी पड़ेगी। भामह ने अपने उदाहरण में व्यंग्यार्थ की प्रधानता रक्खी नहीं, अतएव दूसरे भी ऐसे ही उदाहरण देने पड़ेंगे जिनमें व्यंग्यार्थ प्रधान न हो। यही ग्रन्थ की सङ्गति है।

यदि भामह के दिये हुये उदाहरण का अनादर करके 'भम धम्मिअ' यह ध्वनि का प्रसिद्ध उदाहरण पर्यायोक्त के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो यह तो हमारा शिष्य बन जाना ही होगा। केवल अन्तर यह रह जावेगा कि शिष्यों की नीति का सहारा न लेकर अशुद्ध रूप में इधर-उधर से सुनी हुई बात के आधार पर अपना संस्कार कर लेना कहा जावेगा जो कि सर्वथा अनार्य चेष्टा होगी। (आशय यह है कि 'भम धम्मिअ' यह व्यंग्यार्थ का उदाहरण तो हम ध्वनिवादियों की ओर से दिया गया है। यदि तुम उसे स्वीकार कर लेते हो तो तुम हमारे शिष्य बन गये। अन्तर केवल यह रह गया कि तुम नियमपूर्वक शिष्यों का कर्तव्य पालन करते हुये गुरुमुख से विद्या पढ़ते उसके स्थान पर इधर उधर से सुन-सुनाकर तुमने आत्मसंस्कार कर लिया और पण्डित बन गये। यह भी तो तुम्हारी अनार्य चेष्टा ही रही।) ऐतिहासिक लोग कहते हैं कि—'गुरु तथा विद्या का अपमान करते हुए अपने को छिपाकर विद्या का श्रवण करते हुए भी नरक को जाता है।' (ये शब्द मनोरञ्जन के उद्देश्य से उपहासपरक हैं।) भामह ने पर्यायोक्त का यह उदाहरण दिया है—'रत्नाहरण' में कृष्ण शिशुपाल के यहाँ गये हैं। शिशुपाल ने भोजन तैय्यार कराया है। भगवान् कृष्ण को शत्रु के यहाँ भोजन करने में विष की शंका हो जाती है। अतः वे कहते हैं—जो अन्न अधीती ब्राह्मण नहीं खा लेते उसे हम लोग घर में भी नहीं खाते और मार्ग में भी (यात्रा में भी) नहीं खाते।' यह भगवान् वासुदेव का वचन व्यञ्जनावृत्ति से विषदान का निषेध करता है जैसा कि स्वयं भामह ने व्यंग्यार्थ की व्याख्या करते हुये लिखा है कि 'ये शब्द विषदान की निवृत्ति के उद्देश्य से कहे गये हैं।' यहाँ पर व्यंग्यार्थ है विषदान का निषेध। उसमें किसी प्रकार की चारुता नहीं है जिससे उसकी प्रधानता का सन्देह किया जावे। किन्तु 'विप्रभोजन के बिना जो भोजन न करना'—रूप वाच्यार्थ है वही उक्त व्यंग्यार्थ से विशेषता को प्राप्त होकर उक्त

ध्वन्यालोकः

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव ।

(अनु०) अपह्नुति और दीपक के विषय में यह तो प्रसिद्ध ही है कि इनमें वाच्य की ही प्रधानता होती है और व्यङ्ग्य उसका अनुयायी होता है ।

लोचनम्

अपह्नुतिदीपकयोरिति । एतत्पूर्वमेव निर्णीतम् । अत एवाह प्रसिद्धमिति । प्रतीतं प्रसाधितं प्रामाणिकं चेत्यर्थः । पूर्वं चैतदुपमाव्यपदेशभाजनमेव तद्यथा न भवतीत्यमुया छायया दृष्टान्ततयोक्तमप्युद्देशक्रमपूरणाय ग्रन्थशय्यां योजयितुं पुनरप्युक्तं 'व्यंग्यप्राधान्याभावान्न ध्वनिरि'ति ।

छायान्तरेण वस्तु पुनरेकमेवोपमाया एव व्यंग्यत्वेन ध्वनित्वाशङ्कनात् । यत्तु विवरणकृत्—दीपकस्य सर्वत्रोपमान्वयो नास्तीति बहुनोदाहरणप्रपञ्चेन विचारितवांस्तदनुपयोगि निस्सारं सुप्रतिक्षेपं च ।

अपह्नुतिदीपकयोरिति । यह पहले ही निर्णय कर दिया । इसीलिये कह रहे हैं –प्रसिद्धमिति । अर्थात् प्रतीत, प्रसाधित तथा प्रामाणिक । पहले यह उपमा इत्यादि नामवाला ही जिस प्रकार नहीं होता इस छाया के द्वारा (अर्थात् इस प्रकार) दृष्टान्त के रूप में कहा हुआ भी उद्देश क्रम की पूर्ति के लिये ग्रन्थशय्या की योजना करने के निमित्त पुनः कह दिया गया— 'व्यंग्य की प्रधानता के अभाव के कारण ध्वनि नहीं होती ।' वस्तु एक ही है (किन्तु) दूसरी छाया के द्वारा कही गई है क्योंकि उपमा की ही व्यंग्य के रूप में शंका की जा सकती है । जो कि विवरणकार ने—दीपक का सर्वत्र उपमान्वय नहीं होता इस पर बहुत से उदाहरणों के प्रपञ्च के द्वारा विचार किया है वह अनुपयोगी है, निस्सार है तथा उसका प्रतिषेध भी सरलतापूर्वक हो सकता है ।

तारावती

प्रकार से पर्यायोक्त का रूप धारण करके प्राकरणिक भोजनार्थ को अलंकृत कर देता है । (आशय यह है कि 'मैं भोजन नहीं करूँगा क्योंकि इसमें विष है' इस व्यंग्यार्थ में कोई सौन्दर्य नहीं । सौन्दर्य की प्रतीति तब होती है जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि कृष्ण को भोजन में विष की आशंका है और कह यह रहे हैं कि 'मैं मार्ग में भी ऐसा भोजन नहीं करता जिसको पहले अधीती ब्राह्मण खा नहीं लेते ।' इस प्रकार व्यंग्यार्थ पर ध्यान रखते हुये जब हम कृष्ण को वचनभङ्गिमा पर विचार करते हैं तब हमें उस कथन में ही चारुता की अनुभूति होती है ।) कृष्ण का विवक्षित अर्थ यह नहीं है कि भोजन निर्विष होना चाहिये । (उनका विवक्षित तो यही है कि मैं भोजन नहीं करूँगा) अतएव पर्यायोक्त को अलंकार मानना ही प्राचीन आचार्यों को अभीष्ट था । यही प्रस्तुत ग्रन्थ का तात्पर्य है । (इस प्रकार लक्षण, लक्ष्य, अलंकारता, सामान्य लक्षण और उदाहरण इन सभी दृष्टियों से सिद्ध कर दिया कि पर्यायोक्त में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।)

लोचनम्

मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभञ्जनम् ।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां सासह्यां मनसः शुचम् ॥ इति ॥

अत्राप्युत्तरोत्तरजन्यत्वेऽप्युपमानोपमेयभावस्य सुकल्पत्वात् । नहि क्रमिकाणां नोपमानोपमेयभावः । तथाहि—

राम इव दशरथोऽभूद् दशरथ इव रघुरजोऽपि रघुसदृशः ।
अज इव दिलीपवंशश्चित्रं रामस्य कीर्तिरियम् ॥

इति न भवति । तस्मात्क्रमिकत्वं समं वा प्राकरणिकत्वमुपमां निरुणद्धीति कोऽयं त्रासः इत्यलं गर्दभीदोहानुवर्तनेन ।

'मद प्रीति को उत्पन्न करता है, वह मानभजन अनङ्ग को उत्पन्न करती है, वह प्रियासङ्गम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, वह असह्य मन के शोक को उत्पन्न करती है ।'

यहाँ पर उत्तरोत्तर जन्यत्व होने पर उपमानोपमेयभाव की कल्पना सरलतापूर्वक की जा सकती है । क्रमिकों का उपमानोपमेयभाव नहीं होता, यह नहीं कहना चाहिये । वह इस प्रकार :—

'राम के समान दशरथ हुये, दशरथ के समान रघु और अज भी रघु के समान (हुये) अज के समान दिलीप वंश हुआ । राम की यह कीर्त्ति विचित्र है ।'

यह नहीं होता यह बात नहीं । अतएव क्रमिकत्व या समानता या प्राकरणिकत्व उपमा को रोक देता है यह क्या भय, बस अधिक गर्दभी-दोहन का अनुवर्तन व्यर्थ है ।

तारावती

अब दीपक और अपह्नुति को लीजिये । इनके विषय में पहले ही निर्णय किया जा चुका है । (इन दोनों अलङ्कारों में उपमा व्यङ्गय होती है ।) और दीपक तथा अपह्नुति ये दोनों वाच्य होते हैं । यह बात प्रसिद्ध हीं है कि इन में वाच्य दीपक तथा अपह्नुति प्रधान होते हैं और व्यङ्गय उपमा उनकी अनुवर्तिका मात्र होती है ।) यहाँ पर प्रसिद्ध शब्द के तीन अर्थ हैं -- इनमें उपमा की अप्रधानता स्पष्ट प्रतीत होती है; सिद्ध भी की जा चुकी है और प्रमाणप्रतिपन्न भी है । अपह्नुति और दीपक के विषय में पहले भी कह चुके हैं और अब पुनः इन पर विचार प्रारम्भ किया है । अतएव पूछा जा सकता है कि पुनः विचार करने की क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर यह है कि पहले समासोक्ति और आक्षेप के प्रकरण में यह दिखलाने की आवश्यकता थी कि व्यङ्गयार्थ भी गौण हो सकता है । इस विषय में दीपक और अपह्नुति का ऐसा दृष्टान्त है कि जिसको अलङ्कार सम्प्रदायवाले भी अस्वीकार नहीं कर सकते । इन अलङ्कारों में उपमा व्यङ्गय होती है किन्तु उपमा कहकर उन्हें कोई नहीं पुकारता क्योंकि वहाँ पर उपमा में सौन्दर्य का पर्यवसान नहीं होता । इस बात को सिद्ध करने के लिये वहाँ पर दृष्टान्त के रूप में इन दोनों अलङ्कारों का उल्लेख हुआ था । यहाँ

तारावती

इन पर विचार इसलिये किया गया कि जिन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव दिखलाने की प्रतिज्ञा की गई थी उनमें दीपक और अपह्नुति ये दो अलङ्कार भी थे। इन अलङ्कारों का उल्लेख पर्यायोक्त के बाद किया गया था। अतः उद्देशक्रम को पूरा करने के लिये तथा ग्रन्थ की सङ्गति बिठाने के लिये पुनः कह दिया कि व्यंग्य की प्रधानता न होने से इन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। बात वही है जो पहले कही गई थी। यहाँ पर प्रकारान्तर से वही बात दुहरा दी गई है। क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ के रूप में उपमा की ही प्रधानता की शङ्का की जा सकती थी। (उसी का निराकरण वहाँ किया था और उसी का निराकरण यहाँ किया गया है।) जो कि विवरणकार ने लिखा है कि दीपक का उपमा के साथ सर्वत्र अन्वय नहीं होता और बहुत से उदाहरणों के प्रपञ्च के द्वारा उस पर विचार किया है वह अनुपयोगी भी है, निस्सार भी है और उसका खण्डन भी आसानी से किया जा सकता है। जैसे भामह का उदाहरण लीजिये—

'मद प्रीति को उत्पन्न करता है, प्रीति मान को नष्ट करनेवाले कामदेव को उत्पन्न करती है कामदेव प्रियतमा के सहवास की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है और वह उत्कण्ठा मन की असह्य वेदना को उत्पन्न करती है।'

यहाँ पर भी यद्यपि एक के बाद दूसरे की उत्पत्ति होती है तथापि इनका भी उपमानोपमेयभाव सरलता से कल्पित किया जा सकता है। 'जैसे मद प्रीति को उत्पन्न करता है उसी प्रकार प्रीति काम को उत्पन्न करती है; जैसे प्रीति काम को उत्पन्न करती है उसीप्रकार काम प्रियासमागम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, जिस प्रकार काम प्रियासङ्गम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, उसीप्रकार वह उत्कण्ठा असह्य मनस्ताप को उत्पन्न करती है।' यह उपमा सरलता से कल्पित की जा सकती है। यह बात नहीं है कि क्रमशः आनेवाले शब्दों का उपमानोपमेयभाव बनता नहीं। उदाहरण लीजिये—

'राम के समान दशरथ हुये, दशरथ के समान रघु हुये, रघु के समान दिलीप हुये। यह राम की कीर्ति विचित्र ही है।

यहाँ पर क्रमशः आनेवाले शब्दों का उपमानोपमेय भाव नहीं बनता यह बात नहीं है। अतएव क्रमिकता का होना अथवा प्रकरण की समानता उपमा का निरोध कर देते हैं यह कौन सी डराने की बात आप कह रहे हैं। जाने दो और अधिक गदही दुहने की चेष्टा व्यर्थ है। (यह एक मजाक है।)

अब सङ्करालंकार को ले लीजिये—प्राचीन आचार्यों (भामह दण्डी इत्यादि) ने दो अलङ्कारों के एक में मिलने को संसृष्टि अलङ्कार कहा था। उन्होंने सङ्कर नाम का कोई अल-

ध्वन्यालोकः

सङ्करालङ्कारेऽपि यदालङ्कारोऽलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम् । अलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम् । अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरितिवक्तुं शक्यम् । पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायात् । अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति ।

(अनु०) सङ्कर अलङ्कार में भी जब एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार की छाया को ग्रहण करता है वहाँ व्यंग्यार्थ के प्राधान्य की विवक्षा ही नहीं होती । अतएव वह स्थान ध्वनि का लक्ष्य हो ही नहीं सकता । जहाँ पर दो अलङ्कारों की सम्भावना हो वहाँ पर भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रधानता समान होती है । (अतः वहाँ भी ध्वनि नहीं हो सकती) यदि साङ्कर्य में वाच्य के गौण हो जाने से व्यंग्यार्थ प्रधानरूप में अवस्थित होता है तो वह भी ध्वनि का विषय (लक्ष्य) हो सकता है; वही ध्वनि नहीं होती । जैसा कि पर्यायोक्त में सिद्ध किया जा चुका है । दूसरी बात यह है कि कहीं भी किसी अलंकार में सङ्कर यह नामकरण ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है ।

लोचनम्

सङ्करालङ्कारेऽपीति ।

विरुद्धालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसंभवे ।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः ॥

इति लक्षणादेकः प्रकारः । यथा ममैव—

संकरालंकार में भी यह :—

'विरुद्ध अलंकारों के उल्लेख में, एक साथ उनकी वृत्ति के असम्भव होने पर तथा एक के ग्रहण में न्याय तथा दोष के अभाव में संकर (अलंकार) होता है ।

इस लक्षण से एक प्रकार हुआ । जैसे मेरा ही—

तारावती

ङ्कार नहीं माना था । किन्तु परवर्ती आचार्यों ने परस्पर मिलने वाले अलङ्कारों के दो भेद कर दिये (१) जहाँ मिलनेवाले अलङ्कार स्वमात्रपर्यवसित होते हैं और उन्हें एक दूसरे की अपेक्षा नहीं होती, इस प्रकार के सम्मिलन को संसृष्टि कहते हैं । संसृष्टि में पृथक् रूप में ध्वनि के अन्तर्भाव की शङ्का ही नहीं हो सकती क्योंकि उसमें सभी अलङ्कार स्वतन्त्र होते हैं और स्वतन्त्र अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता यह सिद्ध ही किया जा चुका है । (जहाँ पर दो या दो से अधिक अलङ्कार एक दूसरे के प्रति सापेक्षभाव से स्थित होते हैं वहाँ पर सङ्कर अलङ्कार होता है । इन आचार्यों ने सङ्कर अलङ्कार के चार भेद किये हैं—सन्देह सङ्कर, शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का एक विषयानुप्रवेश सङ्कर, अर्थालङ्कारों

लोचनम्

शशिवदना सितसरसिजनयना सितकुन्ददशनपङ्क्तिरियम्।
गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना॥

अत्र शशी वदनमस्याः तद्वद्वा वदनमस्या इति रूपकोपमोल्लेखाद्युगपद्द्वयासम्भवादेकतरपक्षत्यागग्रहणे प्रमाणाभावात् सङ्कर इति व्यङ्ग्यवाच्यताया एवानिश्चयात्का ध्वनिसम्भावना। योऽपि द्वितीयः प्रकारः शब्दार्थालङ्काराणामेकत्र भाव इति तत्रापि प्रतीयमानस्य का शङ्का। यथा 'स्मर स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात्।' इति। अत्रैव यमकमुपमा च। तृतीयः प्रकारः—यत्रैकत्र वाक्यांशेऽनेकोऽर्थालङ्कारस्तत्रापि द्वयोः साम्यात्कस्य व्यङ्ग्यता। यथा—

तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रतिभास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगुहाम्॥ इति॥

अत्र हि स्वामिविपत्तिरुचितव्रतग्रहणहेवाकिकुलपुत्रकरूपणमेकदेशविवर्तिरूपकं दर्शयति। उत्प्रेक्षा चेवशब्देनोक्ता। तदिदं प्रकारद्वयमुक्तम्।

शब्दार्थवर्त्यलङ्काराः वाक्य एकत्र वर्तिनः।
सङ्करश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते॥ इति च॥

चतुर्थस्तु प्रकारः यत्रानुग्राह्यानुग्राहकभावोऽलङ्काराणाम्। यथा—

'चन्द्रवदना, नीलकमललोचना, श्वेतकुन्ददशनपंक्ति यह (नायिका) विधाता के द्वारा आकाश, जल और भूमि के सार से सम्भव हृद्य आकार की बनाई गई है।'

यहाँ पर 'चन्द्रमा है वदन जिसका' अथवा 'चन्द्रमा के समान बदन है जिसका' इस रूपक और उपमा के उल्लेख से एक साथ दो के असम्भव से, एकतर पक्ष के त्याग तथा ग्रहण में प्रमाण न होने से संकर (है) इस प्रकार व्यंग्य और वाच्य का ही निश्चय न होने से ध्वनि की सम्भावना ही क्या? जो दूसरा भी प्रकार है–शब्द और अर्थ अलंकारों का एकत्र होना उसमें भी प्रतीयमान की क्या शंका? जैसे 'स्मर के समान प्रियतम का स्मरण करो जिसको आलिङ्गन के द्वारा रमण कराती हो।' यहीं पर यमक और उपमा है। तृतीय भी प्रकार—जहाँ एकत्र वाक्यांश में अनेक अर्थालंकार हों वहाँ भी दोनों के साम्य से किसकी व्यंग्यता? जैसे—

'तुल्य उदय और अवसान होने से सूर्य के अस्त की ओर चले जाने पर क्लान्त दिन निवास के लिये अन्धकार रूपी गुफा में मानों प्रविष्ट हो रहा हो।'

यहाँ पर स्वामी की विपत्ति के योग्य व्रत ग्रहण के लिये उद्युक्त कुलयुवक का आरोप एकदेशविवर्ति रूपक को प्रकट करता है और उत्प्रेक्षा इव शब्द से कही गई है। वह इस प्रकार दो प्रकार बतलाये गये हैं।

'शब्द और अर्थवर्ती अलंकार एक वाक्य में रहनेवाले अथवा एक वाक्यांश में अनुप्रवेश से संकर कहा जाता है।' और यह चौथा तो प्रकार (वहाँ पर होता है) जहाँ पर अलंकारों का अनुग्राह्यानुग्राहकभाव हो। जैसे—

तारावती

का एकविषयानुप्रवेश संकर और अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर। परवर्ती आचार्यों ने दूसरे और तीसरे भेद (शब्दार्थालंकारों का एकविषयानुप्रवेश तथा अर्थालङ्कारों का एकविषयानुप्रवेश) एक ही में मिला दिये और साधर्म्य के आधार पर दोनों का एक विषयानुप्रवेश यह नाम रख दिया। इस प्रकार ये आचार्य सङ्कर के केवल तीन भेद ही मानते हैं। दीधितिकार का यह भ्रम है कि नवीन आचार्यों ने शब्दार्थालङ्कारों के एकविषयानुप्रवेश को संसृष्टि मान लिया जिससे नवीनों के मत में तीन भेद रह गये। सभी नवीन आचार्य शब्दार्थालङ्कार के एकविषयानुप्रवेश को सङ्कर ही मानते हैं। संसृष्टि और सङ्कर में भेद यह होता है कि जहाँ विभिन्न शब्दों से अलङ्कार प्रकट होते हैं वहाँ उनकी संसृष्टि होती है और जहाँ एक ही शब्द से विभिन्न अलङ्कार प्रकट होते हैं वहाँ सङ्कर होता है।

संकर और संसृष्टि की मान्यता के आधार और उनके विषय विभाजन पर रुय्यक ने अच्छा प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि—'उक्त अलंकारों का यथासम्भव कहीं कथन हो तो क्या वे सब पृथक्-पृथक् अलंकार माने जावेंगे या कोई अन्य अलंकार होगा? इस विषय में कहा जा सकता है कि जैसे बाह्यालंकारों में सुवर्ण, मणिमय इत्यादि पृथक्-पृथक् अलंकार शरीर को पृथक्-पृथक् रूप में आभूषित करते हैं, साथ ही उनकी संयोजना भी नवीन सौन्दर्य को जन्म देती है। इसीप्रकार अनेक अलंकारों की योजना में भी पृथक् पर्यवसान नहीं होता अपितु उसे दूसरा अलंकार कहना ही ठीक होगा। अनेक अलंकारों के योग में भी संयोगन्याय से स्फुटावगम और समवायन्याय से अस्फुटावगम ये दो प्रकार होते हैं। प्रथम को संसृष्टि और द्वितीय को संकर कहते हैं। अतएव तिलतण्डुलन्याय और क्षीर-नीर न्याय उनकी यथार्थता को बतलाते हैं।)

विश्वनाथ ने तो एक शब्द से प्रकट होनेवाले दो शब्दालंकारों को भी संकर ही माना है। यहाँ पर लोचनकार ने चार भेद मानकर संकर का निरूपण किया है। संकर का प्रथम प्रकार यह है—

'जहाँ एक ही स्थान पर दो विरुद्ध अलंकारों का उल्लेख किया जा सकता हो, एक साथ दोनों का हो सकना सम्भव न हो; न तो एक के ग्रहण करने में कोई न्याय हो और न दूसरे के त्याग के लिये कोई बाधक हो वहाँ पर संदेह सकर होता है।" जैसे मेरा (लोचनकारका) पद्य—

'ब्रह्माजी ने शशिवदना, नीलकमलनयना, श्वेतकुन्ददशनपंक्ति इस नायिका को आकाश, जल और स्थल से उत्पन्न मनोहर आकारवाली बनाया है।' आशय यह है कि इस नायिका का मुखचन्द्र आकाश का तत्त्व है नीलकमलनयन जल का तत्त्व है और श्वेतकुन्ददशन भूमि का तत्त्व है, इस प्रकार यह नायिका मनोहरता में पृथ्वी जल और आकाश तीनों का सार भाग है। यहाँ पर शशिवदना इत्यादि शब्दों में बहुव्रीहि समास है। इसका विग्रह दो

तारावती

प्रकार से किया जा सकता है। (१) चन्द्रमा है वदन जिसका और (२) चन्द्रमा के समान है वदन जिसका। प्रथम विग्रह में रूपक होगा और द्वितीय में उपमा। दोनों एक साथ हो नहीं सकते। एक को स्वीकार करने और दूसरे को छोड़ने में न कोई साधक प्रमाण है और न बाधक। अतएव यहाँ पर सन्देह संकर अलंकार है। इसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि एक तो इसमें वाच्य और व्यङ्ग्य का ही निश्चय नहीं, दूसरे यह निश्चय नहीं कि यहाँ पर कौन सा अलंकार माना जावे। अतएव यहाँ पर ध्वनि का प्रश्न ही नहीं उठता। (२) दूसरे प्रकार का संकर अलंकार वहाँ पर होता है जहाँ एक ही स्थान पर एक शब्दालंकार हो और एक अर्थालंकार। जैसे 'स्मर स्मरमिव प्रियम्—कामदेव के समान अपने प्रिय का स्मरण करो जिसको आलिङ्गन के द्वारा तुम रमण कराया करती हो।' यहाँ पर 'स्मर स्मर' में यमक है और 'कामदेव के समान कहने में उपमा है। ये दोनों अलंकार 'स्मर' शब्द से ही अवगत होते हैं अतः यह एकविषयानुप्रवेश संकर है। (इसमें व्यङ्ग्यार्थ की सम्भावना ही नहीं फिर ध्वनि का प्रश्न ही कैसा?) (३) जहाँ एक ही वाक्यांश में कई अर्थालंकार हों वहाँ तीसरे प्रकार का संकर होता है। जैसे—

'उदय और अवसान में एकरूपता के कारण जब भगवान् भास्कर अस्ताचल की ओर प्रस्थान कर गये तब क्लान्त दिवस वास करने के उद्देश्य से तमोगुहा में मानो प्रविष्ट हो रहा है।' (अर्थात् सूर्य और दिन का उदय और अस्त साथ साथ होता है। सूर्य अस्त हो गया अतएव दिन भी क्लान्त हो कर अन्धकाररूपी गुफा में घुस गया।)

यहाँ पर सूर्य स्वामी है, उसका अस्ताचल को चला जाना विपत्ति में पड़ना है। दिन कुलपुत्रक (सेवक?) है। दिन का अन्धकाररूपी गुफा में प्रवेश करना सेवक का साधन-निरत होना है। जिस प्रकार स्वामी के विपत्ति में पड़ जाने पर उसके अधीन ही उत्थान-पतन को प्राप्त करनेवाला सेवक अपने स्वामी के उत्थान की कामना से किसी गुफा में प्रवेश कर साधनानिरत हो जावे उसीप्रकार सूर्य के अस्ताचल की ओर पस्थान कर जाने पर दिन भी अन्धकाररूपी गुफा में प्रविष्ट होकर साधना-निरत हो गया। यहाँ पर अन्धकारपुञ्ज पर गुफा का आरोप किया गया है। उसके अनुसार सूर्य पर स्वामी का, दिवस पर सेवक का और अस्ताचलगमन पर विपत्ति पड़ने का आरोप होना चाहिये जो नहीं किया गया है। अतएव यहाँ पर एकदेशविवर्ति रूपक अलंकार की प्रतीति होती है। 'विशतोव' में इव शब्द के द्वारा उत्प्रेक्षा प्रकट की गई है। इन दोनों अलंकारों का एकविषयानुप्रवेश संकर है। दूसरे और तीसरे प्रकारों का, वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया गया है—

'जहाँ शब्द और अर्थ में रहनेवाले अलंकार (अर्थात् शब्दालंकार और अर्थालंकार) एक वाक्य में विद्यमान हों अथवा एक वाक्यांश में विद्यमान हों तो उसे संकर अलंकार कहते हैं।'

लोचनम्

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥

अत्र मृगाङ्गनावलोकनेन तदवलोकनस्योपमा यद्यपि व्यङ्ग्या, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालङ्कारस्याभ्युत्थानकारिणीत्वेनानुग्राहकत्वाद्गुणीभूता, अनुग्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम् । यथोक्तम्—

परस्परोपकारेण यत्रालङ्कृतयः स्थिताः ।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभ नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः ॥

'प्रकृष्ट वायु में पड़े हुये नील कमल से बिल्कुल विशेषता न रखनेवाली विशालनेत्रोंवाली (उस पार्वती) का धैर्यरहित (चञ्चल) अवलोकन न जाने उसने मृगाङ्गनाओं से लिया या मृगाङ्गनाओं ने उससे लिया ।'

यहाँ पर मृगाङ्गनाओं के अवलोकन से उसके अवलोकन की उपमा यद्यपि व्यंग्य है तथापि सन्देहालंकार (रूप) वाक्य की वह उत्थानकारिणी होने के कारण सन्देह में पर्यवसान होता है । जैसा कि कहा गया है—

'परस्पर उपकार के द्वारा जहाँ अलंकार स्थित हों और स्वतन्त्रता से आत्मालाभ न प्राप्त करें वह भी संकर (होता है) ।

तारावती

जहाँ कई अलंकारों में एक दूसरे के प्रति अनुग्राह्यानुग्राहकभाव हो वह चौथे प्रकार का संकर (अङ्गाङ्गिभाव संकर) होता है । जैसे कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में पार्वती के नख-शिख का वर्णनं करते हुये महाकवि ने लिखा है—

पार्वती के नेत्र विस्तृत और विशाल थे । जिस समय स्त्री सुलभ स्वाभाविक अधैर्य के कारण उनकी चितवन चञ्चल हो जाती थी तब नेत्र इतने सुन्दर प्रतीत होते थे मानों तेज वायु में पड़ा हुआ कोई कमल चञ्चल हो रहा हो । इस प्रकार की चञ्चल चितवन न जाने उसने मृग की अङ्गनाओं से सीखी थी या मृग की अङ्गनाओं ने उससे सीखी थी ।'

यहाँ पर यह उपमा व्यक्त होती है कि 'पार्वती की चितवन मृगियों की चितवन के समान थी ।' 'उसने मृगियों से चितवन सीखी या मृगियों ने उससे सीखी' यह सन्देहालङ्कार यहाँ पर वाच्य है । उपमा केवल सन्देहालंकार का अभ्युत्थान ही करनेवाली है । (उपमा सन्देहालंकार के सौन्दर्य-पोषण के निमित्त अपना सौन्दर्य समर्पित कर देती है ।) इस प्रकार अनुग्राहक होने के कारण उपमा गौण हो गई है । सन्देहालंकार अनुग्राह्य है: अर्थात् उपमा के द्वारा उपकृत होकर सन्देह में ही सौन्दर्य का पर्यवसान होता है ।

चौथे प्रकार के संकर का परिभाषा यह दी गई है—

'जहाँ अलङ्कार परस्पर उपकार करते हुये स्थित होते हैं और एक दूसरे से निरपेक्ष होकर अपनी सत्ता स्थापित नहीं कर सकते उसे भी सन्देह कहते हैं ।' (जैसे उक्त उदाहरण में

लोचनम्

तदाह—यदालङ्कार इत्यादि। एवं चतुर्थेऽपि प्रकारे ध्वनिता निराकृता। मध्यमयोस्तु व्यङ्ग्यसम्भावनैव नास्तीत्युक्तम्। आद्ये तु प्रकारे 'शशिवदने' त्याद्युदाहृते कथञ्चिदस्ति सम्भावनेत्याशङ्क्य निराकरोति। सममिति। द्वयोरप्यान्दोल्यमानत्वादिति भावः।

ननु यत्र व्यङ्ग्यमेव प्राधान्येन भाति तत्र किं कर्तव्यम्। यथा—

होइ ण गुणाणुराओ खलाणं णवरं पसिद्धि सरणाणम्।
किर पहिणुसइ ससिमणं चन्दे ण पियामुहे दिट्ठे॥

अत्रार्थान्तरन्यासस्तावद्वाच्यत्वेनाभाति, व्यतिरेकापह्नुती तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रधानतयेत्यभिप्रायेणाशङ्कते—अथेति। तत्रोत्तरम्—तदा सोऽपीति। सङ्करालङ्कार एवायं न भवति, अपि त्वलङ्कारध्वनिनामायं ध्वनेः द्वितीयो भेदः। यच्च पर्यायोक्ते निरूपितं तत्सर्वमत्राप्यनुसरणीयम्। अथ सर्वेषु सङ्करप्रभेदेषु व्यङ्ग्यसम्भावनानिरासप्रकारं साधारणमाह—अपि चेति। 'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे चे'ति सम्बन्धः, सर्वभेदभिन्न इत्यर्थः। सङ्कीर्णता हि मिश्रत्वं लोलीभावः, तत्र कथमेकस्य प्राधान्यं क्षीरजलवत्।

वह कहते हैं—यदालंकार इत्यादि। इस प्रकार चतुर्थ प्रकार में भी ध्वनित्व निराकृत हो गया। मध्य के दोनों की तो व्यंग्य की सम्भावना ही नहीं है यह कह दिया गया। 'शशिवदना' इत्यदि उदाहृत आद्य प्रकार में किसी न किसी प्रकार सम्भावना है यह आशंका करके निराकरण कर रहे हैं—अलंकारद्वय इत्यादि। 'समम्' इति। आशय यह है कि दोनों के आन्दोल्यमान (अस्थिर) होने के कारण (समान प्रधानता होती है।)

जहाँ पर प्रधानतया व्यंग्य ही भासित होता है वहाँ क्या करना चाहिये? जैसे—

'(केवल) प्रसिद्धि शरण दुष्टों का गुणानुराग नहीं होता। चन्द्रकान्तमणि चन्द्र के देखने पर प्रस्नुत होती है प्रिया-मुख देखने पर नहीं।

यहाँ पर अर्थान्तरन्यास तो वाच्य के रूप में शोभित हो रहा है, व्यतिरेक और अपह्नुति तो व्यंग्य होने के कारण प्रधानतया (शोभित हो रही है), इस अभिप्राय से आशंका कर रहे हैं—तदा सोऽपि इत्यादि। यह संकरालंकार ही नहीं होता। अपितु यह अलंकारध्वनि नाम का ध्वनि का दूसरा प्रकार है। जोकि पर्यायोक्त में निरूपित किया गया था, उसका यहाँ भी अनुसरण कर लेना चाहिये। इसके बाद संकर के सभी प्रकारों में ध्वनि सम्भावना के निराकरण का सामान्य प्रकार बतला रहे हैं—'अपि च' इत्यादि। यहाँ पर सम्बन्ध इस प्रकार का है—'क्वचिदपि संकरालंकारे च' अर्थात् सब भेदों से भिन्न संकीर्णता का अर्थ है मिल जाना अर्थात् एक हो जाना, उसमें दूध और पानी की भाँति एक की प्रधानता किस प्रकार होती है।

तारावती

सन्देह वाच्य है जिसके कारण उपमा का जन्म होता है और उपमा व्यङ्ग्य होकर सन्देह-पर्यवसायिनी हो गई है।)

ऊपर सङ्कर के चारों भेदों का निरूपण किया गया। चौथा अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। यह बात सिद्ध करने के लिये आलोककार ने कहा है कि 'जहाँ पर एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार के सौन्दर्य को ग्रहण करता है वहाँ व्यंग्यार्थ का प्रधान रूप में मानना अभीष्ट नहीं होता अतएव उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। सङ्कर के एकविषयानुप्रवेश नामक दूसरे और तीसरे भेदों में व्यङ्ग्यालङ्कार की सम्भावना ही नहीं होती, यह बात बतलाई जा चुकी है। अतएव उन दोनों भेदों में ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। अब रही सन्देह-सङ्कर नामक प्रथम भेद की बात, जहाँ दो अलङ्कारों में यह निर्णय नहीं हो पाता कि कौन सा अलङ्कार माना जावे, उसमें व्यंग्यार्थ की सम्भावना हो सकती है। अतएव 'उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता' यह सिद्ध करने के लिये आलोककार ने कहा है कि 'दो अलङ्कारों की सम्भावना में व्यंग्य और वाच्य की प्रधानता एक जैसी होती है।' अर्थात् जहाँ दो अलङ्कारों की सम्भावना हो वहाँ यह सम्भव है कि एक अलङ्कार व्यंग्य हो। किन्तु जब वहाँ पर दोनों लड़खड़ाते रहते हैं किसी का होना निश्चित ही नहीं हो पाता तब किसी की प्रधानता अप्रधानता के निर्णय का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

अब यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि ऊपर बतलाये हुये सङ्कर के चौथे भेद (अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर) में ऐसा भी हो सकता है कि व्यंग्य-अलङ्कार प्रधान हो और वाच्य-अलङ्कार गौण हो। ऐसे स्थान पर आप क्या करेंगे? उदाहरण के लिये—

भवति न गुणानुरागः खलानां केवलं प्रसिद्धिशरणानाम्।
किल प्रस्नौति शशिमणिः चन्द्रे न प्रियामुखे दृष्टे॥ इति छाया।

'जो दुष्ट केवल प्रसिद्धि का सहारा लेकर ही चलते हैं उन्हें गुणों से प्रेम नहीं होता। कहा जाता है कि चन्द्रकान्तमणि चन्द्र को देखकर तो द्रवित हो जाती है, प्रियतमा के मुख को देखकर द्रवित नहीं होती।' (आशय यह है कि जो व्यक्ति दूसरों से किसी की प्रशंसा को सुनकर ही उसके गुणावगुणों को स्वीकार कर लेते हैं उन्हें न गुणों का परिचय होता है और न वे गुणों का आदर करना जानते हैं। चन्द्रकान्त मणि ने सुनने-सुनाने के आधार पर चन्द्र को गुणवान् समझ लिया है, इसीलिये चन्द्रभा के सामने तो वह द्रवित हो जाती है सुन्दरी के मुख के सामने द्रवित नहीं होती।) यहाँ पर मुख के सामने चन्द्रकान्त मणि के द्रवित न होना रूप विशेष के द्वारा पामरों का गुणानुराग होना रूप सामान्य समर्थित किया गया है। अतएव यह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है जो कि वाच्य है। इससे इस व्यतिरेक की व्यञ्जना होती है कि 'चन्द्र की अपेक्षा मुख कहीं अधिक सुन्दर है।' अथवा इस अपह्नुति की व्यञ्जना होती है—'यह मुख नहीं चन्द्र है।' व्यज्यमान व्यतिरेक और अपह्नुति में

ध्वन्यालोकः

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धः तदाऽभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्। यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्राधान्यम्।

(अनु०) अप्रस्तुतप्रशंसा में भी जब सामान्य-विशेष भाव से अथवा निमित्तनैमित्तिक भाव से अभिधान किये जा रहे अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत से अभिसम्बन्ध होता है तब अभिधीयमान और प्रतीयमान दोनों का समान ही प्राधान्य होता है और जब कहे जा रहे अप्रस्तुत सामान्य का प्राकरणिक प्रतीयमान विशेष से सम्बन्ध होता है तब विशेष की प्रतीति होने पर भी प्रधानतया उसके सामान्य से अविनाभाव (व्याप्यव्यापकभाव) सम्बन्ध होने के कारण सामान्य की भी प्रधानता होती है।

लोचनम्

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता ॥ भा० ३।२९

'अधिकार से पृथग्भूत अन्य वस्तु की जो प्रशंसा की जाती है उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। यह तीन प्रकार की वर्णन की गई है।'

तारावती

चारुता की परिसमाप्ति होती है। अतएव इस संकर को हम ध्वनि कह सकते हैं और इसमें ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाना चाहिये। इसीलिये ग्रन्थकार ने लिखा है कि जहाँ वाच्य को गौण बनाकर व्यंग्य स्थित होता है वह तो ध्वनि का ही क्षेत्र होगा, किन्तु केवल वही तो ध्वनि नहीं हो सकती। (क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र विस्तृत है और संकर का सीमित।) यह सब पर्यायोक्त के प्रकरण में कहा जा चुका है, वही यहाँ पर भी समझना चाहिये। आशय यह है कि यह संकरालंकार ही नहीं कहा जा सकता, अलंकारध्वनि नाम का यह ध्वनि का दूसरा भेद है। (यहाँ तक संकर के विभिन्न भेदों में ध्वनि का अन्तर्भाव क्यों नहीं होता यह दिखलाया जा चुका।) संकर के सभी भेदों में अर्थात् सामान्यतया संकर अलङ्कार में ही ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता उसका प्रमाण आलोककार ने यह कहकर दिया है 'किसी भी संकर अलंकार में संकर यह कथन ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है। आलोककार ने लिखा है—'संकरालंकारेऽपि क्वचित् संकरोक्तिरेव' यहाँ पर क्वचित् का सम्बन्ध संकरालंकार से है—'क्वचिद् संकरालंकारेऽपि' अर्थात् कहीं भी किसी भी संकरालंकार में। अर्थात् यह तर्क सब भेदों में समान रूप से सङ्गत हो जाता है। 'संकर' यह जो नामकरण किया गया है वही इस बात को सिद्ध करता है कि संकरालंकार में व्यंग्यार्थ की प्रधानता नहीं होती। 'संकर' शब्द का अर्थ है संकीर्ण हो जाना या मिश्रित हो जाना, दूध और पानी की भाँति ऐसा मिश्रण जिसमें एक

लोचनम्

अप्रस्तुतस्य वर्णनं प्रस्तुताक्षेपिण इत्यर्थः। स चाक्षेपस्त्रिविधो भवति-सामान्यविशेषभावात्, निमित्तनिमित्तिभावात्, सारूप्याच्च। तत्र प्रथमे प्रकारद्वये प्रस्तुताऽप्रस्तुतयोस्तुल्यमेव प्राधान्यमिति प्रतिज्ञां करोति—अप्रस्तुतेत्यादिना प्राधान्यमित्यन्तेन। तत्र सामान्यविशेषभावेऽपि द्वयी गतिः—सामान्यमप्राकरणिकं शब्देनोच्यते, गम्यते तु प्राकरणिको विशेषः, स एकः प्रकारः। यथा—

अर्थात् प्रस्तुत का आक्षेप करनेवाले अप्रस्तुत का जर्णन। और वह आक्षेप तीन प्रकार का होता है—सामान्य-विशेष भाव में; निमित्त-निमित्त माव में और सारूप्य में। उनमें प्रथम दो प्रकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत की प्रधानता तुल्य ही होती है यह प्रतिज्ञा करते हैं—अप्रस्तुत इत्यादि से प्राधान्यम् यहाँ यहाँ तक। उसमें सामान्य-विशेष भाव में भी दो गतियाँ हीती हैं—सामान्य अर्थात् अप्राकरणिक शब्द के द्वारा कहा जाता है और प्राकरणिक विशेष अभिव्यक्त होता है यह एक प्रकार है। जैसे—

तारावती

दूसरे का परिज्ञान ही न हो सके। ऐसी दशा में एक की प्रधानता और दूसरे की गौणता कही ही कैसे जा सकती है। (आशय यह है कि जहाँ अलंकारों में प्राधान्य का निर्णय न किया जा सके या वाच्यालंकार प्रधान हो वहाँ संकर अलंकार होता है और जहाँ व्यंग्यालंकार प्रधान हो वहाँ संकरालंकारध्वनि होती है। अतएव संकारालंकार में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

इस प्रकरण के प्रारम्भ में समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, संकर इत्यादि व्यञ्जनामूलक अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न उठाया था। उसी क्रम से यहाँ प्रत्येक अलंकार पर विचार किया गया और यह सिद्ध किया गया कि ध्वनि का अन्तर्भाव व्यञ्जनामूलक अलंकारों में भी नहीं हो सकता। वहाँ पर 'इत्यादि' शब्द का जो प्रयोग किया गया था उसकी व्याख्या शेष रह गई। अतएव आलोककार अप्रस्तुत-प्रशंसा नामक एक और अलंकार पर विचार कर इस प्रकरण की पूर्ति कर रहे हैं।

प्राचीन आचार्य अधिकतर नामकरण के आधार पर ही परिभाषा बनाते थे। आचार्य दण्डी तथा भामह दोनों ने अप्रस्तुतप्रशंसा की केवल यह परिभाषा की है कि जहाँ पर अप्रस्तुत की स्तुति की जावे उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। किन्तु अप्रस्तुत शब्द सापेक्ष है और स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसका प्रस्तुत से क्या सम्बन्ध हो? यदि अप्रस्तुतमात्र का वर्णन किया जावेगा और उसका प्रस्तुत से कोई सम्बन्ध भी नहीं होगा तो वह प्रमत्त-प्रलापमात्र रह जावेगा। प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्बन्ध के विषय में प्राचीन आचार्य मौन हैं। दण्डी ने उदाहरण देकर जो उसकी व्याख्या की है उससे स्पष्ट होता है कि

तारावती

जहाँ अप्रस्तुत की प्रशंसा के द्वारा प्रस्तुत की निन्दा व्यक्त हो उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। यद्यपि भामह ने व्याख्या नहीं की है तथापि उनके उदाहरण से प्रस्तुत की निन्दा की अभिव्यक्ति होती अवश्य है। किन्तु नवीन आचार्यों ने इस प्रशंसा शब्द को और अधिक बढ़ा दिया तथा इसे प्रकथन के अर्थ में मानकर अप्रस्तुतप्रशंसा का यह लक्षण बना दिया कि जहाँ कहीं अप्रस्तुत के प्रकथन के द्वारा प्रस्तुत की अभिव्यक्ति हो उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। यहाँ पर अलंकार का बीज है— एक कथन के द्वारा दोनों की प्रतीति। यदि वाक्य में कई शब्द ऐसे हों जिनसे दोनों अर्थों की प्रतीति हो रही हो किन्तु कोई एक आध दो शब्द ऐसे हों जिनमें दोनों का आरोपात्मक अभिधान कर दिया गया हो तो उसे एकदेशविवर्ति रूपक कहते हैं। समासोक्ति में प्रस्तुत का कथन किया जाता है और अप्रस्तुत की प्रतीति होती है। इसके प्रतिकूल अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत का कथन किया जाता है और प्रस्तुत की प्रतीति होती है। समासोक्ति में विशेष्यवाचक शब्द से केवल प्रस्तुत का बोध होता है, उससे अप्रस्तुत विशेष्य की प्रतीति नहीं होती किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है।

(अलंकारसर्वस्व में अप्रस्तुतप्रशंसा का परिचय इस प्रकार दिया गया है—'जहाँ सामान्य-विशेष भाव, कार्य-कारण भाव और सारूप्य में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति हो उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। ऐसे स्थानों पर अप्रस्तुत का कहना ही ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो प्रस्तुत नहीं उसके कहने का अर्थ ही क्या? हाँ यदि वह प्रस्तुतपरक हो तो कदाचित् ठीक कहा जा सके। किन्तु यदि अप्रस्तुत का प्रस्तुत से सम्बन्ध न हो तो प्रस्तुत की प्रतीति ही नहीं होगी क्योंकि ऐसी दशा में अतिप्रसङ्ग हो जावेगा। सम्बन्ध तीन प्रकार का हो सकता है क्योंकि उन्हीं की अर्थान्तरप्रतीतिहेतुता सिद्ध हो सकती है। वे तीन प्रकार हैं—सामान्य–विशेष भाव, कार्य-कारण भाव और सारूप्य।)

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्बन्ध को लेकर आचार्यों ने अप्रस्तुतप्रशंसा को ५ भेदों में विभक्त किया है :—

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा॥ का. प्र. १०।९९

(१) जहाँ कार्य प्रस्तुत हो औप अप्रस्तुत निमित्त का कथन किया जावे (२) जहाँ निमित्त प्रस्तुत हो और अप्रस्तुत कार्य का कथन किया जावे। (३) जहाँ सामान्य प्रस्तुत हो और अप्रस्तुत विशेष का कथन किया जावे। (४) जहाँ विशेष प्रस्तुत हो और अप्रस्तुत सामान्य का कथन किया जावे। (५) जहाँ एक वस्तु प्रस्तुत हो और तत्सदृश अन्य वस्तु का कथन किया जावे। प्रस्तुत प्रकरण में इन्हीं ५ भेदों पर विचार किया जा रहा है।

भामह ने अप्रस्तुतप्रशंसा का यह लक्षण लिखा है—'प्रकरण से व्यतिरिक्त अन्य वस्तु की जो स्तुति की जाती है वह अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। यह तीन प्रकार की कही गईहै।' (१- इस कारिका में अधिकार शब्द का अर्थ है प्रकरण, जैसे व्याकरण में संज्ञाधिकार, अङ्गाधिकार

लोचनम्

अहो संसारनैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमापदाम् ।
अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधेः ॥

अत्र हि दैवप्राधान्यं सर्वत्र सामान्यरूपमप्रस्तुतं वर्णितं सत्प्रकृते वस्तुनि क्वापि विनष्टे विशेषात्मनि पर्यवस्यति । तत्रापि विशेषांशस्य सामान्येन व्याप्तत्वाद्व्यङ्ग्यविशेषवद्वाच्यसामान्यस्यापि प्राधान्यम् । नहि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्यं विरुध्यते । यदा तु विशेषोऽप्राकरणिकः प्राकरणिकं सामान्यमाक्षिपति तदा द्वितीयः प्रकारः । यथा—

'संसार की निर्दयता पर आश्चर्य है; आपत्तियों की दुरात्मता पर आश्चर्य है, स्वभावतः कुटिल विधाता की न समझी जा सकनेवाली गतियों पर भी आश्चर्य है ।'

यहाँ निस्सन्देह सर्वत्र सामान्यरूप दैवप्राधान्य (इस) अप्रस्तुत का वर्णन किया हुआ कहीं विनष्ट विशेषात्मक प्रकृत वस्तु में पर्यवसित होता है । उसमें भी विशेषांश के सामान्य से व्याप्त होने के कारण व्यंग्य विशेष के समान सामान्य को भी प्रधानता है । सामान्य और विशेष की एक साथ प्रधानता विरुद्ध नहीं होती । जब अप्राकरणिक विशेष प्राकरणिक सामान्य का आक्षेप करता है तब दूसरा प्रकार होता है । जैसे—

तारावती

इत्यादि । २–न तो भामह की कारिका में ही 'त्रिविधः परिकीर्तितः' यह पाठ है और न भामह ने तीन रूपों में उसका विभाजन ही किया है । भामह का पाठ इस प्रकार का है—'अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैव कथ्यते यथा ।' अपने समय की परम्परा के अनुसार 'त्रिविधः परिकीर्तितः' यह पाठ कर लिया गया है ।) यहाँ पर आशय यह है कि जहाँ प्रस्तुत का आक्षेप करनेवाले अप्रस्तुत का वर्णन किया जावे उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं । वह प्रस्तुत का आक्षेप तीन प्रकार का हो सकता है (१) सामान्य विशेष भाव से (२) निमित्त-निमित्ति भाव से और (३) स्वरूप के सादृश्य के आधार पर । इनमें से प्रथम दो प्रकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि इनमें वाच्य और व्यंग्य, अप्रस्तुत और प्रस्तुत की प्रधानता समान होती है । यह बात आलोककार ने 'अप्रस्तुतप्रशंसायामपि' से लेकर 'प्राधान्यं' तक कही है । उनमें भेदों के आक्षेप का पहला कारण होता है सामान्य-विशेष भाव । इसके भी दो रूप हो सकते हैं—(१) जिस अप्राकरणिक का अभिधान किया जा रहा है वह सामान्य हो और जिस प्राकरणिक की व्यञ्जना हो रही है वह विशेष हो । जैसे कष्टपूर्ण परिस्थिति में पड़ा हुआ कोई व्यक्ति कह रहा है :—

'संसार की निर्घृणता पर खेद है, आपत्तियों की दुष्टता पर दुःख होता है, आश्चर्य होता है कि विधाता की स्वभावतः कुटिल गति का पार पाना कितना कठिन है ।'

ध्वन्यालोकः

यद्यपि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तद्यपि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम् । निमित्तनिमित्तिभावे चायमेव न्यायः । यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः । इतरथात्वलङ्कारान्तरमेव ।

(अनु०) और जहाँ विशेष का सामान्यनिष्ठत्व भी होता है वहाँ यद्यपि सामान्य प्रधान हो सकता है तथापि विशेष की भी प्रधानता होती है क्योंकि सामान्य में समस्त विशेषों का अन्तर्भाव हो जाता है। यही न्याय निमित्त-निमित्तिभाव (कार्य-कारणभाव) में होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा के विषय में भी लागू होता है। जब अप्रस्तुतप्रशंसा में सादृश्य के कारण ही अप्रकृत और प्रकृत का सम्बन्ध होता है तब यदि समानरूपवाले वाच्य अप्रस्तुत की प्रधानरूप में विवक्षा न हो तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो जावेगा। नहीं तो यह अलंकार-विशेष ही होगा।

लोचन

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं पाथसो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि ।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो हहेत्यनुदिनं निद्राति नान्तःशुचा ॥

'कमलिनी के पत्ते पर जलकण को उस मूर्ख ने जो प्रारम्भ से ही मुक्तामणि समझा यह कितनी (बड़ी) बात है ? इससे भी (अधिक आश्चर्यजनक) और सुनो—आदान किये जाने पर धीरे से अङ्गुली के अग्रभाग की लघु क्रिया से प्रविलीन हो जाने पर 'दुःख है कि कहाँ उड़कर चला गया' इस आन्तरिक शोक से (वह) सो नहीं पाता।'

तारावती

यहाँ पर प्रस्तुत है किसी व्यक्ति की कष्टपूर्ण स्थिति और अप्रस्तुत है संसार की निर्घृणता इत्यादि। इस प्रकार दैवगति इत्यादि सामान्य बातों का उल्लेखकर व्यक्तिविशेष की परिस्थिति की ओर संकेत किया गया है। संसार की निर्घृणता इत्यादि इसलिये सामान्य हैं कि ये सर्वत्र पाई जाती हैं और किसी व्यक्ति की किसी वस्तु का नष्ट हो जाना विशेष है क्योंकि वह एक व्यक्ति से ही सम्बन्धित है। अप्रस्तुत कथन का पर्यवसान प्रस्तुत में होता है। सामान्य और विशेष का व्यापक-व्याप्यभाव सम्बन्ध होता है। बिना सामान्य के विशेष नहीं रह सकता। अतएव विशेष अंश के सामान्य द्वारा व्याप्त होने के कारण जिस प्रकार विशेषपरक व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है उसीप्रकार सामान्यपरक वाच्यार्थ भी प्रधान हो है। सामान्य और विशेष की एक साथ प्रधानता विरुद्ध नहीं कही जा सकती। (व्यङ्ग्यार्थ के सामान्यातिशायी न होने के कारण यहाँ पर ध्वनि ही नहीं है फिर उसके अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं

लोचनम्

अत्रास्थाने महत्त्वसम्भावनं सामान्यं प्रस्तुतम्, अप्रस्तुतं तु जलबिन्दौ मणित्वसम्भावनं विशेषरूपं वाच्यम्। तत्रापि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्ये न विरोध इत्युक्तम्। एवमेकः प्रकारो द्विभेदोऽपि विचारितः, यदा तावदित्यादिना विशेषस्यापि प्राधान्यमित्यन्तेन। एतमेव न्यायं निमित्तनैमित्तिकभावेऽतिदिशंस्तस्यापि द्विप्रकारतां दर्शयति—निमित्तेति। कदाचिन्निमित्तमप्रस्तुत सदभिधीयमानं नैमित्तिकं प्रस्तुतमाक्षिपति। यथा—

यहाँ पर बिना अवसर के महत्त्व की सम्भावना, यह सामान्य प्रस्तुत है, अप्रस्तुत तो जलबिन्दु में मणित्व की सम्भावनाविशेष रूप वाच्य। उसमें भी सामान्य और विशेष की एक साथ प्रधानता में विरोध नहीं है, यह कह दिया गया। इस प्रकार 'यदा तावत्' से 'विशेषस्यापि प्राधान्यम्' यहाँ तक एक प्रकार का दोनों भेदों में विचार कर लिया गया। इसी ही न्याय का निमित्तनैमित्तिक भाव में भी अतिदेश करते हुए उसकी भी द्विप्रकारता को दिखलाते हैं—निमित्त इत्यादि। कदाचित् निमित्त अप्रस्तुत होते हुये अभिधीयमान नैमित्तिक प्रस्तुत का आक्षेप करता है। जैसे—

तारावती

उठता।) (२) अप्रस्तुत प्रशंसा का दूसरा भेद वह होता है जहाँ विशेष अप्रस्तुत हो और सामान्य प्रस्तुत हो। विशेष का अभिधान किया जावे और उससे सामान्य का आक्षेप हो जावे। जैसे :—

'यह कोई बड़ी बात नहीं है कि उस मूर्ख ने प्रथम अवलोकन के अवसर पर कमलिनी के पत्तेपर स्थित जलबिन्दुओं को मुक्तामणि समझ लिया। मैं तुम्हें इससे भी अधिक विचित्र बात सुनाता हूँ—अङ्गुली के अग्रभाग को धीरे से घुमाकर जैसे ही उसने उन मुक्तावलियों को लेने की चेष्टा की वे जलबिन्दु एकदम विलीन हो गये। अब यह समझकर कि वे मुक्तामणियाँ न जाने कहाँ उड़ गईं वह मूर्ख रात दिन दुःखी रहता है और अन्तःशोक से सो नहीं सकता।'

यहाँ पर प्रस्तुत है—'मूर्खों की ममता ऐसे स्थान पर होती है जहाँ उसके होने का कोई अवसर नहीं होता।' और विशेष है—'कमलिनीपत्र पर जलबिन्दुओं में मुक्तामणियों की सम्भावना।' विशेष वाच्य है और सामान्य व्यङ्ग्य। दोनों की एक साथ प्रधानता है जो कि विरुद्ध नहीं कही जा सकती जैसा कि पहले निरूपण किया जा चुका है। इस प्रकार प्रथम भेद के दोनों प्रकारों पर विचार किया गया कि उनमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। यही बात आलोक में 'यदा तावत्' से लेकर 'विशेषस्यापि प्राधान्यं' तक कही गई है। जो बात सामान्य विशेष में होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा के लिये कही गई है वही बात निमित्तनैमित्तिक भाव में होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा के लिये भी कही जा सकती है। उसी का अतिदेश (समान न्याय) आलोक में 'निमित्तनैमित्तिकभावे चायमेव न्यायः' यह कह कर

लोचनम्

ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिं नोज्झन्ति व्यसनेषु च।
ते बान्धवास्ते सुहृदो लोकः स्वार्थपरोऽपरः॥

अत्राप्रस्तुतं सुहृद्बान्धवरूपत्वं निमित्तं सज्जनासक्त्या वर्णयति नैमित्तिकीं श्रद्धेयवचनतां प्रस्तुतामात्मनोऽभिव्यङ्क्तुम्, तत्र नैमित्तिकप्रतीतावपि निमित्त-प्रतीतिरेव प्रधानीभवत्यनुप्राणकत्वेनेति न व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः। कदाचित्तु नैमित्तिकमप्रस्तुतं वर्ण्यमानं सत्प्रस्तुतं निमित्तं व्यनक्ति। यथा सेतौ—

'जो अभ्युदय में प्रेम को प्राप्त होते हैं और आपत्ति में छोड़ते नहीं हैं वे ही बान्धव हैं, वे ही मित्र हैं और लोक स्वार्थपरायण है।'

यहाँ पर नैमित्तिकी अपनी प्रस्तुत श्रद्धेयवचनता को अभिव्यक्त करने के लिये अप्रस्तुत सुहृद्बान्धवरूपत्व निमित्त का सज्जनों की आसक्ति के द्वारा वर्णन कर रहे हैं। उसमें नैमित्तिक की प्रतीति में भी निमित्तप्रतीति ही अनुप्राणक के रूप में प्रधान हो जाती है इस प्रकार व्यंग्य और व्यञ्जक का प्राधान्य नहीं है। कभी तो नैमित्तिक अप्रस्तुत वर्ण्यमान होते हुए प्रस्तुत निमित्त को व्यक्त करता है। जैसे सेतु में—

तारावती

किया गया है। निमित्त-नैमित्तिक भाव में अप्रस्तुतप्रशंसा एक तो ऐसी होती है कि उसमें निमित्त अप्रस्तुत होकर वाच्य होता है और वह प्रस्तुत नैमित्तिक की व्यञ्जना करता है। जैसे कोई व्यक्ति अपने बान्धवों की अपेक्षा अपने किसी निकटवर्ती मित्र का विशेष पक्षपाती है और उसी की बात मानता है। जब उससे इसका कारण पूछा जाता है तब वह कहता है—

'जो लोग अभ्युदय में प्रसन्न होते हैं और विपत्ति में साथ नहीं छोड़ते वे ही बन्धु हैं, वे ही मित्र हैं, संसार के अन्य लोग तो स्वार्थ के साथी होते हैं।'

यहाँ पर सुहृद् और बान्धव के सज्जनों द्वारा स्वीकार किये हुये सच्चे स्वरूप का वर्णन किया गया है जो कि अप्रस्तुत है तथा प्रस्तुत है 'अपने किसी विशेष हितैषी की बात मानना।' सुहृद तथा बान्धव का सामान्य स्वरूप निमित्त है और बात मानना नैमित्तिक है। निमित्त का अभिधान नैमित्तिक की अभिव्यक्ति के लिये किया गया है। यद्यपि नैमित्तिक की प्रतीति हो जाती है तथापि निमित्त का अभिधान ही प्रधान है क्योंकि वही नैमित्तिक का अनुप्राणन करता है। अतएव व्यङ्ग्य-व्यञ्जक की यहाँ प्रधानता नहीं है जिससे यह ध्वनि-काव्य कहा जा सके। (४) कभी-कभी नैमित्तिक अप्रस्तुत होता है जिसका अभिधान इसीलिये किया जाता है जिससे प्रस्तुत निमित्त की अभिव्यक्ति हो जावे। जैसे सेतुबन्ध काव्य में जाम्बवान् एक मन्त्री के उपयुक्त गुणों पर प्रकाश डालते हुये कह रहे हैं:—

लोचनम्

सग्गं अपारिजाअं कोत्थुअ लच्छिरहिअं महुमहस्स उरम्।
सुमरामि महणपुरओ अमुद्धअन्दं च हरजडापब्भारम्॥

अत्र जाम्बवान् कौस्तुभलक्ष्मीविरहितहरिवक्षःस्मरणादिकमप्रस्तुतनैमित्तिकं वर्णयति प्रस्तुतं वृद्धसेवाचिरजीवित्वव्यवहारकौशलादिनिमित्तभूतं मन्त्रितायामुपादेयमभिव्यङ्क्तुम्। तत्र निमित्तप्रतीतावपि नैमित्तिकं वाच्यभूतम्; प्रत्युत तन्निमित्तानुप्राणितत्वेनोद्धरीकरोत्यात्मानमिति समं प्रधानतैव वाच्यव्यङ्ग्ययोः। एवं द्वौ प्रकारौ प्रत्येकं द्विविधौ विचार्य तृतीयः प्रकारः परीक्ष्यते सारूप्यलक्षणः। तत्रापि द्वौ प्रकारौ—अप्रस्तुतात्कदाचिद्वाच्याच्चमत्कारः, व्यङ्ग्यं तु तन्मुखप्रेक्षम्। यथास्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य—

'मैं मन्थन से पहले पारिजातरहित स्वर्ग, कौस्तुभ और लक्ष्मीरहित मधुमथन का उरःस्थल और मुग्धचन्द्ररहित शङ्करजटा के अग्रभाग का स्मरण करता हूँ।।

यहाँ पर जाम्बवान् कौस्तुभ-लक्ष्मीरहित विष्णुवक्षस्थल के स्मरणादिक अप्रस्तुत नैमित्तिक का वर्णन करते हैं। प्रस्तुत वृद्धसेवा, चिरजीवित्व, व्यवहारकौशल इत्यादि मन्त्रित्व में उपादेय निमित्तभूत की अभिव्यक्ति के लिये (यह वर्णन किया गया है।) वहाँ पर निमित्त की प्रतीति में भी नैमित्तिक वाच्यभूत है, इसके प्रतिकूल उस निमित्त के द्वारा अनुप्राणित होने के कारण अपने को प्रधान बना लेता है। इस प्रकार वाच्य और व्यंग्य की समप्रधानता ही है। इस प्रकार दो प्रकारों में प्रत्येक के दो-दो प्रकारों पर विचारकर सारूप्यलक्षण तृतीय प्रकार की परीक्षा की जा रही है। उसमें भी दो प्रकार होते हैं—कभी वाच्य अप्रस्तुत से चमत्कार होता है और व्यंग्य तन्मुखापेक्षी होता है। जैसे हमारे उपाध्याय भट्टेन्दुराज का—

तारावती

'मुझे समुद्र मन्थन से पूर्व पारिजात से रहित स्वर्ग, मधुमथन भगवान् विष्णु का कौस्तुभ तथा लक्ष्मी से रहित वक्षस्थल तथा भगवान् शंकर का मुग्धचन्द्रशून्य जटाप्राग्भार याद आ रहा है।'

जाम्बवान् यहाँ पर कहना यह चाहते हैं कि एक मन्त्री में अनेक उपादेय गुण होने चाहिये। जब तक वे गुण नहीं होते बहुत समय तक मन्त्री पद का निर्वाह नहीं हो सकता। जाम्बवान् में ये गुण थे इसीलिये उन्होंने मन्त्री पद में इतने दिनों तक सफलता प्राप्त की कि वे उस समय से मन्त्री पद पर कार्य करते रहे हैं जब कि समुद्र-मन्थन भी नहीं हुआ था। यहाँ पर जाम्बवान् में मन्त्री पद के अनेक गुण कारण हैं जिससे उनका इतने समय तक सफल रहना और इतने समय पूर्व का स्मरणरूप कार्य सम्पन्न हुआ है। जाम्बवान् ने यहाँ पर भगवान् के कौस्तुभलक्ष्मीशून्य वक्षस्थल के स्मरण इत्यादि कार्यों का वर्णन किया है जो कि अप्रस्तुत है। यह अप्रस्तुत का वर्णन वृद्धसेवा, चिरजीवन, व्यवहारकुशलता इत्यादि मन्त्रित्व के उपा-

लोचनम्

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद् येन त्वमुत्थापितः
स्कन्धे यस्य चिरे स्थितोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि ।
तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन् प्राणापहारक्रियाम्
भ्रातः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताल लीलायसे ॥

अत्र यद्यपि सारूप्यवशेन कृतघ्नः कश्चिदन्यः प्रस्तुत आक्षिप्यते, तथाप्य-

'जिसने तुम्हें प्राण समर्पित किये, जिसने तुम्हें बलपूर्वक उठाया, बहुत समय तक जिसके कन्धे पर बैठे रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, केवल मुस्कुराहट से ही इस उसके प्राणापहरण का कार्य करनेवाले भाई बेताल ! तुम प्रत्युपकारियों के आगे रहने की लीला धारण कर रहे हो ।'

यहाँ पर यद्यपि सारूप्य के कारण कोई दूसरा प्रस्तुत कृतघ्न आक्षिप्त किया जाता है

तारावती

देय गुणों को अभिव्यक्त करने के लिये ही किया गया है जो कि पारिजातरहित स्वर्ग इत्यादि के स्मरणरूप कार्य में निमित्त है । यद्यपि यहाँ पर निमित्त की प्रतीति होती है किन्तु नैमित्तिक (कार्य) वाच्य है । यदि व्यंग्यार्थ निमित्त इसलिये प्रधान है कि वक्ता द्वारा उसी को अभिव्यक्त करना अभीष्ट है तो वाच्यार्थ नैमित्तिक इसलिये प्रधान है कि वह व्यंग्यार्थ निमित्त के द्वारा अनुप्राणित होता है । इस प्रकार वाच्य और व्यंग्य की प्रधानता एक जैसी हो गई । अतएव न तो इस काव्य को हम ध्वनि कह सकते है और न ध्वनि का अप्रस्तुतप्रशंसा के इस भेद में समावेश का प्रश्न उठता है । इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा के दो भेदों में प्रत्येक के दो दो प्रकारों पर विचार किया जा चुका । अब उसके तीसरे भेद स्वरूपसादृश्य में होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा पर विचार किया जा रहा है । [सादृश्य में होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा के तीन भेद किये गये हैं—श्लेषमूलक, समासोक्तिमूलक और केवल सादृश्यमूलक । किन्तु यहाँ पर लोचनकार ने इन सब भेदों पर विचार न कर सभी को सादृश्यमूलकता में ही सन्निविष्ट कर दिया है ।] सादृश्य के आधार पर अप्रस्तुत की व्यञ्जना दो प्रकार की हो सकती है—(१) कभी ऐसा होता है कि चमत्कार अप्रस्तुत वाच्य के आधीन होता है और व्यंग्य तन्मुखापेक्षी होकर गौण हो जाता है । जैसे हमारे ही उपाध्याय भट्टेन्दुराज का पद्य—

'जिसने तुम्हें प्राण समर्पित किये. जिसने तुम्हें बलपूर्वक उठाया, जिसके कन्धे पर तुम बहुत समय तक स्थित रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, ऐसे इस व्यक्ति के प्राणों को केवल मुस्कुराहट से ही अपहरण कर रहे हो । हे भाई बेताल ! आज तो तुम प्रत्युपकार करनेवालों के सरमौर होकर आनन्द कर रहे हो ।'

यहाँ पर किसी कृतघ्न के प्रति उपालम्भ प्रस्तुत विषय है जिसकी व्यञ्जनावृत्ति से अभिव्यक्ति होती है । वेताल वृत्तान्त अप्रस्तुत वाच्य है । किन्तु चमत्कार में कारण वेताल-वृत्तान्त

लोचनम्

प्रस्तुतस्यैव वेतालवृत्तान्तस्य चमत्कारित्वम् । नह्यचेतनोपालम्भवदसम्भाव्यमानोऽयमर्थो न च न हृद्य इति वाच्यस्यात्र प्रधानता । यदि पुनश्चेतनादिनात्यन्तासम्भाव्यमानतदर्थविशेषणेनाप्रस्तुतेन वर्णितेन प्रस्तुतमाक्षिप्यमाणं चमत्कारकारि तदा वस्तुध्वनिरसौ । यथा ममैव—

> भावव्रात हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
> भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य सङ्क्रीडसे ।
> स त्वामाह जडं ततः सहृदयम्मन्यत्वदुश्शिक्षितो
> मन्येऽमुष्य जडात्मतास्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात् ॥

तथापि अप्रस्तुत वेतालवृत्तान्त का ही चमत्कारित्व है। अचेतन के उपालम्भ के समान यह अर्थ असम्भाव्यमान नहीं है और न यही है कि हृद्य न हो, इस प्रकार यहाँ पर वाच्यार्थ की प्रधानता है। यदि पुनः अत्यन्त असम्भाव्यमान अप्रस्तुतार्थ विशेषणोंवाले वर्णन किये हुये अप्रस्तुत के द्वारा आक्षिप्त किया हुआ प्रस्तुत चमत्कारकारक हो तो वह वस्तुध्वनि होती है। जैसे मेरा ही—

'हे भावसमूह ! जो कि हठपूर्वक व्यक्ति के हृदय को आक्रान्त कर नचाते हुए विविध भङ्गिमाओं से अपने हृदय को आच्छादित कर क्रीडा करते हो; वह तुमको जड़ कहता है और उससे अपनी सहृदयंमन्यता से दुश्शिक्षित है। इसकी जड़ात्मता को मैं तुम्हारे साम्य की सम्भावना से प्रशंसा ही समझता हूँ।"

तारावती

ही है। (क्योंकि 'हमने तुम्हारा उपकार किया किन्तु तुम अपकार कर रहे हो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता' इस आक्षिप्त व्यंग्य की अपेक्षा वेताल के प्रति प्राणसमर्पण इत्यादि उक्त वाक्य अधिक चमत्कारकारक है।) यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि अतीत के वेताल के प्रति इन शब्दों के प्रयोग में असम्भवता का प्रतिभास होता है अतः वाच्य सुन्दर नहीं हो सकता। जिस प्रकार अचेतन के प्रति उपालम्भ सम्भावना क्षेत्र से बाह्य होते हुये भी असुन्दर नहीं होता उसी प्रकार यह अर्थ भी असुन्दर नहीं है। काव्य में इस प्रकार के वर्णन असम्भव नहीं माने जाते। लोक के मानदण्ड सर्वत्र काव्य के मानदण्ड नहीं होते। अतएव वाच्य अर्थ की ही यहाँ पर प्रधानता है और यहाँ पर सारूप्यनिबन्धन अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार ही है ध्वनि नहीं। (२) दूसरे प्रकार की सादृश्यनिबन्धन अप्रस्तुतप्रशंसा ऐसे स्थान पर कही जा सकती है जहाँ अत्यन्त असम्भव विशेषणों के द्वारा अचेतन इत्यादि अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है और उससे चेतन प्रस्तुत का आक्षेप कर लिया जाता है तथा अर्थपर्यवसान उसी आक्षिप्त प्रस्तुत अर्थ में ही होता है। अतः उसी अर्थ की प्रधानता होती है। वहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसालंकार नहीं होगा। उसका समावेश व्यंग्यार्थ की प्रधानता के कारण ध्वनि काव्य के अन्तर्गत होगा। उदाहरण के लिये जैसे मेरा (अभिनवगुप्त का) पद्य—

लोचनम्

कश्चिन्महापुरुषो वीतरागोऽपि सरागवदिति न्यायेन गाढविवेकालोकतिरस्कृततिमिरप्रधानोऽपि लोकमध्ये स्वात्मानं प्रच्छादयँल्लोकं च वाचालयन्नात्मन्यप्रतिभासमेवाङ्गीकुर्वंस्तेनैव लोकेन मूर्खोऽयमिति यदवज्ञायते तदा तदीयं लोकोत्तरं चरितं प्रस्तुत व्यङ्ग्यतया प्राधान्येन प्रकाश्यते। जडोऽयमिति ह्युद्यानेन्दूदयादिर्भावो लोकेनावज्ञायते, स च प्रत्युत कस्यचिद्विरहिण औत्सुक्यचिन्तादूयमानमानसतामन्यस्य प्रहर्षपरवशतां करोतीति हठादेव लोकं यथेच्छं विकारकारणाभिर्नर्तयति। न च तस्य हृदयं केनापि ज्ञायते कीदृगयमिति, प्रत्युत

कोई महापुरुष वीतराग होते हुये भी रोगी के समान प्रगाढ़ विवेक के आलोक से अन्धकार के विस्तार का तिरस्कार किये हुए भी लोक के मध्य में अपने को छिपाते हुए इस न्याय से लोक को वाचालित करते हुए अपने अन्दर अप्रतिभास को ही अङ्गीकृत करते हुए उसी लोक के द्वारा 'यह मूर्ख है' इस रूप में जो अपमानित किया जाता है तब उसका प्रस्तुत लोकोत्तर चरित्र व्यंग्य के रूप में प्रधानता से प्रकाशित होता है। 'यह जड' यह कहकर उद्यान, चन्द्रोदय इत्यादि भाव लोक के द्वारा अपमानित किया जाता है। प्रस्तुत वह भाव किसी विरही के मन को औत्सुक्य और चिन्ता से कँपानेवाला तथा दूसरे के मन को प्रहर्षपरवश बना देता है इस प्रकार हठपूर्वक स्वेच्छा से ही विकारों को उत्पन्नकर लोक को नचा देता है। उसके हृदय को कोई नहीं जान पाता कि यह किस प्रकार का है; प्रत्युत महागम्भीर

तारावती

'हे भावों के समूह! तुम मनुष्यों के हृदयों पर हठपूर्वक आक्रमण करके उनको नचाया करते हो। विभिन्न प्रकार की भङ्गिमाओं के द्वारा अपने हृदय को छिपाये रहते हो और दूसरों के हृदयों के साथ खेलते हो। वे हीं तुम्हें जड़ कहते हैं और स्वयं सहृदयम्मन्यता के अवलेप में पड़े हुये हैं। तुम्हारे साम्य की सम्भावना से उनको जड़ कहना ही मुझे उनकी प्रशंसा प्रतीत होती है।'

यहाँ पर प्रस्तुत अर्थ यह है कि कोई महापुरुष यद्यपि वीतराग है, अपने घने ज्ञानालोक के प्रकाश से मोहान्धकार के विस्तार का सर्वथा निराकरण कर चुका है किन्तु रागान्ध लोगों के सामने स्वयं रागान्धता प्रकट करनी चाहिये इस नीति को लेकर संसार में अपनी वीतरागता को प्रच्छादित कर संसार को मूर्ख बनाने के लिये ऐसी बातें करता है जिससे लोग अज्ञानान्धकार में पड़ा हुआ समझकर उसको मूर्ख बतलाते हैं और वह अपने अन्दर अज्ञानान्धकार को स्वीकार कर लेता है। उसका यह लोकोत्तर चरित्र प्रस्तुत है जिसकी व्यजना उक्त पद्य में की गई है तथा यह व्यंग्यार्थ अप्रस्तुत से अभिव्यक्त होकर प्रधान हो जाता है। यहाँ पर अप्रस्तुत वाच्यार्थ इस प्रकार होगा—भाव का अर्थ है अपनी सत्ता स्थापित रखनेवाले तथा सहृदयों में किसी भावना को जगानेवाले चन्द्रोदय उद्यान इत्यादि विश्व के सुन्दरतम पदार्थ। संसार इसको जड़ समझकर इनका अपमान करता है। इसके प्रतिकूल ये भाव किसी विरही

लोचनम्

महागम्भीरोऽतिविदग्धः सुष्ठुगर्वहीनोऽतिशयेन क्रीडाचतुरः स यदि लोकेन जड इति तत एव कारणात् प्रत्युत वैदग्ध्यसम्भावनानिमित्तात्सम्भावितः, आत्मा च यत एव कारणात्प्रत्युत जाड्येन सम्भाव्यस्तत एव सहृदयः सम्भावितस्तदस्य लोकस्य जडोऽसीति यद्युच्यते तदा जाड्यमेवंविधस्य भावव्रातस्यातिविदग्धस्य प्रसिद्धमिति सा प्रत्युत स्तुतिरिति। जडादपि पापीयानयं लोक इति ध्वन्यते।

तदाह—यदा त्विति। इतरथा त्विति। इतरथैव पुनरलङ्कारान्तरत्वम-लङ्कारविशेषत्वं न व्यङ्गयस्य कथञ्चिदपि प्राधान्यम्, इति भावः।

अत्यन्त बिदग्ध भलीभाँति गर्वरहित अत्यन्त क्रीड़ाचतुर होता है। वह यदि लोक के द्वारा वैदग्ध्य सम्भावना में निमित्त उन्हीं कारणों से प्रस्तुत 'जड है' इस रूप में सम्भावित कर लिया जाता है और जिन कारणों से अपने को जाड्य के रूप में सम्भावित किया जाना चाहिये उन्हीं कारणों से (अपने को) सहृदय समझता है वह इस लोक के लिये 'जड हो' यह जो कहा जावे तब इस प्रकार के अविदग्ध भावसमूह की जड़ता प्रसिद्ध है इस प्रकार वह प्रत्युत स्तुति ही है। यह लोक जड़ से भी अधिक पापवाला है यह ध्वनित होता है।

वहाँ कहते हैं—यदात्विति। इतरथात्विति। अन्य प्रकार से ही अलंकारान्तरत्व अर्थात् विशेष प्रकार का अलंकार होता है। आशय यह है कि व्यंग्य का किसी प्रकार भी प्राधान्य नहीं होता।

तारावती

के मन को उत्कण्ठा और चिन्ता से झकझोर डालते हैं तथा किसी संयोगी के अन्तःकरण को प्रहर्षपरवश कर देते हैं। इस प्रकार वे भावसमूह जब जैसा चाहते हैं लोगों के हृदयों में विकार उत्पन्न करते हुए बलपूर्वक उसे नचाया करते हैं, कोई नहीं जान पाता कि वे भावसमूह स्वयं किस प्रकार के हैं। वस्तुतः वे भावसमूह स्वयं तो बड़े ही गम्भीर, अतिनिपुण, भलीभाँति गर्वरहित और दूसरों के साथ खिलवाड़ करने में अत्यन्त चतुर हैं। इन्हीं कारणों से (अर्थात् अपने को छिपाने के हीं कारण) लोग उन्हें जड़ समझते हैं जब कि इन भावों को अत्यन्त विदग्ध समझना चाहिये। जिन कारणों से अपने को जड़ समझना चाहिये उन्हीं कारणों से लोग अपने को सहृदय समझते हैं। आशय यह है कि विदग्ध वस्तुओं को जड़ समझने के कारण लोग स्वयं तो जड़ हैं और अपने को सहृदयतम समझता है। इससे बड़ी जड़ता और क्या हो सकती है कि विदग्ध को जड़ और जड़ को विदग्ध कहा जावे। ऐसे लोक के लिये-यदि जड़ कहा जावे और इस प्रकार के भावसमूह से उपमा दी जावे जो अविदग्ध लोगों के लिये जड़रूप में प्रसिद्ध हो चुके हैं तो यह उनकी प्रशंसा हीं होगी। आशय यह है कि यह संसार जड़ जगत् की अपेक्षा भी अधिक पापी (जड़, मूर्ख) है। [यहाँ पर 'जड़ जगत् को जड़ कहनेवाले मूर्ख हैं' इस वाच्यार्थ में उतना चमत्कार नहीं है जितना किसी ज्ञानी लोगों को बनाने के लिये स्वयं अज्ञानी बन जाने के व्यंग्यार्थ में है। अतः यह ध्वनि का क्षेत्र है।

ध्वन्यालोकः

तदयमत्र संक्षेपः—

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्य वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः ॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः ॥

(अनु०) इस सम्पूर्ण व्याख्यान का सारांश यह है—

'जहाँ पर केवल वाच्यार्थ का अनुयायी होने के कारण व्यंग्यार्थ अप्रधान हो गया हो वहाँ पर स्पष्टरूप से समासोक्ति इत्यादि वाच्यालंकार होते हैं। जहाँ पर व्यंग्य का स्पष्ट रूप से आभासमात्र मिल रहा हो, अथवा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का अनुगमन कर रहा हो या उसकी प्रधानता प्रतीत हो, वहाँ पर ध्वनि नहीं होती। जहाँ पर शब्द और अर्थ व्यंग्यपरक हों और वहाँ पर संकर अलंकार हो सकने का अवसर न हो तो वह ध्वनि का विषय होता है।

लोचनम्

उद्देश्ये यदादिग्रहणं कृतं समासोक्तीत्यत्र द्वन्द्वे तेन व्याजस्तुतिप्रभृतिरलङ्कारवर्गोऽपि सम्भाव्यमानव्यङ्ग्यानुवेशः सम्भावितः। तत्र सर्वत्र साधारणमुत्तरं दातुमुपक्रमते—तदयमत्रेति। कियद्वा प्रतिपदं लिख्यतामिति भावः। तत्र व्याजस्तुतिर्यथा—

उद्देश में समासोक्ति इत्यादि द्वन्द्व में जो आदि ग्रहण किया गया है उससे व्याजस्तुति इत्यादि अलङ्कारवर्ग की भी सम्भावना की गई है जिसमें व्यंग्य की सम्भावना की जा सकती है। उसमें सर्वत्र साधारण उत्तर देने का उपक्रम कर रहे हैं—तदयमत्र इत्यादि। आशय यह है कि प्रतिपद अथवा कहाँ तक लिखा जावे। उसमें व्याजस्तुति जैसे—

तारावती

यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है ही नहीं जो कि उसमें ध्वनि के अन्तर्भाव की कल्पना की जावे।] यही बात आलोक में 'यदा तु' से लेकर 'ध्वनावेवान्तःपातः' तक कही गई है। 'नहीं तो विशेषप्रकार का अलंकार होता है' कहने का आशय यह है कि व्यंग्यार्थ की अप्रधानता में ही अप्रस्तुतप्रशंसा नाम का अलंकारविशेष होता है प्रधानता में तो अलंकार हो ही नहीं सकता।

जिन व्यञ्जनामूलक अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण करने की प्रतिज्ञा की थी उन समासोक्ति आक्षेप इत्यादि अलङ्कारों में द्वन्द्व समास करके 'इत्यादि' शब्द जोड़ दिया था। इससे व्याजस्तुति इत्यादि व्यंग्यार्थमूलक अलंकारों में भी ध्वनि के समावेश की सम्भावना का निराकरण हो गया। (आलोककारने इत्यादि शब्द से अप्रस्तुतप्रशंसा पर भी विचार

लोचनम्

किं वृत्तान्तैः परगृहगतै किन्तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः ।
गेहे गेहै विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः ॥

अत्र व्यङ्ग्यं स्तुत्यात्मकं यत्तेन वाच्यमेवोपस्क्रियते । यत्तूदाहृतं केनचित्-

आसीन्नाथ पितामही तव मही, जाता ततोऽनन्तरं
माता, सम्प्रति साम्बुराशिरशना जाया कुलोद्भूतये ।
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समग्रनीतिविदुषां किं भूपतीनां कुले ॥

इति, तदस्माकं ग्राम्यं प्रतिभात्यत्यन्तासभ्यस्मृतिहेतुत्वात् । का चानेन स्तुतिः कृता ? त्वं वंशक्रमेण राजेति हि कियदिदम् ? इत्येवंप्राया व्याजस्तुतिः सहृदयगोष्ठीषु निन्दितेत्युपेक्ष्यैव ।

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबन्धस्तु हेतुना येन ।
गमयति तमभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥

'दूसरे के घर में होनेवाले वृत्तान्त से क्या ? किन्तु मैं मौन होकर स्थित होने में समर्थ नहीं हूँ क्योंकि दाक्षिणात्यों का स्वभाव प्राकृतिक रूप में मुखर होता है । खेद है कि आपकी प्रियतमा कीर्ति घर-घर में, बाजारों में, चौराहों पर, मधुशालाओं में उन्मत्त के समान घूमती रहती है ।'

यहाँ पर जो स्तुत्यात्मक व्यंग्य है उससे वाच्य ही उपस्कृत होता है। जो किसी ने उदाहरण दिया था—

हे नाथ । पृथ्वी तुम्हारी पितामही थी, उसके बाद माता बन गई; अब कुल की उद्भूति के लिये अम्बुराशिरूपी रशना के सहित तुम्हारी जाया बन गई । जब सौ वर्ष पूरे हो जावेंगे तो वही तुम्हारी अनिन्दनीय पुत्रवधू हो जावेगी । समस्तनीतियों में निपुण राजाओं के घर में क्या यह उचित है ?'

वह हमें ग्राम्य ही प्रतीत होता है क्योंकि यह अत्यन्त असभ्य स्मृति में हेतु है। और इसने स्तुति की क्या ? 'तुम वंशक्रम से राजा हो' यह कितनी स्तुति हुई ? इस प्रकार की व्याजस्तुति सहृदयों की गोष्ठी में निन्दित ही होती है अतः इसकी उपेक्षा ही की जानी चाहिये ।

'जिसका अप्रतिबन्ध विकार प्रादुर्भूत होते हुए जिस हेतु से उस अभिप्राय को व्यक्त करता है वह प्रतिबन्ध (हेतु) भाव होता है ।'

तारावती

कर लिया।) उन सभी शेष अलंकारों में ध्वनि के समावेश का एक साधारण उत्तर आलोककार ने अगले श्लोकों में दिया है। आशय यह है कि प्रत्येक अलंकार को लेकर कहाँ तक लिखा जावे। अभिनवगुप्त ने 'इत्यादि' शब्द से व्याजस्तुति और भाव इन दो अलंकारों पर और विचार किया है। उनमें पहले व्याजस्तुति को लीजिये। [व्याजस्तुति के विषय में भी प्राचीन और नवीन मतों में भेद है। प्राचीन आचार्य 'व्याजेन स्तुतिः' इस तत्पुरुष समास के आधार पर जहाँ निन्दा वाच्य हो उसे व्याजस्तुति मानते हैं। किन्तु नवीन आचार्य 'व्याजरूपा स्तुतिः' यह कर्मधारय समास और जोड़कर दोनों स्थानों पर व्याजस्तुति मानते हैं-(१) जहाँ प्रशंसा की अभिव्यक्ति के लिये निन्दा की जावे, अथवा (२) जहाँ निन्दा की अभिव्यक्ति के लिए प्रशंसा की जावे। यहाँ पर लोचनकार ने केवल उभयसम्मत प्रथम प्रकार की व्याजस्तुति का उदाहरण दिया है।

'दूसरों के घर की बात से हमें क्या ? किन्तु मैं चुप बैठने में असमर्थ हूँ। दाक्षिणात्य लोग स्वभाव से ही मुखर होते हैं। दुःख की बात है कि हे राजन् ! आपकी प्रियतमा कीर्ति घर-घर, बाजारों में, चौराहों पर और पानगोष्ठियों में उन्मत्त के समान जहाँ तहाँ घूम रही है।'

यहाँ पर प्रशंसात्मक व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है। किसी ने व्याजस्तुतिका यह उदाहरण दिया है:—

'हे राजन् ! पृथ्वी पहले तुम्हारी दादी थी; इसके बाद माता बन गई। इस समय अम्बुराशि की मेखला से विभूषित वह भूमि तुम्हारे कुल की वृद्धि के लिये तुम्हारी धर्मपत्नी बन गई। जब सौ वर्ष पूरे हो जायेंगे तब वही तुम्हारी अभिन्दनीय पुत्रवधू बन जावेगी : क्या समस्तनीति-पारङ्गत राजाओं के वंश में यह ठीक है ?'

यह उदाहरण हमें (अभिनवगुप्त को) अत्यन्त गँवारू मालूम पड़ता है क्योंकि इससे बहुत ही असभ्य स्मृति जागृति होती है। (फिर जिस प्रशंसा के लिये इस कवि ने दादी को माँ, माँ को पत्नी और पत्नी को पुत्रवधू बनाया) वह प्रशंसा इसने क्या कर दी ? यही न कि तुम वंश परम्परा से राजा हो। यह क्या बात हुई। वंश परम्परा से तो राजा हुआ ही करते हैं। इसमें प्रशंसा क्या हो गई ? इस प्रकार की व्याजस्तुति सहृदयगोष्ठी में निन्दित मानी जाती है; अतएव इसकी उपेक्षा ही करनी चाहिये।

अब भावालंकार को लीजिये। (भाव को रुद्रट ने अलंकार माना है।) उन्होंने भावालंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

'जिस अनुराग इत्यादि विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति से उत्पन्न हुआ वाग्व्यापार इत्यादि विकार निश्चितरूप से उस चित्तवृत्ति को जिस हेतु से व्यक्त किया करता है वह हेतु ही भावालंकार कहा जाता है।'

लोचनम्

अत्रापि वाच्यप्राधान्ये भावालङ्कारता। यस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धी वाग्व्यापारादिर्विकारोऽप्रतिबन्धो नियतः प्रभवंस्तं चित्तवृत्तिविशेषरूपमभिप्रायं येन हेतुना गमयति स हेतुर्यथेष्टोपभोग्यत्वादि लक्षणोऽर्थो भावालङ्कारः। यथा—

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन् गृहे गृहप तश्च गतो विदेशम्।
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥

अत्र व्यङ्ग्यमेकैकत्र पदार्थे उपस्कारीति वाच्यं प्रधानम्। व्यङ्ग्यप्राधान्ये तु न काचिदलङ्कारतेति निरूपितमित्यल बहुना।

यहाँ पर भी वाच्य की प्रधानता में भावालङ्कार होता है? जिस विशेष प्रकार की चित्त-वृत्ति से सम्बद्ध वाग्व्यापार इत्यादि विकार अप्रतिबन्ध अर्थात् नियत रूप में उत्पन्न होते हुये उस चित्तवृत्तिरूप विशेष अभिप्राय को व्यक्त करता है; वह हेतु अर्थात् यथेष्ट भोग्यत्व इत्यादि लक्षणवाला वह अर्थ ही भावालङ्कार होता है। जैसे—

'जो कि मैं इस घर में अकेली अबला तथा तरुणी हूँ, मेरा गृहपति विदेश चला गया है; तो यहाँ निवास की प्रार्थना किससे कर रहे हो? अरे मूर्ख पान्थ! यह मेरी सास निःसन्देह अन्धी और बहरी है।'

यहाँपर व्यङ्ग्य एक-एक पद में सहायक है। अतः वाच्य की ही प्रधानता है। व्यङ्ग्य की प्रधानता में तो कोई अलङ्कारता नहीं होती, यह निरूपण कर दिया गया है, अधिक कहने से क्या?

तारावती

इसमें भी भाव तभी अलंकार बनता है जब वाच्य की प्रधानता हो। आशय यह है कि विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति के कारण वाणी का व्यापार इत्यादि जो विकार उत्पन्न हुआ हो वह यदि उस चित्तवृत्ति को व्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ हो तो जिस हेतु उस अभिव्यक्ति का उदय होता है वह हेतु ही भावालंकार कहा जाता है। इस प्रकार का हेतु हो सकता है यथेष्ट उपभोग्यता इत्यादि। जैसे—

कोई प्रोषितपतिका निवासस्थान के इच्छुक किसी पथिक से कह रही है—'हे मूर्ख पथिक? तुम देख रहे हो कि इस घर में मैं अकेली ही तरुणी अबला हूँ मेरे घर का स्वामी भी विदेश चला गया है। बेचारी बूढ़ी सास एक तो अन्धी है दूसरे बहरी, फिर तुम निवास की प्रार्थना किससे कर रहे हो।'

यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा यथेष्ट उपभोग्यत्व रूप अभिप्राय की सूचना मिलती है। व्यङ्ग्य एक-एक पद का सहकारी बनता है। अतएव वाच्य की ही प्रधानता है। यदि यहाँ पर (या कहीं अन्यत्र) व्यङ्ग्यार्थ प्रधान माना जावेगा तो इसे अलङ्कार संज्ञा प्राप्त ही नहीं हो सकेगी। इस प्रकार यहाँ तक पूर्णरूप से 'व्यञ्जनामूलक अलङ्कारों का ध्वनि में अन्तर्भाव नहीं हो सकता यह सिद्ध कर दिया गया। अब अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता? [उक्त

लोचनम्

यत्रेति काव्ये अलङ्कृतय इति । अलंङ्कृतित्वादेव च वाच्योपस्कारकत्वम् । प्रतिमामात्र इति । यत्रोपमादौ श्लिष्टार्थप्रतीतिः । वाच्यार्थानुगम इति । वाच्येनार्थेनानुगमः समं प्राधान्यमप्रस्तुतप्रशंसायामिवेत्यर्थः । न प्रतीयत इति । स्फुटतया प्राधान्यं न चकास्ति, अपितु बलात्कल्प्यते । तथापि हृदये नानुप्रविशति । यथा 'दे आ पसिअ णिवत्तसु' इत्यत्रान्यकृतासु व्याख्यासु । तेन चतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनिव्यवहारः सद्भावेऽपि व्यङ्ग्यस्य, अप्राधान्ये श्लिष्टप्रतीतौ । वाच्येन समप्राधान्येऽस्फुटप्राधान्ये च । क्व तर्ह्यसावित्याह-तत्परावेवेति । सङ्करेणालङ्कारानुप्रवेशसम्भावनया उज्झित इत्यर्थः । सङ्करालङ्कारेणेतित्वसत्, अन्यालङ्कारोपलक्षणत्वे हि क्लिष्टं स्यात् ।

जहाँपर का अर्थ है काव्य में । अलंकृतयः । अलङ्कार होने के कारण ही वाच्य के उपस्कारक होते हैं । प्रतिभामात्र अर्थात् जहाँ उपमा इत्यादि में मलिन अर्थ की प्रतीति होती है । वाच्यार्थानुगम का अर्थ है जहाँ वाच्यार्थ के साथ अनुगम हो अर्थात् अप्रस्तुतप्रशंसा के समान समप्रधान्य । न प्रतीयते । स्फुट रूप में प्रधानता प्रकाशित नहीं होती अपितु बलात् कल्पित कर ली जाती है तथापि हृदय में अनुप्रविष्ट नहीं होती। जैसी कि 'देआ पसिअ णिवत्तसु' की दूसरों द्वारा की हुई व्याख्याओं में ! इससे चारों प्रकारों में ध्वनि का व्यवहार नहीं होता । व्यङ्ग्य के होनेपर भी अप्राधान्य होनेपर, मलिन प्रतीति में, वाच्य के साथ समान प्रधानता होनेपर और प्राधान्य के स्फुट न होनेपर । तो फिर यह होता कहाँ है ? यह कह रहे हैं—'तत्परावेव' इत्यादि ।' सङ्कर के द्वारा अर्थात् अलङ्कार के अनुप्रवेश की सम्भावना के द्वारा छोड़ा हुआ । सङ्करालंकार के द्वारा यह ठीक नहीं है । अन्य अलंकारों का उपलक्षण मानने पर तो अर्थ क्लिष्ट हो जावेगा ।

तारावती

भावालंकार को इस प्रकार समझिये यहाँ पर नायिका ने जितने भी शब्द कहे हैं उनमें एक व्यञ्जना निकलती है । जब तक व्यङ्गयार्थ को न स्वीकार किया जावे तब तक उसके उन शब्दों का प्रयोग ही सार्थक नहीं होता । 'घर का स्वामी परदेश को चला गया है मैं एक तो अकेली दूसरे अबला और तीसरे तरुणी' यह सब कहने का आशय सर्वसाधारण के प्रति तो यह है कि तुम्हारा यहाँ रहना ठीक नहीं है, किन्तु नायक के प्रति इसका आशय यह है कि आज बड़ा अच्छा अवसर है तुम्हें यहाँ अवश्य रहना चाहिये ।' 'चला गया है' में भूतकाल का आशय यह है कि उसे गये पर्याप्त समय हो गया अतः उसके लौटने की सम्भावना नहीं, 'विदेश' का अर्थ यह है कि वह कहीं निकट ही नहीं गया है, जहाँ वह गया है वह स्थान बहुत दूर है अतः वह किसी प्रकार भी लौट नहीं सकता । मैं अकेली हूँ का अर्थ यह है कि यहाँ कोई और आकर नहीं रहेगा, 'अबला' का अर्थ है तुम्हें मुझसे भय या संकोच नहीं करना चाहिये, 'तरुणी' का अर्थ है मेरा यौवन आकर्षक है । 'बेचारी सास अन्धी और

ध्वन्यालोकः

तस्मान्न ध्वनेरन्यत्रान्तर्भावः। इतश्च नान्तर्भावः, यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः। तस्य पुनरङ्गानि अलङ्कारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते। न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः। अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य। न तु तत्त्वमेव। यत्रापि वा तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न, तन्निष्ठत्वमेव।

(अनु०) इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गई कि ध्वनि का अन्तर्भाव अन्यत्र नहीं हो सकता। ध्वनि के अन्यत्र अन्तर्भाव न हो सकने का एक कारण और है—ध्वनि एक प्रकार का ऐसा काव्य है जो अङ्गी कहा गया है; अलंकार गुण, और वृत्तियाँ उसके अङ्ग होते हैं यह आगे चलकर सिद्ध किया जावेगा। यदि अवयव (अङ्ग) अवयवी (अङ्गी) से पृथक् हो तो वह अवयवी के नाम से प्रसिद्ध नहीं हो जाता और अपृथग्भाव में वह उसका अवयव ही होगा, कोई भी व्यक्ति उसे अवयवी नहीं कह सकता। यदि कोई ऐसा स्थान सम्भव भी हो जहाँ अलंकार ही ध्वनि का रूप धारण कर रहे हों तो भी ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारों में कभी नहीं हो सकता क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है।

लोचनम्

इतश्चेति। न केवलमन्योन्यविरुद्धवाच्यवाचकभावव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसमाश्रयत्वान्न तादात्म्यालंकाराणां ध्वनेश्च यावत्स्वामिभृत्यवदङ्गिरूपाङ्गरूपयोर्विरोधादित्यर्थः। अवयव इति। एकैक इत्यर्थः। तदाह—पृथग्भूत इति। अथ पृथग्भूतस्तथा माभूत्, समुदायमध्यनिपतितस्तर्हि्स्तु तथेत्याशङ्क्याह—अपृथग्भावे त्विति। तदापि न स एक एव समुदायः, अन्येषामपि समुदायिनां तत्र भावात् तत्समुदायिमध्ये च प्रतीयमानमप्यस्ति, न च तदलंकाररूपं प्रधानत्वादेव। यत्त्वलंकाररूपं तदप्रधानत्वान्न ध्वनिः। तदाह—न तु तत्त्वमेवेति।

'इतश्च' इति। केवल एक दूसरे के विरुद्ध वाच्यवाचक भाव और व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव का आश्रय लेने के कारण अलंकारों का और ध्वनि का तादात्म्य न हो ऐसी बात नहीं है (किन्तु) स्वामी और भृत्य के समान अङ्गीरूप और अङ्गरूप में भी विरोध होने से (दोनों में भेद है।) 'अवयव इति' अर्थात् प्रत्येक। वही कहते हैं—पृथग्भूत इति। 'अच्छा पृथग्भूत वैसा न हो, समुदायमध्यनिपतित तो वैसा हो ही जावे' यह शङ्का करके कहते हैं—अपृथग्भावेत्विति। तथापि वह एक ही समुदाय नहीं होता, क्योंकि अन्य भी समुदायों की वहाँपर सत्ता हो सकती है। उस समुदायी के मध्य में प्रतीयमान भी है, वह प्रधान होने से ध्वनि नहीं। वह कहते हैं—'न तु तत्त्वमेवेति'।

तारावती

बहरी है' का सर्वसाधारण के प्रति अर्थ है—'यदि तुम अनुचित चेष्टा कर बैठो तो मेरी रक्षा कौन करेगा ? पथिक के प्रति इसका अर्थ है—'सास को तुम्हें शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि एक तो वह अन्धी है दूसरे बहरी, न वह देख सकेगी और न सुन सकेगी।' 'मूढ़' का सर्वसाधारण के प्रति अर्थ है—'हे पथिक ! तुम ऐसे मूर्ख हो कि ऐसी परिस्थिति में भी मुझसे ठहरने के लिये कह रहे हो। पथिक के प्रति इसका अर्थ है—'मैं जानती हूँ कि तुम कामान्ध होने के कारण अपनी चेतना नष्ट कर चुके हो। मैं तुम्हारी आकांक्षा अवश्य पूरी करूँगी।' इन शब्दों की सार्थकता व्यङ्ग्यार्थ के साथ ही है। अतएव यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्योपस्कारक होकर भावालंकार बन गया है। यदि व्यङ्ग्य की वाच्योपस्कारकता न मानी जावे तो वहाँ पर भाव अलंकार नहीं हो सकेगा।]

ऊपर व्यञ्जनामूलक अलंकारों से ध्वनि का भेद दिखलाया गया है। अब आलोककार तीन कारिकाओं में सूत्ररूप में समस्त विवरण का सारांश दे रहे हैं। सम्भवतः ये कारिकायें आलोककार की ही लिखी हुई हैं। इन कारिकाओं का सार यह है—"समासोक्ति इत्यादि वाच्य अलंकार वहाँ पर होते हैं जहाँ व्यङ्ग्यार्थ अपनी प्रधानता को केवल वाच्यार्थ के अनुगमन के कारण खो चुके हों ॥१॥"

"ध्वनि ऐसे स्थान पर नहीं होती जहाँ (१) व्यङ्ग्य की स्पष्ट प्रतीति न होकर उसका हल्का सा प्रतिभास ही हो रहा हो, अथवा (२) वह वाच्यार्थ के पीछे चल रहा हो या (३) उसकी प्रधानता न प्रतीत हो रही हो ॥२॥"

"जहाँ पर व्यङ्ग्य की ही प्रधानता हो और रचना के लिये उपात्त शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यार्थपरक ही हों तथा उसमें संकर के अनुप्रवेश की सम्भावना न हो वही विषय ध्वनि का क्षेत्र होता है ॥३॥

यहाँ पर 'यत्र' शब्द का अर्थ है काव्य में। 'अलङ्कृतयः' शब्द का आशय यह है कि अलंकार शब्द का अर्थ है 'अलंकृत या आभूषित करनेवाला। जिसको आभूषित किया जाता है वह आभूषण से भिन्न होता ही है। अलंकार कभी अलंकार्य नहीं हो सकता। अतएव वाच्यालंकार कहने का आशय ही यह है कि वे अलंकार वाच्य को सौन्दर्य प्रदान करने के कारण अलंकार मात्र रहते हैं स्वयं प्रधान कभी नहीं होते। 'व्यङ्ग्य के प्रतिभामात्र में' का अर्थ है जहाँ पर उपमा इत्यादि में अर्थप्रतीति मलिन हो। 'प्रधानता प्रतीत नहीं होती' का अर्थ यह है कि जहाँ पर स्पष्ट रूप में प्रधानता प्रकाशित नहीं होती अपितु बलात् प्रधानता की कल्पना कर ली जाती है किन्तु फिर भी हृदय में प्रविष्ट नहीं होती। अर्थात् जहाँ पर युक्ति-पर्यालोचना के द्वारा परीक्षा करने पर व्यङ्ग्यार्थ बलपूर्वक खींचकर लाया जाता है और युक्तिपर्यालोचना के अभाव में उसकी प्रतीति नहीं होती। उदाहरण के लिये जैसे प्रतिषेधरूप वाच्य में विधिरूप व्यङ्ग्य के उदाहरण 'दे आ पसिअ णिवत्तसु' इत्यादि उदाहरण में अन्य लोगों की की हुई व्याख्या में। इस प्रकार पहली दो कारिकाओं का अर्थ यह है कि चार

लोचनम्

नन्वलङ्कार एव कश्चित्त्वया प्रधानतामभिषेकं दत्त्वा ध्वनिरित्यात्मेति चोक्त इत्याशङ्क्याह—यत्रापि वेति। नहि समासोक्त्यादीनामन्यतम एवासौ तथास्माभिः कृतः, तद्विविक्तत्वेऽपि तस्य भावात्, समासोक्त्याद्यलङ्कारस्वरूपस्य समस्तस्याभावेऽपि तस्य दर्शितत्वात् 'अत्ता एत्थ' इत्यादि 'कस्स वा ण' इत्यादि, तदाह—तन्निष्ठत्वमेवेति।

अलंकार को ही तुमने प्रधानता का अभिषेक देकर 'ध्वनि और आत्मा यह कह दिया है' यह शङ्का कर के कहते हैं—यत्रापि वेति। समासोक्ति इत्यादि में कोई एक ही हम लोगों ने वैसा ही नहीं कर दिया है क्योंकि उससे भिन्न में भी उसकी सत्ता होती है, क्योंकि समस्त समासोक्ति इत्यादि अलंकारस्वरूप के अभाव में भी उसे दिखलाया जा चुका है (जैसे) 'अत्ता एत्थ' इत्यादि और 'कस्स वा ण' इत्यादि। वह कहते हैं—तन्निष्ठत्वमेव इति।

तारावती

प्रकार के व्यङ्गयार्थों में ध्वनि का व्यवहार नहीं होता—(१) व्यङ्गयार्थ के होते हुये भी जहाँ उसकी प्रधानता न हो (२) जहाँ व्यङ्गयार्थ मलिनता के साथ प्रतीत हो रहा हो। (३) जहाँ वाच्यार्थ और व्यङ्गयार्थ दोनों का एक सी प्रधानता हो (४) जहाँ व्यङ्गयार्थ का प्राधान्य स्फुट न हो। अब प्रश्न उठता है कि तो फिर व्यङ्गयार्थ होता कहाँ पर है? इसका उत्तर अन्तिम कारिका में दिया गया है कि जहाँ पर शब्द और अर्थ व्यङ्गयार्थपरक होते हैं वहीं संकर से रहित विषय ध्वनि का होता है।' यहाँ पर संकर का अर्थ है किसी भी अलंकार का अनुप्रवेश। आशय यह है कि वहीं पर व्यङ्गयार्थ ध्वनि का रूप धारण करता है जहाँ उसके किसी दूसरे अलंकार में प्रविष्ट होने की संभावना नहीं। यहाँ पर संकर का अर्थ संकरालंकार नहीं है क्योंकि यहाँ पर लेखक का मन्तव्य किसी भी अलंकार में ध्वनि के समावेश का निराकरण करना है। यदि संकर को दूसरे अलंकारों का उपलक्षण मानकर व्याख्या की जावे तो यह क्लिष्ट कल्पना होगी।

ऊपर बतलाया गया है कि अलंकार वाच्य-वाचक भाव का आश्रय लेकर प्रवृत्त होते हैं और ध्वनि व्यङ्गय-व्यञ्जक भाव का आश्रय लेकर प्रवृत्त होती है। यह एक दूसरे का विरोध है। अतः ध्वनि और अलंकारों का तादात्म्य नहीं हो सकता। केवल इतना ही नहीं अपितु ध्वनि स्वामिस्थानीय है और अलंकार इत्यादि भृत्यस्थानीय। दूसरे शब्दों में ध्वनि अङ्गी है और अलंकार इत्यादि अङ्ग। जिस प्रकार स्वामी का समावेश भृत्यवर्ग में नहीं हो सकता अथवा जिस प्रकार अङ्गी का अङ्ग में समावेश नहीं हो सकता उसी प्रकार ध्वनि का भी अलंकारों में समावेश नहीं हो सकता क्योंकि दोनों की एकता सामान्य नियम के विरुद्ध है। अवयव और अवयवी इन दोनों का तादात्म्य दो प्रकार से हो सकता है एक तो अवयवी को अवयव से पृथक् करके उसे पूर्ण तत्व मानकर और दूसरे अवयव को समुदाय के अन्दर ही रखते हुये। एक-एक अवयव पृथक् होकर पूरे अवयवी के रूप में प्रसिद्ध हो जावे, ऐसा

ध्वन्यालोकः

'सूरिभिः कथित' इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः न यथाकथञ्चित्प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैय्याकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः।

(अनु०) 'विद्वानों के द्वारा अभिहित किया जाता है' इस कथन में विद्वानों के द्वारा कहने का आशय यह है कि इस ध्वनि-सिद्धान्त का प्रारम्भ विद्वानों ने किया है, यह योंही मनमाने रूप में प्रचलित नहीं हो गया। अतः इसका प्रतिपादन किया जाता है। वैय्याकरण ही प्रथम कोटि के विद्वान् माने जाते हैं क्योंकि सब विद्याओं के मूल में व्याकरण ही है। वे लोग वर्णों के सुनाई पड़नेवाले भाग को ध्वनि कहते हैं। उसी प्रकार उनके मत का अनुसरण करनेवाले दूसरे काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् भी इन चार अर्थों में ध्वनि शब्द का प्रयोग करते हैं— (१) वाच्यार्थ के लिये (२) वाचक शब्द के लिये (३) सम्मिश्र अर्थात् विभाव अनुभाव इत्यादि के संयोग से होनेवाले व्यङ्ग्यार्थ के लिये। (४) आत्मा रूप में स्थित शब्द के व्यापार अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार के लिये। इन चारों के अतिरिक्त काव्य नामक पदार्थ को भी ध्वनि कहते हैं क्योंकि वह भी उक्त चारों प्रकार का एक सम्मिलित रूप ही होता है।

लोचनम्

विद्वदुपज्ञेति। विद्वद्भ्य उपज्ञा प्रथम उपक्रमो यस्या उक्तेरिति बहुव्रीहिः तेन 'उपज्ञोपक्रम' इति तत्पुरुषाश्रयं नपुंसकत्वं निरवकाशम्।

विद्वदुपज्ञेति। विद्वानों से उपज्ञा अर्थात् प्रथम उद्गम है जिस उक्ति का इस प्रकार बहुव्रीहि है। इससे 'उपज्ञोपक्रमम्' इत्यादि सूत्र से तत्पुरुष के अधीन होनेवाला नपुंसकलिङ्ग निरवकाश हो जाता है।

तारावती

हो ही नहीं सकता। अब प्रश्न यह है कि पृथक् करके हम एक अवयव अवयवी न मानें; समुदाय के अन्दर ही उस अवयव और अवयवी की एकरूपता क्यों न मान लें? इसका उत्तर यह है कि उस अवस्था में भी केवल एक अवयव ही पूरा समुदाय कैसे कहा जा सकता है? अवयवों के समुदाय को ही अवयवी कहते हैं। अतएव एक अवयव का पूरे अवयवी से तादात्म्य हो ही नहीं सकता। दूसरी बात यह भी है कि उस समुदाय में प्रतीयमान अर्थ भी एक अवयव होगा जो कि प्रधान रूप में स्थित होने के कारण कभी भी अलंकाररूपता को प्राप्त ही नहीं हो सकता और यदि प्रतीयमान अर्थ अप्रधान होगा तो उसे ध्वनि की संज्ञा प्राप्त न हो सकेगी। इन कारणों से कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि अङ्गरूप में स्थित अलंकार ही अङ्गी ध्वनि का रूप धारण किया करते हैं। (प्रश्न) निस्सन्देह तुमने किसी अलंकार को ही प्रधानता का अभिषेक देकर 'ध्वनि' यह नाम दे दिया है और उसी को काव्य की

तारावती

आत्मा भी कह दिया है, (उत्तर) कहीं-कहीं ऐसा होता अवश्य है कि अलंकार भी ध्वनि का रूप धारण कर लेता है। अलंकारध्वनि भी ध्वनिकाव्य का एक प्रकार है। किन्तु यह समझना ठीक नहीं कि समासोक्ति इत्यादि अलंकारों में ही हमने किसी एक को ध्वनि कह दिया है, क्योंकि ध्वनि वहाँ पर भी होती है जहाँ अलंकार-ध्वनि नहीं होती। यह बतलाया जा चुका है कि जहाँ समासोक्ति इत्यादि अलंकारों में किसी एक की भी ध्वनि नहीं होती वहाँ पर भी ध्वनि काव्य हुआ करता है। जैसे 'अत्ता एत्थ' और 'कस्स वा ण' इन उदाहरणों में अलंकार-व्यतिरिक्त ध्वनि दिखलाई जा चुकी है। इसीलिये कहा गया है कि ध्वनि अलंकारनिष्ठ ही नहीं होती।

ऊपर इतिहास मनोविज्ञान इत्यादि आधारों पर सिद्ध किया गया है कि ध्वनि काव्य ही काव्य की आत्मा है। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सिद्धान्त यों ही मनमाने ढंग से कल्पित कर लिया गया है या इसमें कोई शास्त्रीय प्रमाण भी है ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये ध्वनिकार ने लिखा था 'सूरिभिः कथितः' और आलोककार ने लिखा है कि 'यह उक्ति विद्वदुपज्ञा है।' उपज्ञा शब्द का अर्थ है प्रथम ज्ञान या उपक्रम। विद्वदुपज्ञा शब्द में दो समास हो सकते हैं एक तो तत्पुरुष जिसका अर्थ होगा विद्वानों का प्रथम ज्ञान या विद्वानों द्वारा उपक्रम और दूसरा समास हो सकता है बहुव्रीहि, जिसका अर्थ होगा 'विद्वानों से प्रथम उपक्रम हुआ है जिसका।' यहाँ पर तत्पुरुष समास नहीं माना जा सकता क्योंकि तत्पुरुष होने पर 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' इस सूत्र से नपुंसक लिङ्ग हो जावेगा और 'विद्वदुपज्ञा' न बनकर 'विद्वदुपज्ञ' यह रूप बनेगा। बहुव्रीहि समास होने पर उक्ति का विशेषण हो जाने से स्त्रीलिंग सङ्गत हो जाता है।'

('विद्वदुपज्ञ' शब्द में विद्वत्' शब्द का अर्थ है वैय्याकरण ; क्योंकि वैय्याकरण ही सर्वोच्च विद्वान् माने जाते हैं। भगवान् भर्तृहरि ने वैय्याकरणों की प्रशंसा इन शब्दों में की है :—

उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम् ॥

किं बहुना—

इदमाद्यं पदस्थानं मुक्तिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥
रूपान्तरेण ते देवा विचरन्ति महीतले।
ये व्याकरणसंस्कारपवित्रितमुखा नराः ॥' वाक्यपदीय ब्र. का.।

भामह ने आलंकारिकों के लिये व्याकरणज्ञान की अनिवार्यता स्वीकृत की है :—

'सदोपयुक्तं सर्वाभिरन्यविद्याकरेणुभिः।
नापारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम् ॥
शब्दरत्नं स्वयं गम्यमलंकर्तुमयं जनः ॥' (काव्यालंकार २-३)

तारावती

मनु जो ने वैय्याकरणों को पंक्तिपावन लिखा है और पुष्यदन्त ने तो यहाँ तक कहा है कि—'वैय्याकरणों के सुधामधुर स्निग्ध वचनों से आपूर्णकर्ण होकर यदि मुझे रहना पड़े तो मैं देवी के शाप से मृत्युलोक में जन्म लेने को भी धन्य समझूँगा।')

[जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है ध्वनिकार को ध्वनि की किसी प्राचीन परम्परा का ज्ञान था और वह परम्परा आलोककार के समय तक नष्ट हो गई थी। यहाँ पर ध्वनिकार ने 'सूरिभिः कथितः' कहकर उसी परम्परा की ओर संकेत किया है, किन्तु आलोककार को ऐसी किसी परम्परा का ज्ञान नहीं था। अतएव उन्होंने इस कथन की सङ्गति भिड़ाने के लिए कल्पना कर ली कि ध्वनि सिद्धान्त का प्रादुर्भाव वैय्याकरणों के स्फोटवाद से हुआ है। अभिनव गुप्त मम्मट इत्यादि बाद के सभी आचार्यों ने इसी व्यवस्था को ठीक माना। यद्यपि 'जहाँ पर शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस विशेष प्रकार के काव्य को विद्वानों ने ध्वनि संज्ञा प्रदान की है' इस कथन का यह आशय कभी नहीं हो सकता कि 'विद्वानों ने स्फोटवाद का प्रतिपादन किया था और उसके आधार पर ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ।' तथापि वैय्याकरणों के स्फोट और काव्यशास्त्र के ध्वनि सिद्धान्त में कुछ साम्य अवश्य है। यह भी सम्भव है कि पहले पहल साहित्य शास्त्र में इस सिद्धान्त का प्रवर्तन वैय्याकरणों के अनुकरण पर हुआ हो और बाद में उस सिद्धान्त का विस्तार कर पूरा काव्यशास्त्र उससे आवेष्टित कर दिया गया हो। अतएव यहाँ पर स्फोटवाद का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

वैय्याकरण लोग शब्द और अर्थ का तादात्म्य मानते हैं 'जो शब्द है वही अर्थ है और जो अर्थ है वही शब्द है।' तब प्रश्न उपस्थित होता है कि लोक में अर्थ की जो क्रियायें देखी जाती हैं वे शब्द की क्यों नहीं होती? यदि शहद शब्द और अर्थ दोनों एक हैं तो जिस प्रकार शहद अर्थ (वस्तु) से मुख मीठा हो जाता है उसी प्रकार शहद शब्द से भी मुख मीठा हो जाना चाहिये। अग्नि शब्द से मुँह जल जाना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इस शंका का समाधान वैय्याकरण इस प्रकार करते हैं कि किसी भी शब्द का बाह्य अर्थ नहीं होता किन्तु प्रत्येक वस्तु का एक भावात्मक चित्र हम लोगों के अन्तःकरण में बना होता है। वह आकृति ही जाति कहलाती है—'आकृतिर्जातिपदवाच्या' वह आकृति ही शब्द का वास्तविक अर्थ होती है। इसी को बौद्धार्थ कहते हैं। शब्द और अर्थ दोनों की सत्ता अन्तः-करण में होती हैं, अतः दोनों का तादात्म्य सिद्ध हो जाता है। इस विषय में वैय्याकरण का सिद्धान्त अभेदवादी वेदान्तियों के बहुत निकट पड़ता है। अभेदवादी वेदान्ती दृश्यमान जगत् को भ्रममात्र मानते हैं। ब्रह्म तत्त्व को जान लेने से उस भ्रमका निराकरण उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार जागने के बाद दृश्यमान स्वप्नजगत् का अन्तर्धान हो जाता है। दृश्यमान भ्रमात्मक विश्व के सब पदार्थ एक दूसरे से भिन्न होते हैं किन्तु ब्रह्म के

तारावती

रूप में सब एक हो जाते हैं। इसको इस प्रकार समझिये—यदि हम कार्य का निषेध कर कारण की सत्ता ज्ञात करते जावें तो एकता या अभेद की ओर अग्रसर होते जावेंगे। जैसे लकड़ी की बनी हुई सैकड़ों वस्तुयें भिन्न होती हैं किन्तु लकड़ी के रूप में सब एक हैं। इसी प्रकार लोहे की वस्तुएँ लोहे के रूप में, पत्थर की वस्तुयें पत्थर के रूप में और मिट्टी की वस्तुयें मिट्टी के रूप में एक होती हैं। मिट्टी, पत्थर, लोहा, लकड़ी सब एक दूसरे से भिन्न हैं किन्तु पृथ्वी के विकार के रूप में सब एक हो जाते हैं। यदि हम इसी प्रकार कार्य का निषेध करते हुए कारण की सत्ता मानते चले जावें तो समस्त तत्त्व एक हो जावेंगे। इसी तत्व को ब्रह्म नाम से अभिहित किया जाता है। अन्तःकरणतत्त्व में शब्द-ब्रह्म की यही एकता परा वाणी कही जाती है। वहाँ पर जिस प्रकार घट पट मठ इत्यादि सभी अर्थतत्त्व एक हैं उसी प्रकार 'क' 'ख' 'ग' इत्यादि शब्दतत्त्व भी एक ही हैं। जब शब्दब्रह्म को घट पट इत्यादि रूप में बुद्धि ग्रहण करती है तो उस परा वाणी का नाम पश्यन्ती हो जाता है। यदि हम अपने कान बन्द कर लें तो कण्ठदेश में एक प्रकार की सनसनाहट का हमें अनुभव होता है। इसे मध्यमा नाम से पुकारा जाता है। परा वाणी का स्थान नाभिदेश है, पश्यन्ती का हृदय और मध्यमा का कण्ठ। इन तीनों अवस्थाओं में 'क ख ग' इत्यादि वर्ण एक रूप रहते हैं। उनमें भेद नहीं होता। कण्ठ से आगे बढ़कर जब वर्ण स्थान और प्रयत्न के द्वारा पृथक्-पृथक् होकर दूसरे द्वारा ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं तब उस वाणी को वैखरी कहते हैं। जिस वायुसंयोग के द्वारा स्थान और प्रयत्नों से शब्द अभिव्यक्त हुआ करते हैं उसे वैय्याकरण लोग ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार शब्द के दो भाग होते हैं—एक तो स्फोट या अर्थभाग और दूसरा वायुसंयोगात्मक ध्वनि। स्फोट में किसी प्रकार का भेद नहीं होता और न उसमें किसी प्रकार की उपाधि होती है, भेद ध्वनि में होता है। इसीलिये विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा उच्चारण की हुई ध्वनि विभिन्न प्रकार की होती है। नव परिणीता वधू की ध्वनि और प्रकार की होती है, वीर व्यक्ति की ध्वनि और प्रकार की होती है तथा दूसरे लोगों की ध्वनि दूसरे प्रकार की होती है। इस ध्वनिभेद से स्फोट रूप शब्दब्रह्म में भेद नहीं होता। किन्तु वह स्फोटरूप शब्द ब्रह्म वायुसंयोग रूप ध्वनि के द्वारा ही अभिव्यक्त हुआ करता है। ध्वनि का अर्थ से सम्बन्ध नहीं होता और अर्थभाग बिना ध्वनि के अभिव्यक्त नहीं हो सकता। इसीलिये जब कभी मेला इत्यादि लगा होता है और बहुत से लोग एक साथ बोलते हैं तथा उनके शब्द तो सुनाई पड़ते हैं किन्तु अर्थ समझ में नहीं आता, तव लोग यही कहा करते हैं कि बहुत बड़ी ध्वनि सुनाई पड़ रही है। आशय यह है कि जिस प्रकार अनिर्वचनीय ख्याति से ब्रह्म का विवर्त जगत् है उसी प्रकार शब्दब्रह्म से विवर्तित होनेवाला और उसी में पर्यवसान को प्राप्त होनेवाला समस्त वाङ्मय और उसका वाच्य अर्थ सभी कुछ उस स्फोटरूप शब्दब्रह्म का ही विपरिणाम है। उसकी व्यञ्जना करनेवाले वायुसंयोग को ध्वनि कहते हैं। विभिन्न प्रकार का भेद ध्वनिभेद हुआ करता है स्फोट में किसी प्रकार का भेद नहीं होता : यह इस प्रकार

लोचनम्

श्रूयमाणेष्विति । श्रोत्रशष्कुलीं सन्तानेनागता अन्त्याः शब्दाः श्रूयन्त इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम् । तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं तावदस्ति, ते च ध्वनिशब्देनोक्ताः । यथाह भगवान् भर्तृहरिः—

श्रूयमाणेति । श्रोत्र-शष्कुली में परम्पराप्रवाह से आये हुये अन्तिम शब्द सुनाई पड़ते हैं इस प्रक्रिया में अन्तिम शब्द श्रुतिगोचर होते हैं यह कह दिया गया । उनका घण्टानुरणन-रूपत्व है ही, वे ध्वनि शब्द के द्वारा कहे गये हैं । जैसा कि भगवान् भर्तृहरि ने कहा है—

तारावती

समझना चाहिये जिस प्रकार शरीर की स्थूलता और कृशता से आत्मा में कृशता नहीं होती अथवा तेल मुकुर खड्ग इत्यादि विभिन्न वस्तुओं में देखने पर मुखाकृति विभिन्न प्रकार की प्रतीत होती है किन्तु मुख में भेद नहीं होता उसी प्रकार औपाधिक ध्वनिभेद होने पर भी स्फोट में भेद नहीं होता । यह स्फोट सिद्धान्त का सार है । वैय्याकरण स्फोट के व्यञ्जकों को ध्वनि कहते थे । उनके मत में ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति होगी—'ध्वनतीति ध्वनिः' । साहित्यशास्त्रियों ने इसी ध्वनि शब्द को लेकर उसका और अधिक विस्तार किया । उन्होंने ध्वनित करना एक सामान्य धर्म ले लिया और जितने भी ध्वनित करनेवाले तत्त्व थे उन सभी का समावेश ध्वनि में कर दिया । इस प्रकार रीति, वृत्ति, गुण, अलङ्कार, शब्द, पद, पदांश, वर्ण, वाक्य रचना इत्यादि समस्त व्यञ्जक वर्ग इस ध्वनि शब्द से संगृहीत होने लगा । केवल इतना ही नही अपितु अर्थ भी यदि दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है तो वह भी व्यञ्जक वर्ग में सन्निविष्ट हो गया । यह व्यन्जक अर्थ वाच्य भी हो सकता है, लक्ष्य भी और यदि एक व्यङ्ग्य अर्थ के द्वारा दूसरा व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होने लगे तो व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जक कोटि में आ जावेगा । ध्वनि शब्द का यहीं तक विस्तार नहीं हुआ अपितु उसकी कर्म साधन व्युत्पत्ति को मानकर व्यज्यमान अर्थ को भी ध्वनि संज्ञा प्रदान की गई और इस प्रकार वस्तु अलङ्कार और रस तीनों का समावेश ध्वनि में हो गया । इसके अतिरिक्त भावसाधन व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर व्यञ्जना की प्रक्रिया को भी ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाने लगा । साथ ही इन सबका समूह काव्य भी ध्वनि के क्षेत्र में आ गया । इस प्रकार काव्य के लिये उपर्युक्त समस्त सामग्री का अन्तर्भाव इस ध्वनि शब्द में हो गया और ध्वनि ने काव्य की आत्मा का रूप धारण कर लिया ।

'वैय्याकरण लोग श्रवणेन्द्रिय द्वारा गोचर किये हुये वर्णों के लिये ध्वनि शब्द का व्यवहार करते हैं ।' इस कथन का आशय यह है कि परम्परा द्वारा शब्द कर्णविवर तक पहुँचते हैं और अन्तिम शब्द सुनाई पड़ते हैं । इस प्रक्रिया के अनुसार शब्दज शब्द ही सुनाई पड़ते हैं यह कहा गया है । जिस प्रकार घण्टा की ध्वनि में अनुरणनरूपता होती है अर्थात् शब्द होने के बाद एक प्रकार की झङ्कार सुनाई पड़ती रहती है उसी प्रकार इन ध्वनियों के उच्चारण के

लोचनम्

य: संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दाः ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥

'जो संयोग वियोग इत्यादि करणों से उत्पन्न किया जाता है वह स्फोट है । अन्य लोगों ने शब्दज शब्दों को ध्वनि कहा है ।'

तारावती

बाद भी एक प्रकार का बुद्धि उत्पादन रूप अनुरणन होता रहता है । यही बात भर्तृहरि ने इस प्रकार कही है :—

'संयोग और वियोग का सहारा लेकर जिह्वाग्रभाग इत्यादि करण जिसे उत्पन्न किया करते हैं उसे स्फोट कहते हैं । दूसरे लोग शब्दज शब्द को ध्वनि के नाम से पुकारते हैं ।'

[उक्त ग्रन्थ का सन्दर्भ समझने के लिये वर्णोच्चारण प्रक्रिया पर संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है । शब्द के विषय में तीन मत हैं—(१) शब्द अनित्य होते हैं । ये उत्पन्न और विनष्ट हुआ करते हैं । अन्य द्रव्यों के समान उनकी भी जाति होती है । यह सिद्धान्त है न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का । (२) वर्ण नित्य होते हैं, ये वर्ण ही शब्द का निर्माण किया करते हैं । उन्हीं का अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है जिसे शक्ति कहते हैं । यह सिद्धान्त है मीमांसा, वेदान्त, सांख्य और योगदर्शनों का । (३) वैय्याकरणों का स्फोटवाद अथवा अखण्डता का सिद्धान्त । ये लोग ब्रह्म के समान समस्त वर्णों की एकता तथा अखण्डता को मानते हैं । इनके सिद्धान्त का परिचय पहले दिया जा चुका है । प्रस्तुत लोचन नैय्यायिकों के उत्पत्तिवाद को मानकर लिखा गया है । अतः इस प्रकरण को ठीक रूप में समझने के लिये नैय्यायिकों का उत्पत्तिवाद समझ लिया जाना चाहिये । नैय्यायिक लोग शब्द को अनित्य मानते हैं क्योंकि शब्द के कारण होते हैं, कारण से उत्पन्न होनेवाले पदार्थ अनित्य हुआ करते हैं । शब्द श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होता है. इन्द्रिय ग्राह्य सभी तत्त्व अनित्य होते हैं जैसे रूप इत्यादि अनित्य हुआ करते हैं । कार्यवस्तुओं के समान मन्दतीव्र इत्यादि व्यवहार शब्द के विषय में भी हुआ करता है । इन्हीं कारणों से शब्द कृतक अथवा अनित्य माना जाता है । इस शब्द को उत्पन्न करनेवाले दो कारण होते हैं—संयोग और विभाग । जैसे मृदङ्ग और हाथ के संयोग से, अथवा मुगरी और घण्टा के संयोग से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे संयोगज शब्द कहते हैं । बाँस के फाड़ने से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे विभागज शब्द कहते हैं । किन्तु जहाँ पर शब्द उत्पन्न होता है उससे कर्णेन्द्रिय कुछ न कुछ दूर तो होती ही है । अतः शब्ददेश में ही कर्णेन्द्रिय शब्द को ग्रहण नहीं कर सकती । जिस प्रक्रिया के द्वारा शब्द श्रवणेन्द्रिय तक पहुँचता है उसके दो स्वरूप बतलाये गये हैं—वीचीतरङ्ग न्याय और कदंबमुकुल न्याय । वीचीतरङ्ग न्याय का आशय यह है कि जिस प्रकार किसी सरोवर में एक छोटा सा पत्थर का टुकड़ा फेंक दिया जावे तो सरोवर में लहरें उत्पन्न हो जाती हैं । पहले गोलाकार एक लहर उत्पन्न होती है फिर दूसरी, फिर तीसरी इसी क्रम से सारा सरोवर

लोचनम्

एवं घण्टानिर्ह्रादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः। तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यस्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः। यथाह भगवान् स एव—

इस प्रकार घण्टानिर्ह्राद के समान अनुरणन आत्मा से उपलक्षित व्यंग्य अर्थ भी ध्वनि के रूप में व्यवहृत किया जाता है। उसी प्रकार नादशब्दवाच्य जो श्रूयमाण वर्ण अन्त्य बुद्धि के द्वारा किये जानेवाले स्फोट के अभिव्यञ्जक होते हैं वे ध्वनि शब्द के द्वारा कहे जाते हैं। जैसा कि उन्हीं भगवान् ने कहा है—

तारावती

लहरों से भर जाता है। इसी प्रकार वायुमण्डल में जब शब्द प्रविष्ट होता है तब उसकी लहरें एक के बाद दूसरी उठकर कर्ण विवर तक पहुँचती हैं जहाँ ग्राहक यन्त्र के द्वारा शब्द ग्रहण किया जाता है। दूसरा न्याय है कदम्बमुकुल न्याय। जैसे कदम्बमुकुल के शीर्ष में एक कली सी होती है जिससे एक वृत्त सा बनकर समस्त मुकुल को आवेष्टित कर लेता है। यही शब्द की भी दशा है। वस्तुतः वीचीतरङ्ग न्याय ही ठीक है क्योंकि उसमें शब्द की एकता अक्षुण्ण बनी रहती है। जलधारा में उठनेवाली तरंगें एक ही होती हैं किन्तु कदम्ब की कलियों में वैसी एकता नहीं होती। अतः आचार्यों ने वीचीतरङ्ग न्याय को ही स्वीकार किया है कदम्ब-मुकुल न्याय को नहीं। वीचीतरङ्ग न्याय से उत्पन्न होनेवाले शब्द को शब्दज शब्द कहते हैं। उत्पत्ति वादियों के अनुसार शब्द के दो भेद हैं ध्वनि और वर्ण। भेरी इत्यादि के अभिघात से उत्पन्न शब्द ध्वनि कहलाते हैं और कण्ठतालु इत्यादि के अभिघात से उत्पन्न शब्द वर्ण कहलाते हैं। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत लोचन की व्याख्या करनी चाहिये। 'श्रोत्रशष्कुली में शब्द सन्तान (परम्परा) से आते हैं' का आशय यह है कि शब्द वीचीतरङ्ग न्याय से कर्ण कुहरों में प्रविष्ट होकर ग्राहक यन्त्र के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। 'शब्दज शब्द' की व्याख्या की ही जा चुकी। शब्दज शब्द का प्रत्यक्ष अनुभव घण्टानुरणन में होता है। घण्टे के बज चुकने के बाद जो उसमें एक प्रकार की झङ्कार होती रहती है वही शब्दज शब्द का स्वरूप है। कारिका में संयोग और वियोग का आश्रय लेकर साधनों के द्वारा शब्द के उत्पन्न होने की बात कही गई है। ये साधन ध्वनि में मृदङ्ग इत्यादि का अभिघात और वर्णों में कण्ठ तालु इत्यादि का अभिघात हो सकते हैं।]

जिस प्रकार घण्टानाद में अनुरणनरूपता होती है और उस अनुरणन को ध्वनि संज्ञा से अभिहित किया जाता है उसी प्रकार (शब्द और अर्थ से) अनुरणन रूप में उपलक्षित होनेवाला व्यंग्यार्थ भी ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है। (इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थध्वनियाँ संगृहीत हो गईं। इनको उपलक्षण मान लेने पर सब प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों का समावेश ध्वनि में हो गया।) इसी प्रकार जो लोग (वैय्याकरण) शब्द को नित्य तथा अखण्ड मानते हैं उनका कहना है कि वायु संयोग के द्वारा वर्ण पृथक्-पृथक् रूप में अभि-

लोचनम्

प्रत्ययैरनुपाख्यातैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

'उपाख्यान में अशक्य तथा (स्फोट के) ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययों से ध्वनि के द्वारा प्रकाशित किये हुये शब्द में स्वरूप का अवधारण किया जाता है।'

तारावती

व्यक्त होते हैं। इस प्रकार अभिव्यक्त होनेवाले वर्णों को नाद शब्द से अभिहित किया जाता है। ये वर्ण स्फोट के अभिव्यञ्जक होते हैं और स्फोट का अभिव्यञ्जन तथा ग्रहण अन्तिम बुद्धि के द्वारा हुआ करता है। यही बात भगवान् भर्तृहरि ने इसी प्रकार कही है:—

'स्फोट को ग्रहण करने के अनुकूल इस प्रकार के कुछ अन्तराल प्रत्यय होते हैं जिनके स्वरूप का वास्तविक विवेचन नहीं किया जा सकता। किन्तु उनके द्वारा ध्वनि से प्रकाशित किये हुये शब्द में स्फोट के स्वरूप को समझ लिया जाता है।'

ऊपर कहा गया है कि स्फोट का ग्रहण अन्तिम बुद्धि के द्वारा होता है। अन्तिम बुद्धि शब्द का आशय ठीक रूप में समझ लेना चाहिये। एक नियम है शब्द बुद्धि और कर्म द्विक्षणावस्थायी होते हैं। ये प्रथम क्षण में उत्पन्न होते हैं, दूसरे क्षण में स्थित रहते हैं और तीसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं। जिन प्रयत्नों का आश्रय लेकर एक वर्ण की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार के दूसरे प्रयत्नों का आश्रय लेकर दूसरे वर्ण की उत्पत्ति होती है। अब मान लीजिये एक 'घट' शब्द है। इसमें चार वर्ण हैं 'घ' 'अ' 'ट' 'अ'। पहले 'घ' की उत्पत्ति होगी, यह पहले क्षण में उत्पन्न होगा, दूसरे क्षण में स्थित रहेगा। उसके स्थितिकाल में ही दूसरे क्षण में 'अ' की उत्पत्ति होगी। तीसरे क्षण में 'घ' नष्ट हो जावेगा, 'अ' स्थित रहेगा और 'ट' की उत्पत्ति होगी। फिर चतुर्थ क्षण में 'अ' नष्ट हो जावेगा, ट स्थित रहेगा और अ की उत्पत्ति होगी जो कि पञ्चम क्षण में बना रहेगा और षष्ठ क्षण में नष्ट हो जावेगा। वर्णनित्यतावादियों के मत में उत्पत्ति का अर्थ होगा अभिव्यक्ति। इस प्रकार 'घट' शब्द पूर्ण रूप से कभी निष्पन्न हो ही नहीं सकता, इन वर्णों का सङ्घात कभी बनेगा ही नहीं। अब प्रश्न यह है कि फिर 'घट' पद से घट अर्थ का अवगम कैसे हो सकता है? लम्बे वाक्यों का तो साङ्घातिक अवगमन और भी असम्भव हो जावेगा। फिर उनका अर्थबोध कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि इन वर्णों का नाश हो जाता है तथापि इनसे एक संस्कार उत्पन्न होता है। वह संस्कार स्थायी रहता है और दूसरे वर्ण के संस्कार से उसका योग होता है। इस प्रकार 'घट' शब्द के चारों वर्णों का सामूहिक संस्कार अन्तिम वर्ण 'अ' पर सन्निहित है जिससे सामूहिक भावना घटार्थ की अभिव्यञ्जिका होती है। यह इसी प्रकार होता है जैसे यज्ञादि कर्म जिस क्षण किये जाते हैं उसके दूसरे क्षण स्थित रहते हैं और तीसरे क्षण नष्ट हो जाते हैं। किन्तु उस कर्म से स्वर्ग इत्यादि की प्राप्ति बहुत समय बाद होती है। उसके लिये यह कल्पना की जाती है कि यज्ञ इत्यादि कार्यों से एक प्रकार के अदृष्ट की

लोचनम्

तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ। किञ्च वर्णेषु तावन्मात्रपरिणामेष्वपि सत्सु। यथोक्तम्—

अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चारितं मतिः।
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम्॥ इति।

तेषु तावत्स्वेव श्रूयमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविलम्बादिवृत्तिभेदात्मा प्रसिद्धादुच्चारणव्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः। यदाह स एव—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोह्यन्ते, स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥ इति।

इससे व्यञ्जक शब्द और अर्थ भी ध्वनि शब्द से कहे गये हैं। और भी वर्ण के उतने परिमाण के होते हुए भी—जैसा कि कहा गया है—

'अल्प प्रयत्न के द्वारा उच्चारण किये हुए भी शब्द को बुद्धि या तो ग्रहण ही नहीं करती या सम्पूर्ण वर्ण को स्पष्ट रूप में ग्रहण करती है।'

उन उतने ही सुने जानेवाले वर्णों में वक्ता का जो प्रसिद्ध उच्चारण-व्यापार से द्रुत विलम्बित इत्यादि वृत्तिभेदात्मक अधिक व्यापार होता है वह ध्वनि कहा गया है। जैसा कि उन्हीं ने कहा है—

'शब्द की अभिव्यक्ति के बाद वृत्तिभेद में जो वैकृत ध्वनियाँ कारण होती हैं उनसे स्फोट रूप आत्मा में भेद नहीं आता।'

तारावती

उत्पत्ति होती है और उस अदृष्ट से स्वर्ग इत्यादि फल कालान्तर में प्राप्त होते हैं। स्फोट के अन्तिम वर्ण से ग्रहीत होने का यही आशय है।]

इस सिद्धान्त का तत्त्व यह है कि नित्य तथा अखण्ड स्फोट की वर्णों के रूप में व्यञ्जना वर्णों के रूप में ध्वनि के द्वारा होती है। इस प्रकार व्यञ्जक को ध्वनि कहते हैं। इसी साम्य के आधार पर व्यञ्जक शब्द और अर्थ ध्वनि कहे गये हैं। ध्वनि के प्रयोग में एक और बात है—श्रोत्रेन्द्रिय से जितने वायु संयोग के द्वारा वर्ण सुनाई पड़ जावे, उस वर्ण का वही परिमाण होता है। जैसा कि कहा गया है—

'यदि प्रयत्न की थोड़ी भी कमी में शब्द का उच्चारण किया जावे तो उस शब्द को बुद्धि या तो ग्रहण ही नहीं करती या स्फुट रूप में समस्त वर्ण को ग्रहण नहीं करती।'

आशय यह है कि वर्ण एक निश्चित परिमाण में ही ध्वनि के द्वारा सुनाई पड़ते हैं। उस प्रसिद्ध उच्चारण व्यापार से वक्ता का जो अतिरिक्त व्यापार होता है और जो कि द्रुत विलम्बित इत्यादि वृत्तियों के भेद में कारण होता है उसे भी ध्वनि कहते हैं। जैसा कि उन्हीं (भर्तृहरि) ने कहा है—

'शब्द की अभिव्यक्ति के बाद वृत्तिभेद में वैकृत ध्वनियाँ प्रस्फुटित होती हैं किन्तु उनसे स्फोट की आत्मा में अन्तर नहीं आता।

लोचनम्

अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः। एवं चतुष्कमपि ध्वनिः। तद्योगाच्च समस्तमपि काव्य ध्वनिः। तेन व्यतिरेकाव्यतिरेकव्यपदेशोऽपि न न युक्तः। वाच्यवाचकसंमिश्र इति। वाच्यवाचकसहितः सम्मिश्र इति मध्यमपदलोपी समासः।

'हमारे द्वारा भी अभिधा, तात्पर्य और लक्षणारूप प्रसिद्ध शब्दव्यापारों से अतिरिक्त व्यापार को ध्वनि कहा गया है। इस प्रकार चारों ही ध्वनि होती हैं और उनके योग से समस्त काव्य ध्वनि (कहा जाता है।) इससे भेद और अभेद का व्यपदेश भी ठीक न हो यह बात नहीं है। 'वाच्यवाचकसम्मिश्र' इति। वाच्यवाचक सहित सम्मिश्र यह मध्यमपदलोपी समास है।

तारावती

[इस समस्त विवरण का आशय यह है कि—'ध्वनि दो प्रकार की होती है—प्राकृत और वैकृत। प्राकृत ध्वनि 'कत्व' 'ह्रस्वत्व' 'आद्युदात्तत्व' इत्यादि धर्मविशिष्ट होती है। यद्यपि स्फोट स्वयं प्रकाशमान होता है तथापि वह पिण्डीभूत वायुसंयोग से अवरुद्ध रहता है। इस अवरोध का निराकरणकर स्फोट को प्रकाशित करना ही प्राकृत ध्वनि का काम है। यह प्रकाशमान स्फोट ध्वनि से अभिन्न प्रतीत होता है। अतएव स्फोट एक होता है, नित्य होता है, व्यापक होता है और नाना प्रकार की ध्वनियों के स्वरूप से आक्रान्त होकर प्रकट हुआ करता है और जब यह पूर्व वर्णों के संस्कार से युक्त होकर अन्तिम वर्ण पर अभिव्यक्त होता है तब अर्थबोध कराता है। प्राकृत ध्वनि को ही वर्ण कहते हैं। स्फोट कभी भी प्राकृत ध्वनियों से रहित प्रतीत नहीं होता। इसीलिये सूक्ष्म दृष्टि से विचार न करनेवाले नैय्यायिक लोग इस स्फोट की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। वैकृत ध्वनि का काम यह है कि यह प्राकृत ध्वनि के द्वारा प्रतीत होनेवाले वर्ण में द्रुत विलम्बित इत्यादि वृत्तिभेद कर देता है। कहा ही जाता है कि एक ही वर्ण अमुक व्यक्ति ने शीघ्र उच्चारण किया अमुक ने विलम्ब से किया। वीरों की, नई वहुओं की, क्रोध में भरे व्यक्ति की ध्वनियों में जो पृथक्-पृथक् भेद होता है वह भेद भी वैकृत ध्वनि का ही होता है। वैकृत ध्वनिभेद होते हुये भी प्रकृत ध्वनिभेद नहीं होता; अतएव आकार इत्यादि की एकरूपता कही जाती है। वैय्याकरणाभिमत ध्वनि का यही सार है। इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि उच्चारण की प्रक्रिया को भी ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार यहाँ पर तीन अर्थों में ध्वनि का प्रयोग बतलाया गया है (१) नैय्यायिकों के अनुसार उत्पन्न होनेवाले शब्दज शब्दों के लिये। इस आधार पर साहित्यिक लोग व्यङ्ग्यार्थ को ध्वनि कहते हैं। इनमें साधर्म्य है प्रतीयमान अथवा उत्पाद्यमान होना (२) वैय्याकरणों के मत में स्फोट व्यङ्ग्य होता है और प्राकृत ध्वनि उसकी व्यञ्जना करती है। इस प्रकार ध्वनि व्यञ्जक होती है। इसी साम्य के आधार पर साहित्य शास्त्र में व्यञ्जक को ध्वनि कहते हैं। यह व्यञ्जक दो प्रकार का होता है वाच्यार्थ और वाचक शब्द। (३) वैकृत ध्वनियाँ वृत्तिभेद में कारण होती हैं। इस साम्य के आधार पर व्यञ्जनाव्यापार को ध्वनि कहते हैं।]

लोचनम्

'गामश्वं पुरुषं पशुम्' इति वत्समुच्चयोऽत्र चकारेण विनापि। तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः; द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। संमिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननं ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः। उक्तप्रकार-ध्वनिचतुष्टयमयत्वात्। अत एव साधारणहेतुमाह—व्यञ्जकत्वसाम्यादिति। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सर्वेषु पक्षेषु सामान्यरूपः साधारण इत्यर्थः।

'गाम्, अश्वम्, पुरुषम्, पशुम्' के समान विना चकार के ही समुच्चय हो जाता है। इससे वाच्य भी ध्वनि है, वाचक शब्द भी ध्वनि है, दोनों की व्यञ्जकता होती है 'ध्वनित करता है' इस व्युत्पत्ति को मानकर। शब्द करना शब्द कहलाता है अर्थात् शब्दव्यापार; यह अभिधा इत्यादि रूप नहीं होता अपितु आत्मस्थानीय होता है, वह भी ध्वनन अर्थात् ध्वनि कहलाता है। 'काव्य' इस नामवाला जो अर्थ है वह भी ध्वनि होती है क्योंकि ध्वनि के उक्त चार प्रकारमय ही (काव्य) होता है। इसोलिये साधारण हेतु बतलाते हैं—'व्यञ्ज-कत्वसाम्यादिति' व्यंग्यव्यञ्जक भाव सब पक्षों में सामान्यरूप में साधारण होता है यह अर्थ है।

तारावती

इस प्रकार हम लोगों ने अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीन शब्दव्यापारों से भिन्न व्यापार को ध्वनि संज्ञा प्रदान की। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ और व्यञ्जना व्यापार इन चारों को ध्वनि कहते हैं। इन सब का संयोग होने के कारण समस्त काव्य को भी ध्वनि कहते हैं। विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण भेद और अभेद दोनों का व्यपदेश करना उचित नहीं है यह बात नहीं। अर्थात् भेद और अभेद दोनों का व्यपदेश उचित नहीं है। 'काव्यस्य आत्मा ध्वनिः' में भेदव्यपदेश है क्योंकि काव्य शब्द में षष्ठी और 'ध्वनिः' में प्रथमा है। यहाँ व्यङ्ग्य व्यञ्जक इत्यादि ध्वनि के अर्थ हैं। अतः भेदव्यप-देश किया गया है। इसी प्रकार 'स ध्वनिः' में दोनों शब्दों में प्रथमा है। अतः अभेदव्यपदेश है।

('वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः' इस वाक्य को एक दृष्टि में देखने पर सीधा अर्थ यह प्रतीत होता है कि 'वाच्य और वाचक से मिश्रित, शब्द आत्मावाले तथा काव्य इस नामवाले तत्त्व को व्यञ्जक की समानता के कारण ध्वनि कहा गया है।' किन्तु लोचनकार ने इस वाक्य का और ही अर्थ लगाया है जिससे ध्वनि के सभी भेदों का इस वाक्य में समावेश हो जाता है।) यहाँ पर सम्मिश्र एक पृथक्तत्त्व है, वाच्य-वाचक शब्द के साथ उसका मध्यमपदलोपी समास हो जाता है। अर्थात् वाच्य वाचक से युक्त सम्मिश्र। शब्दात्मा एक पृथक् तत्त्व है और काव्यमितिव्यपदेश्यः यह

ध्वन्यालोकः

न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसङ्कलनया महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः। न च तेषु कथञ्चिदीर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्वमाविष्करणीयम्। तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः।

(अनु०) जो ध्वनि इस प्रकार की है आगे चलकर किये जानेवाले भेदों उपभेदों से जिसका विषय महान् तथा व्यापक हो जाता है उसका प्रकाशन विशेष प्रकार के अप्रसिद्ध केवल अलङ्कारों के प्रकाशन के समान नहीं हो सकता। अतएव जिनके हृदयों में उस ध्वनि के प्रति (अथवा अप्रसिद्ध अलंकारों के प्रति) भावना भरी हुई है उनका उत्तेजित होना उचित ही है। उनके प्रति ईर्ष्या के कारण अपनी बुद्धि को कभी कलुषित नहीं बनाना चाहिये। इस प्रकार ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण हो गया।

तारावती

पृथक् तत्त्व है। यहाँ पर यद्यपि 'च' का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि समुच्चय हो जाता है जैसे 'मैं गाय, घोड़ा, पुरुष, पशु को जानता हूँ।' इस वाक्य में यद्यपि 'और' का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि सभी का समुच्चय हो जाता है। इस प्रकार वाच्य अर्थ को ध्वनि कहते हैं और वाचक शब्द को भी ध्वनि कहते हैं। दोनों व्यञ्जक होते हैं, दोनों अवस्थाओं में व्युत्पत्ति होगी, 'ध्वनति इति ध्वनिः'। सम्मिश्र अर्थात् व्यङ्ग्य को भी ध्वनि कहते हैं। सम्मिश्र शब्द का अर्थ है जो विभाव अनुभाव के सम्मिलन के द्वारा अवगत किया जावे इस प्रकार का व्यङ्ग्यार्थ। इस अर्थ में ध्वनि शब्द का प्रयोग करने पर व्युत्पत्ति होगी 'ध्वन्यत इति ध्वनिः।' अब 'शब्दात्मा' शब्द को लीजिये। शब्द का अर्थ है 'शब्दन' अर्थात् शब्दव्यापार। अतएव 'शब्दात्मा' शब्द का अर्थ हुआ ऐसा शब्दव्यापार जो आत्मा के रूप में स्थित हो। ऐसा शब्दव्यापार अभिधा नहीं हो सकता अपितु व्यञ्जना हो सकता है क्योंकि वही काव्य की आत्मा है। इस प्रयोग में ध्वनि की व्युत्पत्ति होगी—'ध्वननं ध्वनिः'। जिस वस्तु के लिये 'काव्य' यह नाम दिया जाता है वह भी ध्वनि कहलाता है क्योंकि उसमें कोई ऐसा तत्त्व नहीं होता जो उक्त चारों प्रकारों से भिन्न हो। उक्त समस्त प्रकारों में ध्वनि शब्द का प्रयोग वैय्याकरणों के अनुसार इस आधार पर होने लगा कि वैय्याकरण भी ध्वनि के द्वारा शब्द की व्यञ्जना मानते हैं और साहित्यिकों की ध्वनि में भी मूल आधार व्यञ्जना ही है। आशय यह है कि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव का होना एक साधारण तर्क है जो सभी पक्षों में सामान्य रूप में लागू होता है। आशय यह है कि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सामान्यतया सभी पक्षों में साधारण रूप में पाया जाता है।

अभाववाद के एक पक्ष में जो यह कहा गया था कि 'ध्वनि अनन्त वाग्विकल्पों में ही एक साधारण अलङ्कार माना जा सकता है।' अब उसका उत्तर दिया जा रहा है—'अपने

लोचनम्

यत्पुनरेतदुक्त 'वाग्विकल्पानामानन्त्यादिति' तत्परिहरति—न चैवं-विधस्येति। वक्ष्यमाणः प्रभेदो यथा–मुख्ये द्वे रूपे। तद्भेदा यथा-अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इत्यविवक्षितवाच्यस्य; असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्येति। तत्राप्यवान्तर-भेदाः। महाविषयस्येति अशेषलक्ष्यव्यापिन इत्यर्थः। विशेषग्रहणेनाव्यापकत्व-माह। मात्रशब्देनाङ्गित्वाभावम्। तत्र ध्वनिस्वरूपे भावितं प्रणिहितं चेतो येषां तेन वा चमत्काररूपेण भावितमधिवासितमत एव मुकुलितलोचनत्वादिविकार-कारणं चेतो येषामिति। अभाववादिन इति। अवान्तरप्रकारत्रयभिन्ना अपीत्यर्थः।

और जो यह कहा गया कि 'वाणी के विकल्पों के अनन्त होने से' इत्यादि। उसका परिहास कर रहे हैं—न चैवं विधस्य इत्यादि। कहे जानेवाले प्रभेद जैसे—मुख्य दो रूप हैं। उनके भेद जैसे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये अविवक्षितवाच्यपरवाच्य के भेद हैं। विवक्षितान्यपरवाच्य के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ये (दो भेद हैं) उसमें भी अवान्तर भेद होते हैं। 'महाविषयस्य' का अर्थ है समस्त लक्ष्य में व्यापक। विशेष ग्रहण से अव्यापकता बतलाते हैं। मात्र शब्द से अङ्गित्व का अभाव (बतलाते हैं) उसमें अर्थात् ध्वनिस्वरूप में भावित अर्थात् दे दिया गया है चित्त जिन लोगों का अथवा चमत्कार-रूप उस अलंकार के द्वारा भावित अर्थात् अधिवासित अतएव मुकुलित लोचनत्व इत्यादि विकार का कारण है चित्त जिनका। अभाववादी अर्थात् अवान्तर तीनों प्रकारों से भिन्न भी।

तारावती

भेद और उपभेदों के कारण, जिनका निरूपण आगे चलकर द्वितीय उद्योत में किया जावेगा। ध्वनि का विषय महान् है।' उसके प्रभेद इस प्रकार हैं—मुख्य रूप से ध्वनि के दो रूप होते हैं—अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य। उनके उपभेद इस प्रकार हैं—अवि-वक्षितवाच्य दो प्रकार का होता है—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य भी दो प्रकार का होता है—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। उनके भी बहुत से अवान्तर भेद होते हैं। इस प्रकार ध्वनि का विषय महान् हो जाता है अर्थात् काव्य शब्द से जो कुछ भी अभिहित किया जाता है उस सबमें ध्वनि व्यापक रूप में रहती है।' केवल विशेष प्रकार के अलङ्कारों में उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता।' इस वाक्य में 'विशेष' शब्द का अर्थ है कि अलङ्कार व्यापक नहीं होते जब कि ध्वनि काव्य में व्यापक होती है। 'केवल' शब्द का अर्थ है अलङ्कार केवल आभूषण ही हो सकते हैं वे अङ्गी (प्रधान) नहीं हो सकते। 'तद्भावितचेतसाम्' शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है—जिन लोगों ने ध्वनि के स्वरूप में अपना चित्त लगा दिया है उनके प्रति ईर्ष्यालु नहीं होना चाहिये। दूसरा अर्थ है—'ध्वनि को चमत्कार रूप में समझते हुये जिन्होंने उसी

ध्वन्यालोकः

अस्ति ध्वनिः। स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन।

(अनु०) ध्वनि है। वह सामान्यरूप से दो प्रकार की होती है अविक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपर वाच्य।

लोचनम्

तेषां प्रयुक्तौ फलमाह—अस्तीति। उदाहरणपृष्ठे भाक्तत्वं सुशङ्कं सुपरिहरं च भवतीत्यभिप्रायेणोदाहरणदानावकाशार्थं भाक्तत्वालक्षणीयत्वे प्रथमं परिहरणयोग्येऽप्यप्रतिसमाधाय भविष्यदुद्योतानुवादानुसारेण वृत्तिकृदेव प्रभेदनिरूपणं करोति—सचेति। पञ्चधापि ध्वनिशब्दार्थे येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुव्रीह्यर्थाश्रयेण यथोचितं सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम्। वाच्येऽर्थे तु ध्वनौ वाच्यशब्देन स्वात्मा तेनाविवक्षितोऽप्रधानीकृतः स्वात्मा येनेत्यविवक्षितवाच्यो व्यञ्जकोऽर्थः एवं विवक्षितान्यपरवाच्येऽपि। यदि वा कर्मधारयेणार्थपक्षे

उनके प्रत्याख्यान का फल बतला रहे हैं—'ध्वनि है' इत्यादि। उदाहरण की पीठपर भाक्तत्व की शङ्का भी सरलता से हो सकती है और उसका परिहार भी सरलता से किया जा सकता है, इस अभिप्राय से भाक्तत्व और अलक्षणीयत्व के प्रथम परिहार योग्य होते हुये भी उनका प्रतिसमाधान न करके आगे आनेवाले उद्योत के अनुवाद के अनुसार वृत्तिकार ही प्रभेद निरूपण कर रहा है—स च इत्यादि। पाँचों प्रकार के ध्वनिशब्द के अर्थ में 'जिसके द्वारा' 'जिसमें' 'जिससे' 'जिसको' 'जिसके लिये' इस बहुव्रीहि के अर्थ के आश्रय से यथोचित रूप में सामानाधिकरण्य की योजना सुविधापूर्वक की जा सकती है। ध्वनि वाच्यार्थ को कहते हैं, यह मानने पर वाच्यशब्द से स्वात्मा कहा जाता है, उससे अविवक्षित अर्थात् अप्रधान कर दिया गया है स्वात्मा जिसके द्वारा, इस प्रकार अविवक्षितवाच्य व्यञ्जक अर्थ (कहलाता है)। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य में भी। अथवा कर्मधारय के द्वारा अर्थ करने के पक्ष में अवि-

तारावती

आशय से अपने चित्तों को अधिवासित कर लिया है उनके नेत्र मुकुलित हो गये हैं उनके चित्तों में पक्षपात का विकार उत्पन्न हो गया है। अतः उनके प्रति अपनी बुद्धि को ईर्ष्या से परिपूर्ण नहीं बनाना चाहिये। (क्योंकि वास्तविकता को न समझ सकने के कारण वे बेचारे दया के पात्र हैं।) इस प्रकार तीन अवान्तर प्रकारों में विभक्त अभाववादियों का निराकरण हो गया।

अभाववादियों का फलितार्थ बतलाया जा रहा है कि 'ध्वनि है'। अभाववाद के निराकरण कर देने से यह सिद्ध हो गया कि ध्वनि की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। अब दो प्रश्न शेष रह गये—(१) क्या ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में कर दिया जाना चाहिये ? (२) क्या ध्वनि का लक्षण बनाना अशक्य है ? इन दोनों पक्षों पर ही

लोचनम्

अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्चेति। विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्चेति। तत्रार्थः कदाचिदनुपपद्यमानत्वादिना निमित्तेनाविवक्षितो भवति। कदाचिदुपपद्यमान इतिकृत्वा विवक्षित एव, व्यङ्ग्यपर्यन्तां तु प्रतीतिं स्वसौभाग्यमहिम्ना करोति। अत एवार्थोऽत्र प्राधान्येन व्यञ्जकः, पूर्वत्र शब्दः। ननु च विवक्षा चान्यपरत्वं चेति विरुद्धम्। अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात्को विरोधः? सामान्येनेति। वस्त्वलङ्काररसात्मना हि त्रिभेदोऽपि ध्वनिरुभाभ्यामेवाभ्यां सङ्गृहीत इति भावः।

वक्षित होते हुये भी जो वाच्य है। विवक्षितान्यपर होते हुये जो वाच्य है यहाँ उसमें अर्थ कदाचित् अनुपपद्यमान होने इत्यादि निमित्त के द्वारा अविवक्षित होता है। कदाचित् उपपद्यमान होने के कारण विवक्षित ही होता है। व्यङ्ग्यपर्यन्त प्रतीति को तो अपने सौभाग्य की महिमा से कर देता है। अतएव यहाँ पर अर्थ प्रधानतया व्यञ्जक होता है। पहले तो शब्द (व्यञ्जक होता है)। (प्रश्न) विवक्षा और अन्यपरत्व ये विरुद्ध हैं? (उत्तर) अन्यथात्व के रूप में विवक्षित होने में क्या विरोध है? 'सामान्य रूप में' यह। आशय यह है कि वस्तु रस और अलंकारात्मक निस्सन्देह तीन प्रकार की भी ध्वनि इन दोनों ही भेदों के द्वारा संगृहीत हो गई है।

तारावती

विचार करना है किन्तु उदाहरण के आधार पर ही लक्षणापक्ष की स्थापना भी की जा सकती है और उसका उत्तर भी दिया जा सकता है। अतएव यद्यपि लक्षणापक्ष और अशक्यवक्तव्य पक्ष का परिहार पहले करना चाहिये तथापि इस प्रकरणप्राप्त विषय का अतिक्रमण करके उदाहरण देने की सुविधा के लिये वृत्तिकार ने ही ध्वनि के प्रमुख भेदों का पहले निरूपण किया है। ध्वनि के भेदोपभेदों का निरूपण दूसरे उद्योत में विस्तारपूर्वक किया जावेगा। उसी का अनुवाद यहाँ पर कर दिया गया है कि ध्वनि दो प्रकार की होती है—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। (अविवक्षितवाच्य शब्द में एक तो बहुव्रीहि समास हो सकता है और दूसरा कर्मधारय।) बहुव्रीहि द्वारा अर्थ करने में तृतीया, सप्तमी, पञ्चमी, षष्ठी और चतुर्थी के अर्थों में बहुव्रीहि मानकर ध्वनि के पाँचों अर्थों में सामानाधिकरण्य की भलीभाँति योजना की जानी चाहिये। ध्वनि का अर्थ वाच्यार्थ भी होता है और अविवक्षितवाच्य में 'वाच्य' शब्द का प्रयोग किया ही गया है। अतएव ध्वनि का अर्थ वाच्यार्थ होने पर वाच्य का अर्थ करना चाहिये 'अपनी आत्मा' इससे 'अविवक्षितवाच्य' शब्द का अर्थ हो जावेगा—'अविवक्षित अर्थात् अप्रधान कर दिया है अपनी आत्मा को जिसने अर्थात् व्यञ्जक अर्थ।' 'अविवक्षितवाच्य' में विभिन्न अर्थों में बहुव्रीहि करने पर ये अर्थ होंगे—(१) षष्ठी के अर्थ में बहुव्रीहि—अविवक्षित है वाच्य जिसका अर्थात् वाचक शब्द, (२) तृतीया के अर्थ में बहुव्रीहि—अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य रूप स्वात्मा जिसके द्वारा अर्थात् वाच्य अर्थ। (३) सप्तमी के अर्थ में बहुव्रीहि—'अविवक्षित कर दिया गया

तारावती

है वाच्य जिसमें अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार (४) अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिसके लिये अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ। (५) अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिससे अर्थात् व्यञ्जना-व्यापार के वाच्य सामर्थ्य इत्यादि हेतु। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य के भी विभिन्न अर्थ कर लेने चाहिये। अथवा कर्मधारय समास भी हो सकता है—अर्थात् जो अविवक्षित होते हुए वाच्य है। इसी प्रकार जो अन्यपरता के साथ विवक्षित है और वाच्य है। व्यञ्जनाव्यापार का आश्रय लेने पर वाच्यार्थ की दो स्थितियाँ हो सकती हैं—कहीं तो वाच्यार्थ का अनुपपन्न (असङ्गत) होना इत्यादि कुछ ऐसे हेतु होते हैं जिनसे वाच्य अविवक्षित हो जाता है। कहीं-कहीं वाच्यार्थ सङ्गत ही होता है. अतएव उसका कहना वक्ता को अभीष्ट ही होता है। किन्तु एक तो उस शब्द का प्रयोग नवीन भङ्गिमा के साथ किया गया होता है, दूसरे उस शब्द में ही कोई ऐसी विशेषता विद्यमान होती है कि उससे एक नवीन अर्थ व्यक्त होने लगता है। इस प्रकार वह शब्द अपने सौभाग्य की महिमा से उस नवीन अर्थ को भी व्यक्त कर दिया करता है। अतएव वाच्यार्थ से लेकर व्यङ्ग्यार्थप्रतीति पर्यन्त उस शब्द का व्यापार चलता रहता है और वह शब्द अपने सौभाग्य की भहिमा से व्यङ्ग्यपर्यन्त प्रतीति उत्पन्न किया करता है। प्रथम प्रकार की व्यङ्ग्यप्रतीति में वाच्यार्थ अविवक्षित होता है, अतएव उसे अविवक्षित वाच्य कहते हैं और दूसरे प्रकार में अन्य अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) के साथ वाक्यार्थ विवक्षित होता है, अतएव उसे विवक्षितान्यपरवाच्य कहते हैं। द्वियीय प्रकार में अर्थ दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है अतः प्रधानतया अर्थ व्यञ्जक होता है किन्तु प्रथम प्रकार में अर्थ अविवक्षित होवा है अतः प्रधानया शब्द व्यञ्जक होता है। (यहाँ पर महिम भट्ट ने एक प्रश्न उठाया है कि) अर्थ विवक्षित भी है अर्थात् वाच्यार्थ का कथन अभीष्ट भी होता है और उसका वाच्यार्थ व्यतिरिक्त दूसरा भी अर्थ निकलता है, यह बात परस्पर विरुद्ध है। इसका उत्तर यह है कि इसमें क्या विरोध है कि एक शब्द अपने अर्थ को एक अन्य विशेष अर्थ के साथ कहता है? मूल में कहा गया है कि ध्वनि सामान्यतया दो प्रकार की होती है। यहाँ पर सामान्यतया का अर्थ यह है कि यद्यपि ध्वनि के तीन भेद किये गये थे वस्तु, रस और अलङ्कार। तथापि इन तीनों भेदों का संग्रह अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य इन्हीं दो भेदों में कर दिया गया। (प्रश्न) पहले से ध्वनि के तीन नाम चलते ही थे वस्तु, रस और अलंकार। उन्हीं की पीठ पर ये दो नये नाम सन्निविष्ट कर देने से क्या लाभ ? (उत्तर) इन दो नामों के रखने का एक विशेष प्रयोजन है। यह बतलाया जा चुका है कि ध्वनि का एक अर्थ व्यापार भी है। उस व्यापार में शब्द और अर्थ दोनों कारण होते हैं। जब प्रतिपत्ता (श्रोता) किसी शब्द को सुनता है तब उसको अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक पूर्व प्रसिद्ध तीनों व्यापारों से एक अर्थ की अवगति होती है। दूसरी ओर प्रयोक्ता (वक्ता) का अभिप्राय भी किसी विशेष अर्थ में होता है जिसे वक्ता की विवक्षा कहते हैं। अभिधा इत्यादि तीनों व्यापारों से अवगत तथा श्रोता के अन्तःकरण में विराजमान अर्थ का और प्रयोक्ता के

ध्वन्यालोकः

तत्राद्यस्योदाहरणम्—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

(अनु०) उनमें पहले (अविवक्षितवाच्य) का उदाहरण—

स्वर्ण को फूलनेवाली पृथ्वी को तीन ही पुरुष प्राप्त कर पाते हैं—वीर, सफल और पूर्ण विद्यावाला तथा जो सेवा करना जानता है।

लोचनम्

ननु तन्नामपृष्ठे एतन्नामनिवेशनस्य किं फलम्? उच्यते—अनेन हि नामद्वयेन ध्वननात्मनि व्यापारे पूर्वप्रसिद्धाभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रितयावगतार्थप्रतीतेः प्रतिपत्तृगतायाः प्रयोक्त्रभिप्रायरूपायाश्च विवक्षायाः सहकारित्वमुक्तमितिध्वनिस्वरूपमेव नामभ्यामेव प्रोज्जोवितम्।

सुवर्णपुष्पामिति। सुवर्णानि पुष्प्यतीति सुवर्णपुष्पा। एतच्च वाक्यमेवासम्भवत्स्वार्थमितिकृत्वाऽविवक्षितवाच्यम्। तत एव पदार्थमभिधायान्वय च तात्पर्यशक्त्यावगमय्यैव बाधकवशेन तमुपहत्य सादृश्यात् सुलभसमृद्धिसमाचारभाजनतां लक्षयति। तल्लक्षणाप्रयोजनं शूरकृतविद्यसेवकानां प्राशस्त्यमशब्दवाच्यत्वेन गोप्यमानं सन्नायिकाकुचकलशयुगलमिव महार्घतामुपनयद् ध्वन्यत इति। शब्दोऽत्र प्रधानतया व्यञ्जकः, अर्थस्तु तत्सहकारितयेति चत्वारो व्यापाराः।

(प्रश्न) उक्त नामों की पीठपर नये नामों के समावेश का क्या लाभ? (उत्तर) बतलाते हैं—इन दोनों नामों के द्वारा ध्वननात्मक व्यापार में पूर्व प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य और लक्षणात्मक तीनों व्यापारों से अवगत होनेवाले अर्थ की प्रतीति से प्रतिपत्ता के अन्दर रहनेवाली और प्रयोक्ता की अभिप्रायरूपिणी विवक्षा का सहकारित्व बतला दिया गया है इस प्रकार नामों के द्वारा ध्वनि का स्वरूप ही प्रत्युज्जीयित कर दिया गया है।

सुवर्णपुष्पाम् इत्यादि। सुवर्णों को जो फूलती है उसे सुवर्णपुष्पा (कहते हैं) यह वाक्य ही असम्भव स्वार्थवाला है इसलिये यह अविवक्षितवाच्य है। उसी से पदार्थ को कहकर और अन्वय को तात्पर्यशक्ति से अवगत कराकर बाधकवश उसको उपहतकर सादृश्य से सुलभसमृद्धि सम्भार की पात्रता को लक्षित करता है। उस लक्षण का प्रयोजन शूर, सफलविद्यावाले और सेवकों का प्राशस्त्य अशब्दवाच्यत्व के रूप में छिपाया जाता हुआ होकर नायिका के कुचकलशयुगल के समान महार्घता को प्राप्त होते हुये ध्वनित करता है, इस प्रकार शब्द यहाँ पर प्रधानतया व्यञ्जक है और अर्थ तो उसकी सहकारिता के रूप में (गृहीत होता है) इस प्रकार चार व्यापार हैं।

तारावती

अभिप्रेत विवक्षित अर्थ का परस्पर सहकार अवश्य होता है यही सिद्ध करने के मन्तव्य से यहाँ पर नये नाम रक्खे गये हैं। इस प्रकार नामों के द्वारा ही ध्वनि का स्वरूप भी प्रत्युज्जीवित कर दिया गया है।

अविवक्षित वाच्य का जो उदाहरण मूल में दिया गया है उसके सुवर्णपुष्पा शब्द को लीजिये। इसका अर्थ है—'जो सुवर्ण को फूलती है।' वह पृथिवी का विशेषण है। अतएव पृथिवी पर लता का आरोप हो जाता है। न तो पृथिवी एक लता ही है और न किसी लता में सोने के फूल ही आते हैं। इस प्रकार इस वाक्य का अपना अर्थ (वाच्यार्थ) असम्भव है, अतएव विवक्षित नहीं हो सकता। इसीलिये इसे अविवक्षितवाच्य कहते हैं। इसका क्रम इस प्रकार होगा—पहले यह शब्द पदार्थ का अभिधान करेगा अर्थात् अभिधावृत्ति से वाच्यार्थ-बोध होगा। इसके बाद (अभिहितान्वयवाद के अनुसार) तात्पर्यशक्ति के द्वारा अन्वय का अवगमन होगा। (अन्विताभिधानवाद के अनुसार अन्वय की प्रतीति अभिधावृत्ति से ही हो जायेगी।) तब बाध की प्रतीति होगी कि यह अर्थ असम्भव है। इससे उस अर्थ का हनन हो जावेगा। तब सादृश्य सम्बन्ध को हेतु मानकर इसका लक्ष्यार्थ हो जावेगा कि ऐसे व्यक्तियों को सम्पत्ति सुलभ होती है और वे उस सम्पत्ति के समूह के पात्र बन जाते हैं। इस लक्षणा का प्रयोजन यह प्रकट करना है कि शूर कुशल विद्यावाले और सेवक प्रशंसनीय होते हैं। वास्तव में कहना यही है किन्तु इसे शब्द के द्वारा न कहकर छिपाते हुये कहा गया है। इस प्रकार जैसे सुन्दरियों के कुचकलश का जोड़ा छिपाये जाने पर ही बहुमूल्य बनता है उसी प्रकार यह अर्थ छिपाये जाने के कारण बहुमूल्य हो गया है। इसीलिये इसे ध्वनि कहते हैं। यहाँ पर प्रधानतया शब्द व्यञ्जक है और अर्थ उसका सहकारी होने के कारण व्यञ्जक है। इस प्रकार यहाँ पर (अभिहितान्वयवाद के अनुसार) चार व्यापार हैं—अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा और व्यञ्जना। (अन्विताभिधानवाद के अनुसार तात्पर्य को छोड़ कर तीन वृत्तियाँ होंगी।)

[यहाँ पर प्रायः सभी टीकाकारों ने लोचनकार द्वारा की हुई 'सुवर्णपुष्पा' शब्द की व्याख्या पर आपत्ति उठाई है। लोचनकार ने विग्रह किया था—'सुवर्ण पुष्प्यतीति' अर्थात् जो सुवर्ण को फूलती हो। यहाँ पर 'सुवर्ण' इस कर्म के उपपद होने के कारण 'पुष्प' धातु से 'कर्मण्यण्' सूत्र से अण् प्रत्यय हो जाता है। स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिये उससे 'टाप्' किया गया है। इस पर एक आपत्ति यह है कि पुष्प धातु अकर्मक है; 'सुवर्ण' शब्द उसका कर्म कैसे हो सकता है? किन्तु यदि णिच् का अर्थ अन्तर्भूत मान लिया जावे तो यह धातु सकर्मक हो सकती है। दूसरी आपत्ति यह है कि यदि इस शब्द में अण् प्रत्यय है तो उसका स्त्रीलिङ्ग शब्द बनाने में ङीप् होना चाहिये और सुवर्णपुष्पी शब्द बनना चाहिये। किन्तु अजादिगण आकृतिगण है और उसमें पुष्प शब्द को मानकर टाप् हो सकता है। यद्यपि आकृतिगण का आश्रय अगतिकगति है तथापि यहाँ पर विशेष व्यञ्जना होने के कारण अगति-

ध्वन्यालोकः

द्वितीयस्यापि—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥

(अनु०) दूसरे (विवक्षितान्यपरवाच्य) का उदाहरण—

'हे तरुणि न मालूम इस शुकशावक ने किस पर्वत पर कितने दिनों किस नाम की तपस्या की जो इसे तुम्हारे अधर के समान पाटल बिम्बफल के दशन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।' (जब अधर के समान बिम्बफल को प्राप्त करना इतना कठिन है तब तुम्हारे अधर को प्राप्त कर सकने की तो बात ही क्या ?)

लोचनम्

शिखरिणीति । नहि निर्विघ्नोत्तमसिद्धयोऽपि श्रीपर्वतादय इमां सिद्धिं विदध्युः । दिव्यकल्पसहस्रादिश्चात्र परिमितः कालः । न चैवंविधोत्तमफलजनकत्वेन पञ्चाग्निप्रभृत्यपि तपः श्रुतम् । तवेति भिन्नं पदम् । समासेन विगलिततया प्रतीयेत, तव दशतीत्यभिप्रायेण । तेन यदाहुः 'वृत्तानुरोधात्त्वदधरपाटलं न कृत' मिति, तदसदेव ।

'शिखरिणि' इत्यादि । निर्विघ्न और उत्तमसिद्धिवाले श्रीपर्वत इत्यादि भी इस सिद्धि को पूरा न कर सकें । दिव्य कल्पसहस्र इत्यादि यहाँ पर परिमितकाल है । इस प्रकार के उत्तम फलजनक के रूप में पञ्चाग्नि प्रभृति तप भी नहीं सुने गये हैं । 'तव' यह भिन्न पद है । समास के द्वारा विगलित रूप में (अप्रधान रूप में) प्रतीत होता है, तुम्हारा दशन करता है इस अभिप्राय से । इससे जो कहते हैं—"छन्द के अनुरोध से 'त्वदधरपाटल' यह नहीं किया" यह ठीक नहीं है ।

तारावती

कगति का आश्रय सदोष नहीं माना जा सकता । कर्मोपपद विग्रह का विकल्प होगा बहुव्रीहि समास—'सुवर्ण हैं पुष्प जिसके' किन्तु इस विग्रह में सुवर्ण को पुष्पमात्र माना जा सकेगा । यह अर्थ नहीं निकल सकेगा कि पृथिवी शूर इत्यादि के लिये नित्य सुवर्ण को उत्पन्न करती है । इस अर्थ में एक नई छाया है । अतः लोचन की व्याख्या ही समीचीन है ।]

अब विवक्षितान्यपरवाच्य का उदाहरण लीजिये—बिम्बफलरूपी शुकशावक ने तरुणी के अधर-दशन का जो सुमधुर फल प्राप्त किया है वह ऐसी-वैसी तपस्या से प्राप्त नहीं हो सकता । लोक में बड़े से बड़े जितने भी तप प्रसिद्ध हैं वे इतना उच्चकोटि का फल नहीं दे सकते । न तो वह स्थान ही दृष्टिगत होता है जहाँ ऐसी तपस्या की जा सके, न इतना समय ही है और न ऐसी तपस्या ही प्रसिद्ध है । तपस्या के उत्तम से उत्तम स्थान श्रीपर्वत इत्यादि हैं जिनको निर्विघ्न उत्तम सिद्धि प्रदान करने की प्रशंसा सुनी गई है । किन्तु वे भी इतनी बड़ी सिद्धि प्रदान नहीं कर सकते । संसार में समय की गणना सीमित है जो स्वर्गीय सहस्र कल्प से

लोचनम्

दशतीत्यास्वादयति अविच्छिन्नप्रबन्धतया, न त्वौदरिकवत्परं भुङ्क्ते, अपि तु रसज्ञोऽत्रेति तत्प्राप्तिवदेव रसज्ञताप्यस्य तपःप्रभावादेवेति। शुकशावक इति। तारुण्यादुचितफललाभोऽपि तपस एवेति। अनुरागिणश्च प्रच्छन्नस्वाभिप्रायख्यापन-वैदग्ध्यचाटुविरचनात्मकविभावोद्दीपनं व्यङ्ग्यम्।

अत्र च त्रय एव व्यापाराः—अभिधा, तात्पर्यं, ध्वननं चेति। मुख्यार्थ-बाधाद्यभावे मध्यमकक्ष्यायां लक्षणायास्तृतीयस्या अभावात्। यदि वाकस्मिक-विशिष्टप्रश्नार्थानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधायां सादृश्याल्लक्षणा भवतु मध्ये। तस्यास्तु प्रयोजनं ध्वन्यमानमेव, तत्तुर्यकक्ष्यानिवेशि, केवलं पूर्वत्र लक्षणैव प्रधानं ध्वननव्यापारे सहकारि। इह त्वभिधातात्पर्यशक्ती। वाक्यार्थसौन्दर्यादेव व्यङ्ग्यार्थप्रतिपत्तेः केवलं लेशेन लक्षणाव्यापारोपयोगोऽप्यस्तीत्युक्तम्। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये तु लक्षणा समुन्मेषमात्रमपि नास्ति। असंलक्ष्यत्वादेव क्रमस्येति वक्ष्यामः। तेन द्वितीयेऽपि भेदे चत्वार एव व्यापाराः॥ १३॥

दशति का अर्थ है स्वाद लेता है। अविच्छिन्न प्रबन्ध के रूप में, औदरिक के समान बहुत नहीं खा जाता। अपितु 'रसज्ञ है' यहाँ पर उसकी प्राप्ति के समान ही इसकी रसज्ञता भी तप के प्रभाव से ही है। शुकशावक इति। तारुण्य के कारण उचित फल लाभ भी तपस्याजन्य ही है। अनुरागी का अपने प्रच्छन्न अभिप्रायख्यापन वैदग्ध्य के साथ चाटुविर-चनात्मक विभाव का उद्दीपन व्यङ्ग्य है।

यहाँ पर तीन ही व्यापार हैं—अभिधा, तात्पर्य और ध्वनन। क्योंकि मुख्यार्थबाध इत्यादि के अभाव में तीसरी (वृत्ति) लक्षणा का अभाव है। अथवा आकस्मिक विशिष्ट प्रश्न के अर्थ की अनुपपत्ति से मुख्यार्थबाध में सादृश्य से बीच में लक्षणा हो जावे। उसका तो प्रयोजन ध्वन्यमान (प्रधानीभूत व्यङ्ग्यार्थ) ही है। वह चौथी कक्ष्या में निविष्ट होनेवाला है। केवल पहले लक्षणा ही प्रधान (तथा) ध्वननव्यापार में सहकारी है। यहाँ तो अभिधा और तात्पर्य-शक्ति प्रधान हैं। वाच्यार्थ सौन्दर्य से व्यङ्ग्यार्थप्रतिपत्ति हो जाने से केवल अंशमात्र लक्षणा-व्यापार का उपयोग भी है यह कहा गया। असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में तो लक्षणा का समुन्मेषमात्र भी नहीं है क्योंकि क्रम का संल्लक्षित न होना ही (उसमें कारण है) यह हम कहेंगे। इसलिए द्वितीय भेद में भी चार ही व्यापार होते हैं॥१३॥

तारावती

आगे नहीं जाती। उतना समय भी इस सिद्धि के लिये पर्याप्त नहीं है। पञ्चाग्नि इत्यादि कुछ तपस्यायें भी सुनी गई हैं किन्तु इस प्रकार के उत्तम फल को देनेवाली कोई तपस्या ज्ञात ही नहीं है। 'तवाधरपाटलम्' में 'तव' शब्द पृथक् है; यदि यहाँ पर समास कर दिया गया होता तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाती। 'तुम्हारा दशन कर रहा है।' यह अभिप्राय व्यक्त नहीं हो पाता। अतएव कुछ लोगों का यह कहना ठीक नहीं है कि यहाँ पर छन्द की पूर्ति के लिये

तारावती

समास नहीं किया गया। आशय यह है कि यहाँ पर वक्ता मुख्यरूप से 'तव' शब्द पर जोर देना चाहता है। यों तो संसार में सैकड़ों रमणियाँ हैं और अधिकतर बिम्बफल को उनके अधर की उपमा का सौभाग्य प्राप्त होता ही रहता है किन्तु 'तुम जैसी सुन्दरी' के अधर की उपमा का सौभाग्य निस्सन्देह एक बड़ी बात है जो साधारण तथा लोकप्रसिद्ध तपस्या का फल नहीं हो सकता। शुकशावक इसीलिये धन्य है कि वह 'तुम्हारा' अधर दशन कर रहा है। यह आशय तभी व्यक्त हो सकता है जबकि 'तव' शब्द को पृथक् रक्खा जावे। यदि समास कर दिया गया होता तो 'त्वत्' शब्द अधर का बिशेषणमात्र बन कर रह जाता और वास्तविक व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति न कर पाता और इस पद्य में विधेयाविमर्श दोष आ जाता। [विशेष्य से विशेषण के किसी विशेष सम्बन्ध को लेकर उसका क्रिया से अन्वय हो जाता है जैसे वैदिक वाक्य 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति' में 'गो' से अन्वित आरुण्य का साध्यता इत्यादि सम्बन्ध से क्रयण में अन्वय हो जाता है और 'धनवान् सुखी' इस लौकिक वाक्य में 'मतुप्' के अर्थ से अन्वित धन का प्रयोज्यत्व सम्बन्ध से सुख में अन्वय हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ पर अधर से अन्वित त्वत्सम्बन्धित्व का बिम्बफलकर्मक दशन में प्रयोज्यत्व सम्बन्ध से अन्वय हो जाता है। आशय यह है कि बिम्बफल तुम्हारे अधर की उपमा प्राप्तकर अपने को सौभाग्यशाली समझता है और शुकशावक प्रधानरूप तुम्हारे अधर को ही दृष्टिगत रख सादृश्य के कारण बिम्बफल का दशन कर रहा है। यही 'तव' के व्यस्तरूप में पढ़ने का विशिष्ट अर्थ हैं।] 'दशति' शब्द का अर्थ है स्वाद लेता है; चखता है। आशय यह है कि स्वाद ले-ले कर धीरे-धीरे चख रहा है। जिससे प्रबन्ध-विच्छेद नहीं होता। एक पेटू के समान सभी कुछ खा नहीं डालता। यदि पेटू के समान सभी कुछ खा जावे तो आस्वाद्य वस्तु शीघ्र ही समाप्त हो जाते और स्वाद लेने के लिये उसे कुछ शेष न रहे। किन्तु यह शुक-शावक तो रसज्ञ है; रस ले-ले कर चख रहा है। जिस प्रकार उसको तुम्हारे अधर-दशन का सौभाग्य किसी अनुपम तपस्या के फल के रूप में मिला है उसी प्रकार रसज्ञता भी तपस्या का ही फल है। 'शुकशावक' शब्द से व्यक्त हो जाता है कि यह भी तपस्या का ही फल है जो कि उसे तारुण्य के कारण उचित समय में ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो गया। इससे व्यक्त होता है कि वक्ता अनुराग से भरा हुआ है; उसके हृदय में नायिका के अधरपान की उत्कट अभि-लाषा छिपी हुई है, वह औचित्य का परित्याग न करते हुये विदग्धता के साथ अपने अभि-प्राय को प्रकट करना चाहता है। इसीलिये चाटुकारिता के इन शब्दों का प्रयोग कर रहा है जिससे रति की आलम्बनभूत नायिका को उद्दीपन हो जावे जो कि उसकी अभिलाषा के अनु-कूल हो। यहाँ पर चाटुकारिता नायिका के लिये उद्दीपन है।

प्रथम भेद (अविवक्षितवाच्य) में चार व्यापार थे—अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा और व्यञ्जना। यहाँ पर केवल तीन ही व्यापार हैं। लक्षणा की तीनों शर्तें मुख्यार्थबाध इत्यादि यहाँ पर नहीं मिलतीं। अतएव तीसरा व्यापार लक्षणा यहाँ पर नहीं होगा अथवा यहाँ पर किसी न किसी प्रकार मुख्यार्थ बाध की कल्पना की जा सकती है—नायक ने अकस्मात् उस

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत्प्रतिसमाधीयते—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः ।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात् । वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः । उपचारमात्रं तु भक्तिः ।

(अनु०) जो यह कहा गया था कि 'भक्ति ध्वनि है' इसका प्रति समाधान किया जा रहा है :—

'दोनों में रूप भेद होने से भक्ति से ध्वनि एकरूपता को धारण नहीं करती ।'

यह ध्वनि जिसके प्रकार ऊपर बतलाये जा चुके हैं भक्ति के साथ एकरूपता को धारण नहीं करती क्योंकि दोनों का रूप भिन्न होता है । जहाँ वाच्य और वाचक के द्वारा वाच्य व्यतिरिक्त अर्थ का तात्पर्य से प्रकाशन हो वहाँ व्यङ्ग्य की प्रधानता में ध्वनि होती है । भक्ति तो केवल उपचार को कहते हैं ।

लोचनम्

अतएवोभयोदाहरणपृष्ठ एव भाक्तमाहुरित्यनुभाष्यं दूषयति । अयं भावः—भक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं पर्यायवत्ताद्रूप्यम् ? अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्या अन्यतो व्यावर्तकधर्मरूपतया लक्षणम् ? उत काक इव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रादुपलक्षणम् ?

अतएव दोनों उदाहरणों की पीठ पर ही 'लाक्षणिक कहते हैं' यह अनूदित करके दूषित करते हैं । भाव यह है—भक्ति और ध्वनि क्या पर्याय के समान तद्रूप होती हैं ? अथवा पृथिवीत्व के समान पृथिवी से अन्यत्र व्यावर्तक धर्मरूप होने के कारण लक्षण है ? अथवा देवदत्त के घर के कौवे के समान सम्भवमात्र होने से उपलक्षण है ?

तारावती

तरुणी से ऐसा विशिष्ट प्रश्न क्यों कर दिया ? शुकशावक तो बिम्बफल का स्वाद लिया ही करते हैं, क्या उसके लिये इतनी बड़ी तपस्या की आवश्यकता है ? इत्यादि प्रश्नों के उत्पन्न होने से मुख्यार्थबाध हो जाता है । उससे नायिका का सौन्दर्यातिरेक लक्ष्यार्थ के रूप में गृहीत होता है, जिसका प्रयोजन है चाटुकारिता के समक्ष अपनी अधरपान की इच्छा को व्यक्त करते हुये नायिका को उद्दीप्त कर तैय्यार करना । यह प्रयोजन चौथी कक्ष्या में सन्निविष्ट हो जाता है जो व्यञ्जनाव्यापारगम्य है । इस प्रकार मध्य में लक्षणा मानी जा सकती है । अविवक्षितवाच्य से इसमें भेद यह है कि अविवक्षितवाच्य के उदाहरण में लक्षणा ही प्रधानतया व्यञ्जनाव्यापार में सहकारिणी थी किन्तु यहाँ पर अभिधा और तात्पर्य ये दो वृत्तियाँ प्रधान रूप में सहकारिणी होती हैं, क्योंकि वाक्यार्थसौन्दर्य से ही व्यङ्ग्य की प्रतिपत्ति हो जाती है, लक्षणा व्यापार का उपयोग तो लेशमात्र होता है । अब प्रश्न उपस्थित होता है

लोचनम्

तत्र प्रथमं पक्षं निराकरोति—भक्त्या बिभर्तीति । उक्तप्रकार इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्—शब्देऽर्थे व्यापारे व्यङ्ग्ये समुदाये च । रूपभेदं दर्शयितु ध्वनेस्तावद्रूपमाह—वाच्येति । तात्पर्येण विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेनेति यावत् । प्रकाशनं द्योतनमित्यर्थः । उपचारमात्रमिति । उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा । उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः । मात्रशब्देनेदमाह—यत्र लक्षणाव्यापारात्तृतीयादन्यश्चतुर्थः प्रयोजनद्योतनात्मा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवन्नप्यनुपयुज्यमानत्वेनानाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः । 'यमर्थमधिकृत्य' इति हि प्रयोजनलक्षणम् । तत्रापि लक्षणास्तीति कथं ध्वननं लक्षणा चेत्येकं तत्त्वं स्यात् ।

उनमें प्रथम पक्ष का निराकरण कर रहे हैं—भक्त्या बिभर्ति इत्यादि । 'उक्त प्रकार' इस शब्द को पाँचों अर्थों में लगाना चाहिये—शब्द अर्थ व्यापार व्यङ्ग्य और समुदाय में। रूपभेद को दिखलाने के लिये ध्वनि के रूप को कहते हैं—वाच्य इत्यादि । 'तात्पर्येण' का अर्थ है विश्रान्तिधाम होने के कारण प्रयोजन के रूप में । 'प्रकाशन' का अर्थ है द्योतन । 'उपचारमात्र' इति । उपचार गुणवृत्ति को कहते हैं अर्थात् लक्षणा । उपचरण अर्थात् अतिशयित व्यवहार मात्र शब्द से यह कहते हैं—जहाँ तृतीय लक्षणाव्यापार वस्तुस्थिति से सम्भव होते हुये भी अनुपयुक्त होने के कारण आदरणीय न होने के समान होता है । 'जिस अर्थ को लेकर' यह प्रयोजन का लक्षण है । वहाँ पर भी लक्षणा है अतः किस प्रकार ध्वनन और लक्षणा एक तत्त्व हो सकते हैं ?

तारावती

कि क्या सर्वत्र विवक्षितान्यपरवाच्य में लक्षणा दिखलाई जा सकती है ? उत्तर है नहीं। असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में तो लक्षणा का उन्मेषमात्र भी नहीं होता । क्योंकि उसमें कोई क्रम लक्षित किया ही नहीं जा सकता । इस प्रकार इस दूसरे भेद में भी चार ही व्यापार होते हैं ।

ऊपर दोनों उदाहरणों में लक्षणा का समावेश दिखलाया गया । अतएव 'उस ध्वनि को लोग भाक्त (लक्षणागम्य) बतलाते हैं' इस पक्ष का उल्लेख कर उसमें दोष दिखलाये जा रहे हैं । जिस लक्षणापक्ष का अग्रिम प्रकरण में खण्डन किया गया है उसकी विवेचना से यह सारांश निकलता है कि लक्षणा के अन्दर ध्वनि का अन्तर्भाव करने से तीन विकल्प हो सकते हैं—(१) ध्वनि और लक्षणा दोनों एक ही वस्तु हैं, एक वस्तु के दो नाम रख दिये लक्षणा और ध्वनि, दोनों एक दूसरे के पर्यायवाचक शब्द हैं । (२) भक्ति या लक्षणा ध्वनि का लक्षण है । लक्षण का उपयोग यह होता है कि वह किसी एक वस्तु को अन्य समस्त वस्तुओं से पृथक् करता है । जैसे पृथिवीत्व या गन्धवत्त्व, यह लक्षण पृथ्वी को जल इत्यादि शेष समस्त वस्तुओं से पृथक् करता है । प्रश्न यह हैकि क्या इसी प्रकार भक्ति या लक्षणा भी ध्वनि का लक्षण अथवा व्यावर्तक धर्म है । (३) क्या भक्ति सत्तामात्र से ही ध्वनि का उपलक्षण होती है । जैसे कौआ अपनी सत्तामात्र से ही देवदत्त के घर का परिचायक होता है ।

तारावती

(किसी ने पूछा कि देवदत्त का घर कहाँ है ?' दूसरे ने उत्तर दिया कि 'वह जहाँ कौआ बैठा है। यहाँ कौआ देवदत्त के घर का परिचायक है।) क्या इसी प्रकार लक्षणा भी ध्वनि की परिचायिका है ? लक्षणापक्ष में यही तीन विकल्प हैं। इनमें प्रथम पक्ष का निराकरण किया जा रहा है।

ध्वनि भक्ति के साथ एकरूपता को धारण नहीं करती। ध्वनि का प्रकार बतलाया जा चुका है। यह बतलाया जा चुका है कि ध्वनि शब्द का व्यवहार ५ अर्थों में होता है—शब्द, वाच्यार्थ, व्यञ्जनाव्यापार, व्यङ्ग्यार्थ और सबका समुदाय। इन सभी अर्थों में उक्त प्रकार की योजना करनी चाहिये। अर्थात् पाँचों अर्थों में ध्वनि और लक्षणा में रूपभेद होता है यह समझना चाहिये। रूपभेद को समझाने के लिये आलोककार ने यहाँ पर ध्वनि का स्वरूप बतलाया है—जहाँ शब्द और अर्थ किसी दूसरे वाच्यव्यतिरिक्त अर्थ को तात्पर्य के द्वारा प्रकाशित किया करते हैं और उसी व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता भी होती है उसे ध्वनि कहते हैं। तात्पर्य के द्वारा कहने का आशय यह है कि वक्ता के अभिप्राय की विश्रान्ति व्यङ्ग्यार्थ में ही होती है। अतः विश्रान्ति का स्थान होने के कारण प्रयोजन के रूप में व्यङ्ग्यार्थ ही अभिव्यक्त होता है। प्रकाशन का अर्थ है द्योतन। यह हुई ध्वनि की बात। अब भक्ति को लीजिये। भक्ति केवल उपचार को कहते हैं। उपचरण का अर्थ है व्यवहार का अतिशायन। अर्थात् गुणों के आधार पर अथवा परम्परागत अत्यन्त व्यवहार के कारण जहाँ एक शब्द का ऐसे अर्थ में प्रयोग किया जावे जो उस शब्द के वास्तविक अर्थ से सम्बन्ध रखता हो। 'केवल उपचार को लक्षणा कहते हैं' इस वाक्य में केवल शब्द का आशय यह है कि लक्षणा में ही यह बात देखी जाती है कि जिस अर्थ में शब्द प्रचलित न हो उस अर्थ में उसका प्रयोग करना अर्थात् लक्षणा में जिस प्रयोजन से एक शब्द का दूसरे में प्रयोग किया जावे और प्रयोजन की प्रतिपत्ति व्यञ्जनागम्य हो वहाँ तो लक्षणा होती है। किन्तु लक्षणा ऐसे स्थान पर भी हो जाती है जहाँ लक्षणा के अतिरिक्त प्रयोजन की प्रतिपत्ति के लिये चतुर्थ व्यापार व्यञ्जना वस्तुस्थिति के कारण उपस्थित तो हो किन्तु उसका उपयोग कुछ न हो रहा हो, अतः उसका आदर न किया जा सके तथा उसका होना न होना एक जैसा हो। न्यायसूत्रकार ने प्रयोजन का यह लक्षण दिया है—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' अर्थात् जिस तत्त्व को लेकर कोई शब्द प्रवृत्त हो उसे प्रयोजन कहते हैं। इस प्रकार लक्षणा ऐसे स्थान पर भी हो जाती है जहाँ प्रयोजनाभिव्यक्ति के लिये व्यञ्जना का आश्रय लिया जाता है और ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ उसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। (इसीप्रकार ध्वनि ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ तात्पर्यानुपपत्ति के कारण लक्षणा का विषय हो और प्रयोजनज्ञान के लिये व्यञ्जना नामक चतुर्थ वृत्ति का आश्रय लिया जावे तथा ऐसे स्थान पर भी हो जाती है जहाँ वाच्यार्थ बाध इत्यादि हेतुओं के न होने के कारण लक्षणा का बीज न हो।) इस प्रकार जब लक्षणा के अभाव में व्यञ्जना और व्यञ्जना के अभाव में लक्षणा सम्भव हैं तब दोनों एक हो ही कैसे सकती हैं ?

ध्वन्यालोकः

माचैतत्स्याद्भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥ १४ ॥

नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। कथम्? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। तत्राति-व्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात्।

यत्र हि व्यङ्ग्यकृतं महत्सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्य-नुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते। यथा—

(अनु०) यह न सही किन्तु भक्ति ध्वनि का लक्षण तो होता ही है। इस पर कहते हैं 'लक्षणा ध्वनि का लक्षण (व्यावर्तक धर्म) नहीं हो सकती, क्योंकि इससे अतिव्याप्ति और अव्याप्ति ये दो दोष आवेंगे' ॥ १४ ॥

यह नहीं कहा जा सकता कि ध्वनि का व्यावर्तक धर्म लक्षणा है। यह कैसे? (उत्तर) अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण। उनमें अतिव्याप्ति इसलिये होगी कि ध्वनि से भिन्न विषय में भी लक्षणा सम्भव है।

जहाँ व्यङ्ग्य के कारण बहुत बड़ी सुन्दरता नहीं आती वहाँ भी कवि लोग प्रसिद्धि के अनुरोध से आरोपित शब्दवृत्ति (लक्षणा) के द्वारा व्यवहार करते देखे जाते हैं। जैसे—

लोचनम्

द्वितीयं पक्षं दूषयति—अतिव्याप्तेरिति। असाविति ध्वनिः। तयेति भक्त्या। ननु ध्वननमवश्यम्भावीति कथं तद्व्यतिरिक्तोऽस्ति विषय इत्याह—महत्सौष्ठवमिति। अतएव प्रयोजनस्यानादरणीयत्वाद्व्यञ्जकत्वेन न कृत्यं किञ्चिदिति भावः। महद्ग्रहणेन गुणमात्रं तद्भवति। यथोक्तम्—'समाधिरन्य-धर्मस्य क्वाप्यारोपो विवक्षितः' इति दर्शयति। ननु प्रयोजनाभावे कथं तथा व्यवहार इत्याह—प्रसिद्ध्यनुरोधेति। परम्परया तथैव प्रयोगात्।

द्वितीय पक्ष को दूषित करते हैं—अतिव्याप्तेः इत्यादि। वह अर्थात् ध्वनि। 'उससे' का अर्थ है भक्ति से। (प्रश्न) ध्वनन अवश्यंभावी है फिर तद्व्यतिरिक्त विषय कैसे हो सकता है? यह कहते हैं—'महत् सौष्ठवम्' इति। आशय यह है कि प्रजोजन के आदरणीय न होने के कारण व्यञ्जकत्व से कोई कार्य नहीं। 'महत' शब्द के ग्रहण से वह गौण ही होता है। जैसा कहा गया है—'अन्य धर्म के कहीं आरोप को समाधि कहा जाना अभीष्ट है।' यह दिखलाते हैं। प्रयोजन के अभाव में वैसा व्यवहार कैसे होता है? यह कहते हैं—'प्रसिद्ध्य-नुरोध' इति। परम्परा से वैसे प्रयोग होने के कारण।

तारावती

अब द्वितीय पक्ष का खण्डन किया जा रहा है—'अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण यह उससे लक्षित नहीं होती।' 'यह' का अर्थ है ध्वनि और 'उससे' का अर्थ है लक्षणा के द्वारा।

ध्वन्यालोकः

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-

स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।

इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः

कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ।

(अनु०) 'यह कमलिनीपत्रास्तरण स्तनों और जंघाओं के स्थूल होने के कारण उनका संसर्ग-प्राप्तकर दोनों ओर अत्यन्त मलिन हो गया है किन्तु मध्य भाग के कृश होने के कारण उसका मिलन प्राप्त न कर हरा बना हुआ है । ढीली भुजलताओं के इधर-उधर फेंकने के कारण इसकी रचना अस्त-व्यस्त हो गई है । इस प्रकार यह आस्तरण उस कृशाङ्गी के सन्ताप को कह रहा है ।

लोचनम्

वयं तु ब्रूमः—प्रसिद्धिर्या प्रयोजनस्यानिगूढतेत्यर्थः । उत्तानेनापि रूपेण तत्प्रयोजनं चकासन्निगूढतां निधानवदपेक्षत इति भावः । वदतीत्युपचारे हि स्फुटीकरणप्रतिपत्तिः प्रयोजनम् । यद्यगूढं स्वशब्देनोच्येत, किमचारुत्व स्यात् । गूढतया वर्णने वा किं चारुत्वमधिकं जातम् । अनेनैवाशयेन वक्ष्यति—यत उक्त्यन्तरेणाशक्यं यदिति ।

हम तो कहते हैं—अर्थ यह है कि प्रसिद्धि अर्थात् प्रयोजन की जो अनिगूढ़ता । भाव यह है कि उत्तान अर्थात् स्फुट अवभासमान रूप में वह प्रयोजन प्रकाशित होते हुये कोष के समान निगूढ़ता की अपेक्षा करता है । 'वदति' इसमें उपचार (लक्षणा) होनेपर निस्सन्देह स्फुटीकरण की प्रतिपत्ति प्रयोजन है । यदि अगूढ़ को स्वशब्द से कहा जाता तो क्या अचारुता हो जाती ? अथवा गूढ़रूप में वर्णन करने पर क्या अधिक चारुता उत्पन्न हो गई ? इसी आशय से कहेंगे—'क्योंकि जो दूसरी उक्ति से अशक्य होता है' इत्यादि ।

तारावती

(प्रश्न) जब कि लक्षणा में ध्वनि का होना अनिवार्य है तब लक्षणा का विषय ध्वनि के अतिरिक्त कैसे हो सकता है ?

(उत्तर) प्रायः देखा जाता है कि कवि लोग ऐसे शब्दों का भी प्रयोग करते हैं जिनमें व्यञ्जना होती तो है किन्तु उसके कारण कोई विशेष सुन्दरता नहीं आती । कहने का आशय यह है कि लक्षणा में प्रयोजन की प्रतिपत्ति सर्वत्र होती है तथापि ध्वनिरूपता को प्राप्त करने के लिये इस बात की आवश्यकता होती है कि उसमें कुछ न कुछ निगूढता अवश्य रहे । किन्तु ऐसे भी स्थान होते हैं जहाँ प्रयोजन बिलकुल गूढ़ नहीं होता । उन शब्दों के उपचरित अर्थ में प्रयोग करने की परम्परा चल पड़ती है और कवि लोग स्वाभाविक रूप में उन शब्दों का प्रयोग करते चले जाते हैं तथा सुननेवालों को उसमें चमत्कार बोध नहीं होता । अतः वहाँ

ध्वन्यालोकः

तथा-चुम्बिज्जइ असहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुत्तम्मि ।
विरमिअ पुणरमिज्जइ पियोजणो णत्थि पुनरुत्तम् ॥
[शतकृत्वोऽवरुद्ध्यते सहस्रकृत्वः चुम्ब्यते ।
विरम्य पुनारम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम् ॥] इतिछाया ।

(अनु०) उसी प्रकार :—

'अपने प्रियतम का सौ बार आलिङ्गन किया जाता है; हजार बार चुम्बन किया जाता है। रुक-रुककर रमण किया जाता है किन्तु वह पुनरुक्त नहीं होता ।'

लोचनम्

अवरुन्धिज्जइ आलिङ्ग्यते । पुनरुक्तमित्यनुपादेयता लक्ष्यते उक्तार्थस्यासम्भवात् ।

'अवरुन्धजइ' इसका अर्थ है आलिङ्गन किया जाता है । 'पुनरुक्तम्' इससे अनुपादेयता लक्षित होती है, क्योंकि उक्त अर्थ असम्भव है ।

तारावती

पर ध्वनि नहीं हो सकती । यदि हम यह लक्षण बनावें कि 'जहाँ लक्षणा हो वहीं ध्वनि हो सकती है ।' तो लक्षणा होने से उन प्रसिद्ध स्थानों पर भी ध्वनि का लक्षण चला जावेगा जहाँ वस्तुतः नहीं जाना चाहिये । यही अलक्ष्य में लक्षण का घटित हो जाना रूप अतिव्याप्ति दोष कहा जाता है । वस्तुतः इसीलिये प्रयोजन के अनादरणीय होने के कारण व्यञ्जकता से वहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं पूरी होती । 'व्यञ्जना में अधिक सुन्दरता नहीं होती' इस वाक्य में अधिक शब्द का आशय यह है कि ऐसे स्थान पर व्यञ्जना गुणीभूत होकर अलङ्कार का रूप धारण कर लेती है । समाधि अलङ्कार का लक्षण करते हुए जैसा कि कहा गया है—जहाँ अन्य धर्म का कहीं अन्यत्र आरोप विवक्षित हो उसे समाधि कहते हैं ।

(प्रश्न) जब दूसरे अर्थ में दूसरे शब्द के प्रयोग में कोई प्रयोजन नहीं होता तब वैसा प्रयोग किया ही क्यों जाता है ?

(उत्तर) किसी अन्य अर्थ में अन्य शब्द के प्रयोग की परम्परा चल पड़ती है जिससे अभिधा के समान वैसा ही प्रयोग होने लगता है ।

हम तो यह कहते हैं कि प्रसिद्ध का अर्थ ही है प्रयोजन का छिपा न होना, यद्यपि ध्वनि-स्थल में भी प्रयोजन सर्वथा अस्फुट नहीं होता । वह इस रूप में व्यक्त किया जाता है कि स्फुटरूप में अवभास के समान हो जाता है । तथापि उसमें कुछ न कुछ निगूढ़ता उसी प्रकार अपेक्षित होती ही है जिस प्रकार कोष को निगूढ़ रखने की आवश्यकता होती है ।

अब प्रथम उदाहरण को लीजिये—'कमलिनी-पत्र की शय्या कह रही है' इस वाक्य में 'वदति' 'कहना' चेतन का काम है । शय्या कहने का काम नहीं कर सकती । अतः तात्पर्यानुपपत्ति से उसका अर्थ हो जाता है 'प्रकट कर रही है ।' लक्षणा का प्रयोजन है—'स्फुट-

ध्वन्यालोकः

तथा—कुविआओ पसन्नाओ ओरण्णमुहीओ विहसमाणाओ ।
जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छित्त महिलाओ ॥

उसी प्रकार :—

'स्वैरिणी महिलाएँ चाहे कुपित हों चाहे प्रसन्न हों चाहे रो रही हों चाहे हँस रही हों, जिस रूप में उन्हें ग्रहण करो उसी रूप में हृदय को हर लेती हैं।'

तथा—

अज्जाएँ पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्ठे ।
मिउओ वि दूसहो व्विअ जाओ हिअए सवत्तणिम् ॥
[भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे ।
मृदुकोऽपि दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम् ॥ इतिच्छाया]

तथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रप ततो
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः ॥

इत्यत्रेक्षुपक्षेऽनुभवति शब्दः न चैवंविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः ।

'प्रियतम ने अपनी नवोढा पत्नी के स्तनों पर उसकी नवलता के कारण एक हलका सा प्रहार प्रदान किया। वह प्रहार कोमल होते हुए भी सपत्नियों के हृदय में असहनीय सा प्रतीत होने लगा।'

पाँचवाँ उदाहरण—

'जो इक्षु दूसरे के लिये पीडा का अनुभव करता है, जो तोड़े जाने पर भी मधुर ही रहता है, जिसका विकार भी सभी को अभीष्ट होता है, यदि इस प्रकार का इक्षु नितान्त दूषित क्षेत्र में पड़कर बढ़ न सका तो क्या यह इक्षु का दोष है ? क्या यह गुणहीन मरुभूमि का दोष नहीं है ?

यहाँ पर इक्षु पक्ष में 'अनुभवति' शब्द (में लक्षणा होती है किन्तु ध्वनि नहीं।) इस प्रकार का प्रयोग ध्वनि का विषय कभी हो ही नहीं सकता।

लोचनम्

कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितवदना विहसन्त्यः ।
यथागृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ॥

'कुपित, प्रसन्न, रोते हुये मुखवाली, विहँसती हुई जैसे भी ग्रहण की जावें वैसे स्वैरिणी महिलायें हृदय को हर लेती हैं।'

लोचनम्

अत्र ग्रहणेनोपादेयता लक्ष्यते । हरणेन तत्परतन्त्रतापत्तिः ।

तथा अज्जेति । कनिष्ठभार्यायाः स्तनपृष्ठे नवलतया कान्तेनोचितक्रीड-योगेन मृदुकोऽपि प्रहारो दत्तः सपत्नीनां सौभाग्यसूचकं तत्क्रीडासौभाग्यम-प्राप्तानां हृदये दुस्सहो जातः मृदुलत्वादेव । अन्यस्य दत्तो मृदुः प्रहारोऽन्यस्य च सम्पद्यते । दुस्सहश्च मृदुरपीति चित्रम् । दानेनात्र फलवत्त्वं लक्ष्यते ।

तथा परार्थेति । यद्यपि प्रस्तुतमहापुरुषापेक्षयाऽनुभवतिशब्दो मुख्य एव, तथाप्यप्रस्तुते इक्षौ प्रशस्यमाने पीडाया अनुभवनेनासम्भवता पीडावत्त्वं लक्ष्यते, तच्च पीड्यमानत्वे पर्यवस्यति । नन्वस्त्यत्र प्रयोजनं तत्किमिति न ध्वन्यत इत्याशङ्क्याह—न चैवं विध इति ।

यहाँ पर ग्रहण के द्वारा अनुपादेयता लक्षित होती है; हरण से उसको परतन्त्रता की प्राप्ति लक्षित होती है।

तथा अज्ज यह । कनिष्ठभार्या के स्तन पृष्ठ में नवलता के कारण कान्त के द्वारा उचित क्रीडा के योग से कोमल भी दिया हुआ प्रहार उस सौभाग्यसूचक क्रीडा के संविभाग को न प्राप्त करनेवाली सौतों के हृदय में दुस्सह हो गया, कोमल होने के कारण ही । अन्य का दिया हुआ मृदु प्रहार अन्य के लिये हो जाता है । और मृदु होते हुये भी दुस्सह, यह विचित्र है । दान से यहाँ फलवत्ता लक्षित होती है ।

तारावती

रूप में प्रकट कर रही है ।' यदि 'स्फुट प्रकट कर रही है' यही कह दिया जाता तो क्या असुन्दरता आ जाती ? यदि 'कहती है' इस शब्द के द्वारा छिपा कर कहा गया तो क्या अधिक सुन्दरता हो गई ? इस प्रकार अधिक सुन्दरता न होने से ध्वनि नहीं हो सकती, किन्तु लक्षणा है। इसीलिये अगली कारिका में कहेंगे कि ध्वनि का विषय वही होता है जो ऐसी चारुता को प्रकट करे जिसका प्रकट करना दूसरी उक्ति से असम्भव हो ।'

अब दूसरा उदाहरण लीजिये । 'प्रिय कभी पुनरुक्त नहीं होता' इसमें अवरुन्धिज्जइ का अर्थ है 'आलिङ्गन किया जाता है ।' पुनरुक्त कोई शब्द या वाक्य हो सकता है, मनुष्य कभी पुनरुक्त नहीं हो सकता । अतः इसका बाध होकर लक्ष्यार्थ होता है—'प्रिय व्यक्ति कभी अनुपादेय नहीं होता ।' यहाँ पर पुनरुक्त कहने में ऐसी कौन सी सुन्दरता है जो अनुपादेय कहने में नहीं आती ?

अब तीसरा उदाहरण लीजिये—ग्रहण कोई वस्तु की जाती है, महिलायें ग्रहण नहीं की जा सकतीं । इसी प्रकार हरण किसी मूर्त द्रव्य का होता है, हृदय का हरण नहीं किया जा सकता । अतः बाध होकर ग्रहण और हरण का लक्ष्यार्थ क्रमशः 'उपादान' और 'अधीन कर लेना' होता है । ग्रहण और हरण इन दोनों शब्दों के प्रयोग में ऐसी कोई सुन्दरता नहीं जो उपादान और अधीन करना इन दोनों शब्दों में विद्यमान नहीं है ।

चौथा उदाहरण लीजिये—प्रियतम ने अपनी छोटी स्त्री के स्तनपृष्ट पर उचित क्रीडा-

ध्वन्यालोकः

यतः—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
शब्दव्यञ्जकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥ १५ ॥

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः ।

(अनु०) इसमें कारण यह है:—

'ध्वनि की उक्ति का विषय वही शब्द हो सकता है जो व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लेकर ऐसी चारुता प्रकाशित करे जो कि व्यञ्जनावृत्ति से भिन्न किसी अन्य उपाय से प्रकाशित ही न की जा सके ॥१५॥'

यहाँ पर उदाहरण दिये हुये विषय में जिस शब्द में लक्षणा है वह किसी ऐसी रमणीयता की अभिव्यक्ति में हेतु नहीं होता जो अन्य शब्द से व्यक्त न की जा सके ।

तारावती

प्रसङ्ग में उसकी नवलता तथा कोमलता का विचार करते हुए बहुत ही कोमल प्रहार किया था, किन्तु फिर भी जिन सौतों ने इस सौभाग्य सूचक क्रीडा-संविधान को प्राप्त नहीं कर पाया उनके लिये वह कोमल भी प्रहार असह्य हो गया । क्योंकि कोमल प्रहार था । (कोमल प्रहार प्रेम का सूचक था । यदि प्रियतम ने जोर से मारा होता तो शायद सौतें प्रसन्न ही होतीं ।) यहाँ पर अन्य के कोमल प्रहार किया गया था और अन्य पर उसका प्रभाव पड़ा, यह असङ्गति अलङ्कार है । यह आश्चर्य की बात है कि प्रहार कोमल किया गया था और हो असह्य गया, यह विरोधाभास है । दान किसी वस्तु का किया जाता है, प्रहार का दान करना असम्भव है । अतः प्रहार प्रदान किया का लक्ष्यार्थ है 'प्रहार किया' । लक्षणा का प्रयोजन है—'सफल प्रहार किया ।' 'प्रहार प्रदान किया' इन शब्दों में ऐसी कोई सुन्दरता नहीं जो 'सफल प्रहार किया' इन शब्दों में नहीं आ जाती ।

पाँचवाँ उदाहरण अप्रस्तुतप्रशंसा या अन्योक्ति का है । 'इक्षु इतना गुणवान् होते हुये भी मरुभूमि में वृद्धि को प्राप्त नहीं हो सका' यह अप्रस्तुत है, इससे प्रस्तुत अर्थ निकलता है—'यदि महापुरुष किसी बुरे स्थान पर पहुँच कर उन्नति न कर सके तो इसमें महापुरुष का क्या दोष ? इसमें तो उस स्थान का ही दोष है । यहाँ पर 'अनुभवति' शब्द लक्षक है । अनुभव करना चेतन धर्म है । गन्ना कभी अनुभव नहीं कर सकता । अतः उसका लक्ष्यार्थ होता है—'गन्ना पीसा जाता है ।' यहाँपर 'पीड़ा का अनुभव करता है' इस कथन में ऐसी कोई चारुता नहीं जो 'पीसा जाता है' कहने में न हो । यद्यपि प्रस्तुत महापुरुष के दृष्टिकोण से 'अनुभवति' शब्द मुख्य ही है तथापि जब कि अप्रस्तुत इक्षु की प्रशंसा की जाती है तब पीड़ा के अनुभव के साथ इक्षु के अन्वय की असम्भवता स्पष्ट ही है । उससे पीड़ावान् में लक्षणा होती है और उसका पर्यवसान पीसे जाने में होता है ।

(प्रश्न) जब कि यहाँपर प्रयोजन विद्यमान है । तब ध्वनि क्यों नहीं मानी जाती ।

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ १६ ॥

(अनु०) और भी—

जहाँ पर शब्द अपने विषय से भी भिन्न किसी दूसरे विषय में रूढ़ हो जाते हैं वे लावण्य इत्यादि शब्द प्रयुक्त होकर ध्वनि का स्थान कभी नहीं बनते ॥१६॥

लोचनम्

यत उक्त्यन्तरेणेति । उक्त्यन्तरेण ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थव्यापार-विशेषेणेत्यर्थः । शब्द इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम् । ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेदिति—ध्वनिशब्देनोच्यत इत्यर्थः । उदाहृत इति । वदतीत्यादौ ।

एवं यत्र प्रयोजनं सदपि नादरास्पदं तत्र को ध्वननव्यापार इत्युक्त्वा यत्र मूलत एव प्रयोजनं नास्ति, भवति चोपचारस्तत्रापि को ध्वननव्यापार इत्याह—किञ्चेति । लावण्याद्या ये शब्दाः स्वविषयाल्लवणरसयुक्तत्वादेः स्वार्थादन्यत्र हृद्यत्वादौ रूढाः रूढत्वादेव त्रितयसन्निध्यपेक्षणव्यवधानशून्याः । यदाह—

'यत उक्त्यन्तरेण' इत्यादि । उक्त्यन्तरेण का अर्थ है ध्वनि के अतिरिक्त स्फुट शब्दार्थ व्यापार विशेष के द्वारा । 'शब्द' यह पाँचों अर्थों में जोड़ा जाना चाहिये । 'ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्' इति । अर्थात् ध्वनि शब्द के द्वारा कहा जाता है । उदाहृत इति । वदति इत्यादि में ।

इस प्रकार जहाँ प्रयोजन होते हुये भी आदरास्पद नहीं होता उसमें कौन ध्वननव्यापार होता है ? यह कहकर वहाँ मूलतः प्रयोजन होता ही नहीं और उपचार होता है वहाँ भी कौन ध्वननव्यापार है ? यह कहते हैं—किञ्च इत्यादि । लावण्य इत्यादि जो शब्द अपने विषय लावण्यरसयुक्तत्व इत्यादि स्वार्थ से भिन्न हृद्यत्व इत्यादि में रूढ़ हैं और रूढ़ होने से ही तीनों (लक्षणा-प्रयोजनों) की सन्निधि के अपेक्षणरूप व्यवधान से शून्य हैं । जैसा कि कहा है:—

तारावती

(उत्तर) इस प्रकार के विषय में व्यङ्ग्यार्थ महत्त्वपूर्ण नहीं है इसलिये इसे हम ध्वनि नहीं कह सकते ॥ १४ ॥

प्रस्तुत कारिका में इस बात का हेतु देते हुये कि व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता में भी ध्वनि क्यों नहीं होती ? यह बतलाया गया है कि ध्वनि का विषय कौन सा शब्द होता है ? 'दूसरी उक्ति के द्वारा' कहने का आशय यह है कि जिस चारुता को कोई शब्द केवल ध्वनि के आधार पर ही व्यक्त कर सके, विशेष प्रकार के वाच्य और वाचक के द्वारा वह चारुता व्यक्त न की जा सकती हो, वही शब्द ध्वनि का विषय होता है । यहाँपर शब्द के पाँचों अर्थ लेने चाहिये (१) 'शब्द्यते' अर्थात् जो प्रकथित किया जावे अर्थात् अर्थ । (२)

तारावती

'शब्द्यतेऽनेन' जिसके द्वारा प्रकथन किया जावे अर्थात् शब्द (३) 'शब्दनं शब्दः' अर्थात् व्यापार (४) 'शब्द्यते' जो व्यक्त किया जावे अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ (५) इन सबका समुदाय। ये सब तभी ध्वनि का स्वरूप धारण करते हैं जब कि अन्य प्रकार से उसकी रमणीयता का अभिधान सम्भव न हो। 'ध्वनि उक्ति का विषय होता है' अर्थात् ध्वनि शब्द के द्वारा पुकारा जाता है। 'उदाहरण दिये हुये विषय में' अर्थात् 'वदति' इत्यादि स्थानों पर ॥१५॥

यहाँ तक यह बात बतलाई गई कि जहाँ लक्षणा में प्रयोजन की अभिव्यक्ति होती तो है किन्तु सौन्दर्य के लिये उसका उपयोग न होने के कारण वह अभिव्यक्ति व्यर्थ हो जाती है। अब यह बात बतलाई जा रही है कि कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जहाँ लक्षणा होती है किन्तु प्रयोजन होता ही नहीं। (सारांश यह है कि लक्षणा दो प्रकार की होती है—निरूढा तथा प्रयोजनवती। निरूढा लक्षणा उसे कहते हैं जो कि प्रयोग परम्परा के कारण अपने मूल अर्थ को सर्वथा छोड़कर रूढ शब्द बन जाती है। पहले-पहल किसी व्यक्ति ने किसी विशेष प्रयोजन से एक शब्द का दूसरे अर्थ में प्रयोग किया। बाद में उसी के अनुकरण पर दूसरे लोगों ने बिना उस प्रयोजन पर ध्यान दिये उस शब्द का उसी रूप में प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार परम्परा चल पड़ी। धीरे-धीरे उस शब्द का मूल अर्थ तिरोहित हो गया और वह शब्द दूसरे अर्थ में रूढ जैसा बन गया। उदाहरण के लिये कुशल शब्द को लीजिये। कुशल शब्द का मूल अर्थ है कुशों को बीननेवाला। वस्तुतः कुशों को बीनने में एक प्रकार की निपुणता अपेक्षित होती है। कुशों के आस पास और बहुत से तृण उग आते हैं। अतः कुशों के उपादान में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि कुशों के साथ और घास सम्मिलित न हो जावे। इसी आधार पर किसी ने कुशल शब्द का प्रयोग निपुण के अर्थ में कर दिया। बाद में लोग उसी अनुकरण पर सामान्यतया निपुण के अर्थ में कुशल शब्द का प्रयोग करने लगे। यह प्रयोग इतना बढ़ा कि मूल अर्थ छूट गया और कुशल शब्द निपुण के अर्थ में सामान्यतया रूढ हो गया। इस प्रकार प्रयोग-परम्परा के कारण जो शब्द अर्थान्तर में रूढ हो गये हैं और जिनको सुनकर मूल अर्थ की प्रतीति नहीं होती उन्हें निरूढा लक्षणा कहते हैं। इनसे भिन्न जो लक्षणायें होती हैं उनमें अर्थान्तर में शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन को लेकर होता है। उस प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। यह व्यङ्ग्यार्थ दो प्रकार का होता है—एक तो ऐसा होता है कि यदि उसका अभिधान दूसरे शब्द के द्वारा किया जावे तो वह सुन्दरता नहीं आती जो लक्षणामूलक विशेष शब्द के प्रयोग से आती है। दूसरा ऐसा होता है कि उसका अभिधान दूसरे शब्द से करने पर भी रमणीयता में कोई अन्तर नहीं आता। ध्वनि का क्षेत्र प्रथम प्रकार की ही प्रयोजनवती लक्षणा है द्वितीय प्रकार की नहीं। क्योंकि ध्वनि के लिये यह अनिवार्य है कि रमणीयता का पर्यवसान व्यङ्ग्यार्थ में ही हो। पिछले पृष्ठों में कई उदाहरणों के द्वारा ऐसे स्थल दिखलाये जा चुके हैं जहाँ लक्षणा तो होती है किन्तु दूसरे शब्दों से भी कहे जाने की योग्यता रखने के कारण ध्वनि नहीं होती। अब निरूढा लक्षणा पर विचार किया जा रहा है जिसमें प्रयोजन

लोचनम्

निरूढाः लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्। इति। ते तस्मिन् स्वविषयादन्यत्र प्रयुक्ता अपि न ध्वनेः पदं भवन्ति, न तत्र ध्वनिव्यवहारः। उपचरिता शब्दस्य वृत्तिः गौणी लाक्षणिकी चेत्यर्थः। आदिग्रहणेनानुलोम्यं, प्रातिकूल्यं, सब्रह्मचारीत्येवमादयः शब्दाः लाक्षणिकाः गृह्यन्ते। लोम्नामनुगतमनुलोमं मर्दनम्। कूलस्य प्रतिपक्षतया स्थितं स्रोतः प्रतिकूलम्। तुल्यगुरुः सब्रह्मचारी इति मुख्यो विषयः। अन्यः पुनरुपचरित एव। न चात्र प्रयोजनं किञ्चिदुद्दिश्य लक्षणा प्रवृत्तेति न तद्विषयो ध्वननव्यवहारः।

'कुछ निरूढा लक्षणायें सामर्थ्य से अभिधानवत् होती हैं।' वे अपने विषय से अन्यत्र उस विषय में प्रयुक्त होकर भी ध्वनि का स्थान नहीं होतीं। वहाँ पर ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। अर्थ यह है कि शब्द की उपचरित वृत्ति गौणी और लाक्षणिकी होती है। आदि ग्रहण से आनुलोम्य, प्रातिकूल्य, सब्रह्मचारी इत्यादि लाक्षणिक शब्द ग्रहण किये जाते हैं। लोमों के अनुगत अनुलोम मर्दन। कूल (तट) के प्रतिपक्षरूप में स्थित धारा प्रतिकूल। तुल्य गुरुवाला सब्रह्मचारी यह मुख्य विषय है। यहाँ पर किसी प्रयोजन के उद्देश्य से लक्षणा प्रवृत्त नहीं हुई है अतः तद्विषयक ध्वननव्यवहार नहीं होता।

तारावती

बिल्कुल होता ही नहीं।) ऐसे स्थानों पर ध्वनन व्यापार का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि ध्वनि का मूल प्रवृत्तिनिमित्त व्यञ्जना वहाँ पर होती ही नहीं।

(लावण्य शब्द का मूल अर्थ है लवणरसयुक्त। लावण्यरसयुक्त वस्तु प्रिय होती है। इसी साम्य के आधार पर इस शब्द का प्रयोग सौन्दर्य के अर्थ में होने लगा है।) लावण्य इत्यादि शब्द अपने विषय लवणरसयुक्त इत्यादि को छोड़ कर अपने अर्थ से भिन्न रमणीयता इत्यादि दूसरे अर्थों में रूढ हो जाते हैं। क्योंकि वे रूढ होते हैं इसी लिये उनमें लक्षणा की तीनों शर्तें (स्वार्थबाध, स्वार्थसम्बन्ध और रूढिप्रयोजनान्यतर) लागू नहीं होतीं। जैसे कि कहा भी गया है—'कुछ निरूढा लक्षणायें प्रयोग सामर्थ्य से अभिधा के समान हो गई हैं।' ये लक्षणायें जब अपने विषय से भिन्न उस (लक्ष्यार्थ) में प्रयुक्त होती भी हैं तथापि ध्वनि का स्थान नहीं बनतीं। उनमें ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। शब्द की उपचरित वृत्ति का अर्थ है गौणीवृत्ति और लक्षणावृत्ति। 'लावण्य इत्यादि' में इत्यादि शब्द का अर्थ है लावण्य शब्द ही नहीं अपितु इस के जैसे और बहुत से शब्द। जैसे अनुलोम, प्रतिकूल, सब्रह्मचारी। अनुलोम शब्द का मूल अर्थ है—'लोमों का अनुगमन करनेवाला।' सम्भवतः इस शब्द का पहला प्रयोग मालिश के लिये हुआ होगा। यदि रोमों की दिशा में मालिश की जावे तो अच्छा रहता है, यदि उससे विपरीत दिशा में मालिश की जावे तो ठीक नहीं रहता। इसीलिये सम्भवतः अनुलोम मालिश का प्रयोग होता रहा होगा। बाद में अनुलोम शब्द का प्रयोग

ध्वन्यालोकः

तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति । तथाविधे च विषये ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते । न तथाविधशब्दमुखेन ।

इन शब्दों में शब्द की उपचरितवृत्ति (लक्षणावृत्ति) होती ही है। इस प्रकार के विषय में कहीं-कहीं मूल अर्थ सम्भव होते हुये भी उनमें ध्वनि व्यवहार दूसरे रूप में प्रवृत्त होता है । उस प्रकार के शब्द के द्वारा नहीं ।

लोचनम्

ननु 'देवडिति लुणाहि पलुत्रम्मिगमिज्वालवणुज्ज्वलं गुमरिफोल्ल परण्य (?) इत्यादौ लावण्यादिशब्दसन्निधानेऽस्ति प्रतीयमानाभिव्यक्तिः, सत्यम्, सा तु न लावण्यशब्दात् । अपितु समग्रवाक्यार्थप्रतीत्यनन्तरं ध्वननव्यापारादेव । अत्र हि प्रियतमामुखस्यैव समस्ताशाप्रकाशकत्वं ध्वन्यत इत्यलं बहुना । तदाह—प्रकारान्तरेणेति । व्यञ्जकत्वेनैव । न तूपचरितलावण्यादिशब्दप्रयोगादित्यर्थः॥१६॥

(प्रश्न) 'देवडिति लुणाहि पलुनम्मि गमिज्वालवणुज्वलं गुमरिफोल्लपराण्ण' इत्यादि में लावण्य इत्यादि के सन्निधि में प्रतीयमान की अभिव्यक्ति है। (उत्तर) सच है किन्तु वह लावण्य शब्द से नहीं होती अपितु समग्र वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद ध्वननव्यापार से ही होती है। यहाँपर निस्सन्देह प्रियतमामुख का ही समस्त दिशाओं का प्रकाशकत्व ध्वनित होता है। बस, बहुत की क्या आवश्यकता ? वह कहते हैं—प्रकारान्तरेण इत्यादि । अर्थात् व्यञ्जकत्व के द्वारा ही । उपचरित लावण्य इत्यादि शब्द के प्रयोग के द्वारा नहीं ।

तारावती

ही 'अनुकूल दिशा में' इस अर्थ में होने लगा। इसी प्रकार प्रतिकूल शब्द का मुख्य थे है कूल अर्थात् तट की दूसरी ओर। पहले यह शब्द नदी को धारा के लिये प्रयुक्त हुआ होगा कि नदी की धारा 'प्रतिकूल' अर्थात् तट की दूसरी ओर है। किन्तु बाद में सभी विपरीत दिशा की वस्तुओं के लिये इस शब्द का प्रयोग होने लगा। इसी प्रकार साथी अर्थात् एक गुरु के पास पढ़नेवाले दो ब्रह्मचारियों को सब्रह्मचारी कहते होंगे बाद में इस शब्द का प्रयोग किसी भी समान गुण रखनेवाले व्यक्ति के लिये होने लगा। (इसी प्रकार कुण्डल, मण्डप इत्यादि शब्दों के विषय में समझना चाहिये।)

लोचनकार ने लिखा था कि निरूढा लक्षणा में लक्षणा की तीनों शर्तें लागू नहीं होतीं। इस पर श्रीमहादेव शास्त्री ने लिखा है—'वस्तुतः निरूढा लक्षणा स्थल पर भी मुख्यार्थबाध और मुख्यार्थ योग की अपेक्षा होती हो है, केवल प्रयोजन अपेक्षित नहीं होता। नहीं तो लक्षणा का उत्थान ही नहीं हो सकता और अभिधा से भेद क्या रह जावेगा ? इसीलिये निरूढा लक्षणा के उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' इत्यादि में काव्यप्रकाशकार ने लिखा है कि 'कुशग्रहण इत्यादि के अर्थ का प्रयोग न होने के कारण।' यह उक्ति तभी सङ्गत होती है जब कि निरूढा लक्षणा में मुख्यार्थबाध और मुख्यार्थयोग अपेक्षित हो।' मेरा निवेदन है कि जब

तारावती

किसी शब्द का अपने बाधित अर्थ में प्रयोग प्रारम्भ होता है तब उसमें दो नहीं तीनों शर्तें विद्यमान होती हैं। किन्तु परम्पराप्रवाह में जब लोग उसका शक्तिभ्रम से प्रयोग करने लगते हैं तब उसमें किसी भी शर्त की प्रतीति नहीं होती। जब कोई व्यक्ति व्याख्यान में 'कुशल' इस शब्द का प्रयोग करता है तथा साधारण श्रोता को न तो इस बात का ही आभास होता है कि 'व्याख्या में कुश के उपादान का क्या अर्थ ?' अतः बाधित होकर यह शब्द निपुण अर्थ का प्रत्यायन करता है; विवेचकत्व रूप साधर्म्य ही लक्षणा का बीज है और 'असत्य के लेश से रहित सत्य के ग्रहण का प्रत्यायन कराना' प्रयोजन है। इन बातों पर बिना ही ध्यान दिये श्रोता 'कुशल' का निपुण अर्थ एकदम समझ जाता है। अभिधा से इसमें भेद यह है कि अभिधा में संकेत के माध्यम से किसी अर्थ में शब्द की प्रवृत्ति होती है और निरूढा लक्षणा में सर्वप्रथम बाधित होकर उपचरित वृत्ति से ही प्रवृत्ति होती है, बाद में वह शब्द अभिधायक जैसा बन जाता है। काव्यप्रकाशकार ने 'कुशग्रहणाद्ययोगात्' मूल प्रवृत्ति को लेकर कहा है और अभिनव गुप्त ने बोधकाल में बाध इत्यादि के प्रतिसन्धान न होने की बात लेकर 'तीनों शर्तें लागू नहीं होती' यह कहा है। अतः दोनों में कोई विरोध नहीं।

(प्रश्न) कभी-कभी कवि लोग चमत्कार का आधान करने के मन्तव्य से रूपकश्लेष इत्यादि की योजना के लिये निरूढा लक्षणा के मूल अर्थ की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं। (इस विषय में लोचन में जिस प्राकृत गाथा का उदाहरण दिया गया है वह बिलकुल स्पष्ट नहीं है और न उसकी संस्कृतच्छाया का ही पता चलता है। अतः बिहारी का यह दोहा इसका अच्छा उदाहरण है—'सगुण सलोने रूप की जुन चख तृषा बुझाइ।' नमकीन पानी को कितना ही पीते चले जाओ उससे प्यास शान्त होती ही नहीं। रूप भी नमकीन है, अतः उसको पीने में नेत्रों की प्यास बुझती ही नहीं। स्पष्ट है कि यहाँ पर नमकीन (लावण्ययुक्त) अपने निरूढा लक्षणा के रूप में ही नहीं लिया गया है अपितु चमत्कार उत्पादन के लिये कवि ने उसके मूल अर्थ की ओर संकेत किया है।) ऐसे स्थान पर निरूढा लक्षणा में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होती ही है फिर यह कैसे कह सकते हैं कि निरूढा लक्षणा में व्यंग्यार्थ होता ही नहीं। (उत्तर) यह सच है कि यहाँ पर निरूढा लक्षणा में भी व्यंग्यार्थ उपस्थित है, किन्तु वह केवल लावण्य (नमकीन) शब्द से ही अवगत नहीं होता अपितु सम्पूर्ण वाक्यार्थ प्रतीति के बाद व्यञ्जनाव्यापार से वह अर्थ आता है। यहाँ पर नेत्रों की प्यास न बुझने से ही नमकीन शब्द के मूल अर्थ की ओर संकेत होता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि निरूढा लक्षणा में व्यंग्यार्थ नहीं होता। अब इस विषय को अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं। इसीलिये मूल में कहा है कि 'कहीं-कहीं सम्भव होते हुए भी ध्वनिव्यवहार प्रकारान्तर से प्रवृत्त होता है।' आशय यह है कि लक्षणावृत्ति के आधार पर लावण्य इत्यादि शब्दों के प्रयोग से ही उस प्रकार की व्यञ्जना नहीं निकल सकती ॥ १६ ॥

ध्वन्यालोकः

अपि च—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ १७ ॥

(अनु०) और भी—

'मुख्य (अभिधा) वृत्ति को छोड़कर गौणी (लक्षणा) वृत्ति से जिस फल की अभिव्यक्ति के लिये अर्थ का प्रत्यायन किया जाता है उस फल को द्योतित करने में शब्द की गति प्रस्खलित नहीं होती ।'

लोचनम्

एवं यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरिति तावन्नास्ति । तेन यदि ध्वनेर्भक्तिर्लक्षणं तदा भक्तिसन्निधौ सर्वत्र ध्वनिव्यवहारः स्यादित्यतिव्याप्तिः । अभ्युपगम्यापि ब्रूमः—भवतु यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः । तथापि यद्विषयो लक्षणाव्यापारो न तद्विषयो ध्वननव्यापारः । न च भिन्नविषययोर्धर्मधर्मिभावः । धर्म एव च लक्षणमित्युच्यते । तत्र लक्षणा तावदमुख्यार्थविषयो व्यापारः । ध्वननं च प्रयोजनविषयम् । न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाव्यापारो युक्तः लक्षणसामग्र्यभावादित्यभिप्रायेणाह—अपि चेत्यादि ।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ भक्ति होती है वहाँ-वहाँ ध्वनि होती है यह तो नहीं है । उससे यदि भक्ति ध्वनि का लक्षण है तो भक्ति के निकट सर्वत्र ध्वनि का व्यवहार हो जावेगा । इससे अतिव्याप्ति होगी । स्वीकार करके भी हम कहते हैं—'हो, जहाँ-जहाँ भक्ति वहाँ वहाँ ध्वनि । तथापि यद्विषयक लक्षणाव्यापार होता है तद्विषयक ध्वनि-व्यापार नहीं होता । विभिन्न विषयवाले दो पदार्थों का धर्मधर्मी भाव नहीं होता । और धर्म ही लक्षण (होता है) यह कहा जाता है । उसमें लक्षणा तो अमुख्यार्थविषयक व्यापार होता है और ध्वनन प्रयोजन-विषयक होता है । उसके विषय में भी दूसरा लक्षणाव्यापार तो उचित नहीं है क्योंकि लक्षणा की सामग्री का अभाव है । इस अभिप्राय से कहते हैं—अपि च इत्यादि ।

तारावती

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि जहाँ-जहाँ लक्षणा हो वहाँ-वहाँ सर्वत्र ध्वनि अवश्य हो, ऐसा नियम नहीं है । अतएव यदि लक्षणा के द्वारा ध्वनि पहिचानी जाती है तो जहाँ-कहीं लक्षणा होगी वहाँ ध्वनि का व्यवहार होने लगेगा, यह अतिव्याप्ति दोष होगा । अथवा हम थोड़ी देर के लिए यह स्वीकार किये लेते हैं कि जहाँ-कहीं लक्षणा होती है वहाँ ध्वनि अवश्य होती है । तथापि हमें यह कहना है कि लक्षणाव्यापार का जो विषय होता है ध्वनिव्यापार का वही विषय नहीं होता । लक्षण उसे ही कहते हैं जो जिसमें नियमित रूप से रहता है । (जैसे गन्धवत्त्व नियमित रूप से पृथिवी के अन्दर रहता है अतः गन्धवत्त्व पृथिवी का लक्षण है ।) दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि असाधारण धर्म को ही लक्षण कहते

लोचनम्

मुख्यां वृत्तिमभिधाव्यापारं परित्यज्य परिसमाप्य गुणवृत्त्या लक्षणारूपयाऽर्थस्यामुख्यस्य दर्शनं प्रत्यायना, सा यत्फलं कर्मभूतं प्रयोजनमुद्दिश्य क्रियते, तत्र प्रयोजने तावद् द्वितीयो व्यापारः। न चासौ लक्षणैव; यतः स्खलन्ती बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवबोधनशक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो व्यापारो लक्षणा। न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः। तथाभावे तत्रापि निमित्तान्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य चान्वेषणेनावस्थानात्। तेनायं लक्षणाया

मुख्यवृत्ति अर्थात् अभिधाव्यापार को छोड़कर अर्थात् समाप्त करके लक्षणा रूप में स्थित गौणीवृत्ति से अमुख्य अर्थ का दर्शन अर्थात् प्रत्यायन, वह जिस फल अर्थात् कामरूप में स्थित प्रयोजन के उद्देश्य से किया जाता है उस प्रयोजन में तो (कोई) अन्य व्यापार होता है। यह लक्षणा तो नहीं ही होती क्योंकि जिस शब्द की गति अर्थात् अवबोधन शक्ति स्खलित होनेवाली अर्थात् बाधक व्यापार से विधुर की जानेवाली हो उसके व्यापार को लक्षणा कहते हैं ? प्रयोजन का अवगमन करानेवाले शब्द का बाधक योग नहीं होता। क्योंकि ऐसा होनेपर वहाँ पर भी दूसरे निमित्त तथा दूसरे प्रयोजन के अन्वेषण से अनवस्था हो जावेगी। भाव यह है कि इससे यह लक्षणा का विषय नहीं होता।

तारावती

हैं। लक्षण धर्म होता है और लक्ष्य धर्मी होता है। लक्षण-लक्ष्यभाव तभी बन सकता है जब कि दोनों का एक विषय हो। जिनका विषय भिन्न होता है उनका धर्म-धर्मी भाव बन ही नहीं सकता। अब लक्षणा और ध्वनि को ले लीजिए! लक्षणा का विषय होता है अमुख्य अर्थ, (जैसे 'गङ्गायां घोषः' में लक्षणा का विषय है अमुख्य अर्थ गङ्गातट) इसके प्रतिकूल ध्वनि (व्यञ्जना) का विषय है लक्षणा का प्रयोजन (जैसें 'गङ्गायां घोषः' में शैत्य पावनत्व इत्यादि) इस प्रकार विषयभेद होने के कारण न इनका लक्ष्यलक्षणभाव बन सकता है न धर्मधर्मीभाव। (प्रश्न) यहाँ पर दो लक्षणाव्यापार मानकर काम चल सकता है। प्रथम व्यापार के द्वारा तट में लक्षणा हो और द्वितीय व्यापार के द्वारा प्रयोजन में लक्षणा हो जावे। इस प्रकार दो लक्षणाव्यापारों को मानकर काम चल जावेगा, पृथक् व्यञ्जना तथा ध्वननव्यापार को मानने की क्या आवश्यकता रह जावेगी ? (उत्तर) दो लक्षणाव्यापार नहीं माने जा सकते क्योंकि लक्षणा की सामग्री द्वितीय बार उपस्थित नहीं है। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत कारिका (१७ वीं कारिका) लिखी गई है। इसका आशय यह है—शब्द की मुख्यवृत्ति अथवा प्रधान व्यापार अभिधाव्यापार ही है। लक्षणा करने में उस मुख्यवृत्ति का परित्याग कर दिया जाता है और गौणीवृत्ति से जिसका कि दूसरा नाम लक्षणा है, अर्थ का प्रत्यायन कराया जाता है। इस लक्षणा के द्वारा जिस अर्थ का प्रत्यायन कराया जाता है वह अर्थ भी मुख्य नहीं किन्तु अमुख्य (गौण) ही होता है। वह लक्षणा जिस फल अथवा प्रयोजन को लेकर की जाती है

तारावती

उस प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये किसी अन्य वृत्ति को न मानना अनिवार्य है। (कारिका में फल शब्द में कर्म का प्रयोग किया गया है। वैय्याकरणों के मत के अनुसार धातु के दो अर्थ होते हैं—फल तथा व्यापार। जैसे लकड़ी काटना एक क्रिया है, इसमें हाथ से कुल्हाड़ी उठाकर लकड़ी पर मारना व्यापार है, और लकड़ी के दो टुकड़े हो जाना फल है। जिसके अन्दर व्यापार रहता है उसे कर्ता कहते हैं और जिसके अन्दर फल रहता है उसे कर्म कहते हैं। प्रत्येक व्यापार का कोई न कोई फल अवश्य होता है। लक्षणा भी एक व्यापार है इसका भी फल होना चाहिये। अब प्रश्न यह है कि उस फल अथवा प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये कौन सा व्यापार माना जाना चाहिये? क्या यह भी लक्षणा ही है?) यह लक्षणा नहीं हो सकती; क्योंकि लक्षणा वहीं पर होती है जहाँ शब्द की गति स्खलित हो जावे अर्थात् जहाँ शब्द की अवबोधनशक्ति किसी बाधक व्यापार के द्वारा कुण्ठित कर दी जावे। (जैसे प्रवाह में घर बन सकने की असम्भवनीयता के कारण जब शब्द की गति कुण्ठित हो जाती है तब उससे दूसरा अर्थ लिया जाता है।) किन्तु जब शब्द प्रयोजन का अवगमन कराने लगता है, तब उसमें शब्द की अवबोधनशक्ति कुण्ठित नहीं होती। (जैसे 'गङ्गा तट पर घर' यह कहने में शब्द की शक्ति बाधित नहीं होती। यदि प्रयोजन के प्रत्यायन में भी बाधक योग तथा लक्षणाव्यापार माना जावेगा तो लक्षणाव्यापार की सारी सामग्री जुटानी पड़ेगी। जैसे प्रथम बार लक्षणा के लिए कोई सम्बन्धरूप निमित्त तथा एक प्रयोजन माना जाता है। उसी प्रकार प्रयोजन की अवगति के लिये भी कोई नया सम्बन्धरूप निमित्त तथा एक दूसरा प्रयोजन मानना पड़ेगा। इससे अनवस्था दोष होगा। (आशय यह है कि लक्षणा की तीन शर्तें होती हैं—(१) मुख्यार्थबाध, (२) मुख्यार्थ सम्बन्ध और (३) रूढि अथवा कोई प्रयोजन। यदि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये हम लक्षणा का सहारा लेंगे तो लक्षणा की सारी सामग्री जुटानी पड़ेगी। जैसे 'गङ्गा में घर' इस वाक्य में लक्षणा की तीनों शर्तें विद्यमान हैं—(१) प्रवाह में घर नहीं बन सकता इससे गङ्गा के मुख्य अर्थ प्रवाह का बाध हो जाता है। (२) तट का गङ्गा से सम्बन्ध है इससे गङ्गा शब्द से तट अर्थ ले लिया जाता है (३) गङ्गा तट के स्थान पर 'गङ्गा' शब्द का प्रयोग गङ्गागत शैत्य पावनत्व की प्रतीति के लिये किया गया है। यही बाधित प्रयोग का प्रयोजन है। अब इस प्रयोजन की प्रतीति के लिये हमें दूसरी बार लक्षणा करनी है। इसमें लक्षणा की कोई भी शर्त नहीं मिलती (१) एक तो गङ्गा का 'गङ्गातट' अर्थ मुख्य नहीं है, दूसरे 'गङ्गा तट पर घर' यह वाक्य असम्भव नहीं है, जिससे उसका बाध हो जावे। अतः पहली शर्त समाप्त हो गई। (२) जिस प्रकार प्रवाह और तट का सम्बन्ध है तट तथा शैत्य-पावनत्व का नहीं है। तट की अपेक्षा तो प्रवाह में ही अधिक शीतलता और पवित्रता होती है। अतः कोई ऐसा निमित्त दिखलाई नहीं पड़ता जिससे दूसरी बार लक्षणा हो सके। (३) शीतत्व और पावनत्व से भिन्न और प्रयोजन क्या होगा जिसके लिये यह लक्षणा की जानी चाहिये? स्पष्ट ही है कि ऐसा कोई प्रयोजन विद्यमान नहीं है।

ध्वन्यालोकः

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात्। न चैवम्।

(अनु०) प्रयोजन का लक्षण है ऐसे अर्थ को प्रकाशित करना जिसमें सौन्दर्य की विशेष-रूप से अधिकता हो। यदि उसके प्रकट करने में शब्द की मुख्यवृत्ति का आश्रय लिया जावे तो उसका प्रयोग ही दूषित हो जावे। किन्तु ऐसा होता नहीं।

लोचनम्

न विषय इति भावः। दर्शनमिति ण्यन्तो निर्देशः। कर्तव्य इति। अवगमयितव्य इत्यर्थः। अमुख्यतेति। बाधकेन विधुरीकृतेत्यर्थः। तस्येति शब्दस्य। दुष्टतैवेति। प्रयोजनावगमस्य सुखसम्पत्तये हि स शब्दः प्रयुज्यते तस्मिन्नमुख्यार्थे। यदि च 'सिंहो वटुः' इति शौर्यातिशयेऽप्यवगमयितव्ये स्खलद्गतित्वं शब्दस्य तर्हि तत्प्रतीतिं नैव कुर्यादिति किमर्थं तस्य प्रयोगः? उपचारेण करिष्यतीति चेत्तत्रापि प्रयोजनान्तरमन्वेष्यं तत्राप्युपचार इत्यनवस्था। अथ न तत्र स्खलद्गतित्वं तर्हि प्रयोजनेऽवगमयितव्ये न लक्षणाख्यो व्यापारः तत्सामग्र्यभावात्। न च नास्ति व्यापारः। न चासावभिधा समयस्य तत्राभावात्। यद्व्यापारान्तरमभिधालक्षणातिरिक्तं स ध्वननव्यापारः। न चैवमिति। न च

'दर्शनम्' में णिजन्त निर्देश है। कर्तव्य इति। अर्थात् अवगत कराया जाना चाहिये। अमुख्यता इति। अर्थात् बाधक के द्वारा विधुर किया जाना। 'तस्य' का अर्थ है शब्द का। दुष्टतैव इति। प्रयोजन के अवगमन की सुविधापूर्वक निष्पत्ति के लिये उस अमुख्य अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है। यदि 'सिंहो बटुः' में शौर्य के अवगमन कराये जाने का लक्ष्य होनेपर शब्द की गति का स्खलन हो जावे तो उस प्रतीति को उत्पन्न नहीं करेगा फिर उसका प्रयोग ही किसलिये (किया गया)? उपचार (अमुख्य वृत्ति लक्षणा) के द्वारा कर देगा तो वहाँपर भी दूसरे प्रयोजन का अन्वेषण करना पड़ेगा; वहाँपर भी उपचार (मानना होगा) यह अनवस्था आ जावेगी। यदि वहाँपर गति का स्खलन न माना जावे तो प्रयोजन का अवगमन कराने में लक्षणा नामक व्यापार नहीं होगा क्योंकि उसकी सामग्री नहीं है। यह बात नहीं है कि वहाँ (कोई) व्यापार न हो। वह अभिधा है नहीं क्योंकि वहाँ संकेत नहीं है। लक्षणा और अभिधा के अतिरिक्त जो व्यापार है वही ध्वननव्यापार है। न चैव-

तारावती

अतः तीसरी शर्त भी जाती रही। एक बात और है—यदि कोई प्रयोजन ढूँढ़ भी निकाला जावे तो उसके प्रत्यायन के लिये भी वही सब सामग्री जुटानी पड़ेगी। फिर उसमें भी तीसरी शर्त प्रयोजन की होगी जिसके लिये पुनः सामग्री जुटानी पड़ेगी। यही अनवस्था दोष है जिसके कारण मूल रूप में ही प्रयोजन में लक्षणा का निराकरण हो जाता है।) इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रयोजनप्रतिपत्ति लक्षण-लक्षणा का विषय नहीं है। (लक्षणा दो प्रकार की

ध्वन्यालोकः

तस्मात्--

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥ १८ ॥

(अनु०) अतएव—गुणवृत्ति (गौणीवृत्ति तथा लक्षणा) वाचकत्व का आश्रय लेकर ही व्यवस्थित होती है। अतएव वह (उस) ध्वनि का लक्षण कैसे हो सकती है जिसका एक-मात्र मूल व्यञ्जकता ही होती है ॥ १८ ॥

लोचनम्

उपसंहरति—तस्मादिति । अतोऽभिधापुच्छभूतैव लक्षणा ततो हेतोर्वाचकत्वमभिधाव्यापारमाश्रिता तद्बाधनेनोत्थानात्तत्पुच्छभूतत्वाच्च गुणवृत्तिः गौणलाक्षणिकप्रकार इत्यर्थः । सा कथ ध्वनेर्व्यञ्जनात्मनो लक्षणं स्यात् ? भिन्नविषयत्वादिति ।

उपसंहार करते हैं—तस्मादिति । क्योंकि लक्षणा अभिधा-पुच्छभूता ही होती है इस हेतु से उसके बाधन से उठने के कारण और उसकी पुच्छभूता होने के कारण वाचकत्व अर्थात् अभिधाव्यापार का सहारा लेनेवाली गुणवृत्ति अर्थात् गौण लाक्षणिक (नामक) प्रकार । वह किस प्रकार व्यंजनात्मक ध्वनि का लक्षण होगा ? क्योंकि दोनों का विषय भिन्न है ।

तारावती

यदि कहो कि प्रयोजन के प्रत्यायन में शब्द की गति कुण्ठित नहीं होती तो मानना पड़ेगा कि प्रयोजन के अवगम में लक्षणा नामक व्यापार होता ही नहीं क्योंकि उसकी सामग्री तो रही ही नहीं : यह तो आप कह ही नहीं सकते कि वहाँ पर कोई व्यापार होता ही नहीं । वहाँ व्यापार होता है । वह व्यापार 'अभिधा' नहीं हो सकता क्योंकि प्रयोजन में संकेतग्रहण नहीं हुआ है । (कोश ग्रन्थों में गङ्गा का अर्थ शीतल और पावन लिखा नहीं होता । अतएव प्रयोजनप्रत्यय के लिये कोई दूसरा व्यापार ही मानना पड़ेगा ।) अभिधा और लक्षणा से भिन्न जो दूसरा व्यापार है वही ध्वननव्यापार कहा जाता है । वृत्ति में कहा गया है—'यह बात यहाँ नहीं होती' इस वाक्य का आशय है कि लाक्षणिक शब्द के प्रयोग में कोई दोष नहीं आता क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति किसी भी विघ्न से रहित तत्काल हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि जब अभिधा मुख्य अर्थ में प्रविष्ट होने लगती है तब बाधक आकर उसे रोक देता है । अब चूँकि अभिधा चरितार्थ हो नहीं पाती अतएव वही दूसरे अर्थ (अमुख्य अर्थ) में बट जाती है । आशय यह है कि लक्ष्यार्थ भी अभिधा का अमुख्यार्थ ही है, इसीलिये लक्ष्यार्थ के लिये लोग कहा करते हैं कि यह इसका अमुख्यार्थ है । इसी प्रकार अमुख्य रूप में संकेत ग्रहण भी वहाँ पर माना जाता है । इसी कारण कहा जाता है कि लक्षणा अभिधा की पूँछ पकड़कर चला करती है ॥१७॥

ध्वन्यालोकः

तस्मादन्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्तिः। अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य नहि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः अन्ये च बहवः प्रकाराः भक्त्या व्याप्यन्ते। तस्माद्भक्तिरलक्षणम्।

(अनु०) अतएव ध्वनि अन्य होती है तथा गुण वृत्ति और होती है। इस लक्षण में अव्याप्ति दोष भी है। विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनि का भेद तथा और बहुत से प्रकारों में लक्षणा व्याप्त होती ही नहीं। अतः लक्षणा ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।

लोचनम्

एतदुपसंहरति—तस्मादिति। यतोऽतिव्याप्तिरुक्ता तत्प्रसङ्गेन च भिन्नविषयत्वं तस्माद्धेतोरित्यर्थः। एवम् 'अतिव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया' इति कारिकागतातिव्याप्तिं व्याचष्टे अव्याप्तिरप्यस्येति। अस्य गुणवृत्तिरूपस्येत्यर्थः। यत्र यत्र ध्वनिस्तत्र तत्र यदि भक्तिर्भवेन्न स्यादव्याप्तिः। न चैवम्—

इसका उपसंहार करते हैं—तस्मादिति। क्योंकि अतिव्याप्ति बतलाई है उसके प्रसङ्ग से भिन्नविषयता आ जाती है; इसलिये अतिव्याप्ति है। इस प्रकार 'अतिव्याप्ति और अव्याप्ति से वह उसके द्वारा लक्षित नहीं की जाती' इस कारिका में आई हुई अतिव्याप्ति की व्याख्या कर अव्याप्ति की व्याख्या कर रहे हैं—'अव्याप्तिरप्यस्य इति'। अर्थात् इस गुणवृत्तिरूप की। जहाँ-जहाँ ध्वनि होती है वहाँ-वहाँ यदि भक्ति हो तो अव्याप्ति न होवे। ऐसा नहीं है।

तारावती

अट्ठारहवीं कारिका में 'भक्ति ध्वनि का लक्षण होती है, इस मान्यता पर विचार का उपसंहार किया गया है। कारण यह है कि लक्षणा अभिधा की पूँछ पकड़कर ही आगे बढ़ती है इसी कारण वाचकत्व अर्थात् अभिधाव्यापार की आश्रित कही जाती है। इसके दो कारण हैं—एक तो लक्षणा का उत्थान ही अभिधा को बाधकर होता है दूसरे लक्षणा अभिधेयार्थ की अवगति के पीछे आती है। गुणवृत्ति का अर्थ है गौणी लक्षणा का प्रकार। वह व्यञ्जनात्मक ध्वनि का लक्षण हो ही कैसे सकती है? क्योंकि दोनों के विषय भिन्न होते हैं। (आशय यह है कि लक्षणा केवल अभिधा के सम्बन्ध में ही होती है। वह अभिधा से निरपेक्ष होकर रह ही नहीं सकती। 'गङ्गा' इत्यादि पद से 'तीर' इत्यादि लक्ष्यार्थ तभी लिये जाते हैं जब कि यह ज्ञात हो जाता है कि प्रस्तुत वाक्य 'गङ्गा' का मुख्यार्थ 'प्रवाह' सङ्गत नहीं है और प्रवाह का निकटवर्ती सम्बन्धी 'तीर' उस अर्थ का पूरक तथा संगतिकारक होता है। इसके प्रतिकूल ध्वनि में न तो मुख्यार्थबाध की अपेक्षा होती है और न मुख्यार्थ-सम्बन्ध की। व्यंग्यार्थ ऐसा भी हो सकता है जिसका वाच्यार्थ से किसी प्रकार का सम्बन्ध ही न हो। इतना अधिक भेद होने के कारण लक्षणा को हम ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते।) इसीलिये वृत्तिकार ने उपसंहार करते हुये लिखा है कि 'ध्वनि और होती है तथा गुणवृत्ति और होती है।'

तारावती

[यहाँ पर 'लक्षणा को हम ध्वनि का लक्षण मान सकते हैं या नहीं' इस प्रश्न पर विचार किया गया है। लक्षण का अर्थ है लक्षित कराना या पहिचान कराना। उदाहरण के लिये किसी के यह पूछने पर 'गाय कैसी होती है ? हम उसे गाय की एक ऐसी विशेषता बतला दें जिससे वह गाय को तत्काल पहिचान ले। उसी विशेषता को लक्षण कहते हैं। गाय का लक्षण भी अनिवार्यतः ऐसा ही होना चाहिये जो सभी गायों में लागू हो जावे तथा गाय से भिन्न किसी अन्य वस्तु में लागू न हो। तभी लक्षण की पूर्णता कही जावेगी। यदि गाय का लक्षण किया जावे और वह भैंस में भी लागू हो जावे तो यह लक्षण का दोष होगा और वह लक्षण अशुद्ध कहा जावेगा, इस लक्षण-दोष को अतिव्याप्ति कहते हैं। क्योंकि यह लक्षण का लक्ष्य से अधिक में व्याप्त हो जाना है। जैसे—यदि गाय का यह लक्षण किया जावे कि 'जिसके चार टांगें हों उसे गाय कहते हैं।' यह लक्षण अतिव्याप्त है क्योंकि यह गाय से भिन्न घोड़ा गधा भैंस इत्यादि में भी लागू हो जाता है। इसी प्रकार यदि गाय का ऐसा लक्षण बनाया जावे जो आधी गायों में तो लागू हो जावे और आधी गायों में लागू ही न हो तो लक्षण को अव्याप्त लक्षण कहेंगे। जैसे यदि गाय का यह लक्षण किया जावे कि 'जो सास्नादिमान् श्वेत पशु हो उसे गाय कहते हैं' यह लक्षण काली गायों में लगेगा ही नहीं। अतः यह अव्याप्त लक्षण है। अव्याप्त लक्षण भी अशुद्ध माना जाता है। इस प्रकार अतिव्याप्ति और अव्याप्ति ये दो लक्षण-दोष होते हैं। यदि ध्वनि का लक्षण बनाया जावे और वह ऐसे स्थान पर भी लागू हो जावे जिसे ध्वनि न माना जा सके तो उस लक्षण को अतिव्याप्त कहेंगे। 'लक्षणा ही ध्वनि का लक्षण है' इस लक्षण में पिछले प्रकरण में विस्तारपूर्वक अतिव्याप्ति दोष दिखलाया जा चुका है। (इसके विस्तार के लिये देखो १४ वीं तथा १५ वीं कारिकाओं की व्याख्या।) अब अव्याप्ति को लीजिये—यदि ध्वनि का लक्षण बनाया जावे और ध्वनि के ही कुछ भागों में घटित न हो तो यह लक्षण की अव्याप्ति होगी। प्रस्तुत प्रकरण में यही अव्याप्ति दिखलायी जा रही है।]

१४ वीं कारिका के उत्तरार्द्ध में कहा गया था कि 'अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति के कारण गुणवृत्ति या लक्षणा ध्वनि को लक्षित नहीं कराती।' इसकी अतिव्याप्ति की तो पहले व्याख्या की जा चुकी, अब अव्याप्ति की व्याख्या की जा रही है। 'इस लक्षण में अव्याप्ति दोष भी है' वृत्ति के इस वाक्य में 'इस' शब्द का अर्थ है—'गुणवृत्तिरूप लक्षण में' गुणवृत्ति को लक्षण मानने में तभी अव्याप्ति दोष नहीं हो सकता जब कि जहाँ कहीं ध्वनि हो वहाँ सर्वत्र लक्षणा या गुणवृत्ति अवश्य विद्यमान हो। किन्तु ऐसा होता नहीं है। (ध्वनि के कुछ भेदों में तो गुणवृत्ति रहती है और कुछ में नहीं रहती। पहले ध्वनि के भेद किये गये थे अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूलक ध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य या अभिधामूलक ध्वनि) इनमें अविवक्षितवाच्य में तो लक्षणा होती है जिसके उदाहरण 'सुवर्णपुष्पां पृथ्वीम्' इत्यादि हो

लोचनम्

अविवक्षितवाच्येऽस्ति भक्तिः 'सुवर्णपुष्पा'मित्यादौ। 'शिखरिणि' इत्यादौ तु सा कथम्? ननु लक्षणा तावद्गौणमपि व्याप्नोति? केवलं शब्दस्तमर्थं लक्षयित्वा तेनैव सह सामानाधिकरण्यं भजते 'सिंहो वटुः' इति। अर्थो वार्थान्तरं लक्षयित्वा स्ववाचकेन यद्वाचकं समानाधिकरणं करोति। शब्दार्थौ वा युगपत्तं लक्षयित्वा अन्याभ्यामेव शब्दार्थाभ्यां मिश्रीभवत इत्येवं लाक्षणिकाद्गौणस्य भेदः। यदाह—'गौणे शब्दप्रयोगो न लक्षणायाम्' इति, तत्रापि लक्षणास्त्येवेति सर्वत्र सैव व्यापिका। सा च पञ्चविधा। तद्यथा—

'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादि अविवक्षित वाच्य में भक्ति है। 'शिखरिणि' इत्यादि में वह कैसे? (प्रश्न) लक्षणा तो गौण को भी व्याप्त कर लेती है। केवल शब्द उस अर्थ को लक्षित कराकर उसी के साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त हो जाता है 'सिंहो वटुः' इत्यादि में। अथवा अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित कराकर अपने वाचक के साथ उसके वाचक का सामानाधिकरण्य कर देता है। अथवा शब्द और अर्थ एक साथ उसको लक्षित कराकर दूसरे ही शब्द और अर्थ से मिश्रित हो जाते हैं इस प्रकार लाक्षणिक का गौण से भेद है। जैसा कहा है ..'गौण में शब्द प्रयोग होता है लक्षणा में नहीं।' वहाँपर भी लक्षणा है ही इस प्रकार सर्वत्र वही व्यापक होती है। वह ५ प्रकार की होती है। वह इस प्रकार—

तारावती

सकते हैं जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। विवक्षितान्यपरवाच्य के उदाहरण 'शिखरिणि क्व नु नाम...' इत्यादि पद्य में वह लक्षणा हो ही किस प्रकार सकती है? (अतएव ध्वनि के एक भाग में लक्षणा न होने में 'जहाँ ध्वनि होती है वहाँ लक्षणा अवश्य होती है' यह नियम जाता रहता है, यह अव्याप्ति दोष है, अतः लक्षणा ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।) (प्रश्न) लक्षणा तो गौणी के क्षेत्र को भी व्याप्त कर लेती है। (इस विषय में दो मत हैं—एक है मीमांसकों का और दूसरा है आलङ्कारिकों का। मीमांसक मानते हैं कि गौणी और लक्षणा ये पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ हैं। गौणीवृत्ति मे गुणों के साम्य के आधार पर एक शब्द का प्रयोग बाधित होकर भिन्न अर्थ में होता है और लक्षणा में गुणों से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से बाधित अर्थ में शब्द का प्रयोग होता है। इन दोनों वृत्तियों में भेद यह है कि गौणी वृत्ति में जिसके लिये बाधित शब्द का प्रयोग किया जाता है उसका भी साथ में ही प्रयोग किया जाता है किन्तु लक्षणा में उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता जैसे 'सिंहो वटुः' में शौर्य इत्यादि गुणों के कारण 'वटु' के लिये सिंह कहा गया है और वटु के साथ सिंह का प्रयोग भी सम्मिलित है। अतः यह गौणी वृत्ति है। इसके प्रतिकूल 'गङ्गा में घर' इसमें सामीप्य सम्बन्ध से 'तट, के अर्थ में गङ्गा का प्रयोग किया गया है 'तट' का प्रयोग किया

तारावती

नहीं गया है। यह लक्षणा है। किन्तु आलङ्कारिकों को यह विभेद मान्य नहीं। उनका कहना है कि वाधित अर्थ में शब्द का प्रयोग लक्षणा का बीज है और वह गुणवृत्ति में भी विद्यमान है ही, फिर इन दोनों वृत्तियों के भेद मानने की क्या आवश्यकता ? शब्द प्रयोग करना कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं है जो वृत्तिभेद का ही प्रयोजक हो जावे। मीमांसकों के सिद्धान्त को आत्मसात् करने के लिये आलङ्कारिकों ने लक्षणा के दो भेद माने हैं गौणी और शुद्धा। सादृश्य सम्बन्ध में गौणी लक्षणा होती है तथा सादृश्यभिन्न सम्बन्ध में शुद्धा। गौणी लक्षणा में भी सर्वत्र शब्दों का प्रयोग नहीं होता। जहाँ होता है वहाँ वह रूपक का बीज बन जाता है अन्यत्र रूपकातिशयोक्ति का बीज होता है। इसी मन्तव्य से यहाँ पर कहा गया है कि लक्षणा गौणी को भी व्याप्त कर लेती है। अब यह दिखलाया जा रहा है कि गौणी स्थल पर एक दूसरे अर्थ को कहता किस प्रकार है ? तथा जब उस अर्थ का वाचक शब्द भी साथ में रक्खा होता है तब उससे उसकी एकता कैसे बनती है ?) यहाँ पर शब्द की तीन प्रकार की क्रिया हो सकती है—(१) केवल लक्षक शब्द ही वाचक के अर्थ को लक्षित कराकर उसके साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त हो जावे। (एक ही अर्थ को भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रकट करने को शब्दों का समानाधिकरण कहा जाता है।) जैसे 'सिंहो वटुः' इस वाक्य में (सिंह शब्द लक्षक है और वटु शब्द वाचक। सिंह शब्द 'वटु' का अर्थ कहकर वटु के साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त हो जाता है।) (२) अथवा अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित कराकर अपने वाचक शब्द के साथ दूसरे वाचक शब्द को समानाधिकरण बना देता है (३) अथवा शब्द और अर्थ दोनों एक साथ दूसरे शब्द और अर्थ को लक्षित करा कर उनके साथ मिल जाते हैं। यही लाक्षणिक का गौण से भेद है। जैसा कि कहा गया है—'गौणी में शब्द प्रयोग होता है लक्षणा में नहीं।' (किन्तु यह मत समीचीन नहीं है। गौणी में भी शब्द प्रयोग नहीं होता और लक्षणा में होता भी है। लक्षणा के दो भेद हैं सारोपा और साध्यवसाना। सारोपा रूपक अलङ्कार का बीज है इसमें लक्षक शब्द के साथ वाचक का भी प्रयोग होता है जैसे 'सिंहो वटुः।' साध्यवसाना रूपकातिशयोक्ति का बीज है। इसमें शब्द का प्रयोग नहीं होता। जैसे बालक के लिये केवल सिंह शब्द का प्रयोग। यह तो गौणी की बात हुई। सादृश्येतरसम्बन्ध अर्थात् लक्षणा के दूसरे भेदों में भी दोनों दशायें होती हैं। जैसे कार्यकारणभाव सम्बन्ध के उदाहरण 'आयुर्घृतम्' में दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। यदि घी खानेवाले व्यक्ति के लिये कोई यह कहे कि यह आयु खा रहा है तो यह साध्यवसाना लक्षणा होगी। इस प्रकार दोनों स्थानों पर दोनों अवस्थायें हो सकती हैं। अतः आलङ्कारिकों का ही मत ठीक है कि गौणी का समावेश लक्षणा में ही होता है।) गौणीवृत्ति में भी लक्षणा होती ही है। अतएव (बाधित शब्द के प्रयोग में) सर्वत्र लक्षणा व्यापक ही होगी। वह लक्षणा (सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त) ५ प्रकार की होती है। वह इस प्रकार—(१)

लोचनम्

अभिधेयेन संयोगात्, द्विरेफः शब्दस्य हि योऽभिधेयो भ्रमरशब्दः द्वौ रेफौ यस्येति कृत्वा तेन भ्रमरशब्देन यस्य संयोगः सम्बन्धः षट्पदलक्षणस्यार्थस्य सोऽर्थो द्विरेफशब्देन लक्ष्यते। अभिधेयसम्बन्धं व्याख्यातरूप निमित्तीकृत्य। 'गङ्गायां घोषः।' समवायादिति सम्बन्धादित्यर्थः, 'यष्टीः प्रवेशय' इति यथा। वैपरीत्यात् यथा शत्रुमुद्दिश्य कश्चित् ब्रवीति—'किमिवोपकृत न तेन मम' इति। क्रियायोगादिति कार्यकारणभावादित्यर्थः। यथा—अन्नापहारिणि व्यवहारः प्राणानयं हरति इति। एवमनया लक्षणया पञ्चविधया विश्वमेव व्याप्तम्।

अभिधेय के साथ संयोग से। द्विरेफ शब्द का जो अभिधेय 'दो रेफ हैं जिसमें यह (अर्थ) होने से भ्रमरशब्द, उस भ्रमर शब्द से जिस षट्पद लक्षण अर्थ का संयोग सम्बन्ध है वह अर्थ द्विरेफ शब्द से लक्षित किया जाता है (यह) उस अभिधेय सम्बन्ध को निमित्त के रूप में मानकर होता है। जिसके स्वरूप की व्याख्या की जा चुकी। सामीप्य से (जैसे) 'गङ्गा में घर'। समवाय से अर्थात् (नित्य) सम्बन्ध से जैसे 'छड़ियों को प्रवेश कराओ।' वैपरीत्य से जैसे शत्रु को उद्दिष्ट कर कोई कहे—'उसने मेरा क्या उपकार किया?' क्रियायोगात् का अर्थ है कार्यकारणभाव सम्बन्ध से जैसे अन्न का अपहरण करनेवाले में 'यह व्यवहार हो कि यह प्राणों को हर रहा है'। इस प्रकार इस पाँच प्रकार की लक्षणा से सारा विश्व ही व्याप्त है।

तारावती

(१) अभिधेय अर्थात् वाच्यार्थ से संयोगसम्बन्ध होने पर। (यहाँ पर संयोग का अर्थ है वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध) उदाहरण के लिये 'द्विरेफ' शब्द को लीजिये। इसमें बहुव्रीहि समास है, अतः इसकी व्युत्पत्ति होगी—'दो हैं रेफ जिसमें' इससे इसका अभिधेयार्थ सिद्ध हुआ भ्रमर शब्द। (अब जैसे एक वाक्य है—'द्विरेफ उड़ रहा है' इसका वाच्यार्थ हुआ 'भ्रमर शब्द उड़ रहा है।' शब्द का उड़ना असम्भव है अतः तात्पर्यानुपपत्ति के कारण अभिधेयार्थ का बोध हो जाता है।) भ्रमर शब्द का वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है षट्पद अर्थात् छः पैरोंवाले एक विशेष प्राणी से। अतः द्विरेफ शब्द से षट्पदरूप लक्ष्य अर्थ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध से ले लिया जाता है। इस लक्ष्यार्थ ग्रहण में अभिधेय सम्बन्ध ही निमित्त है जिसकी व्याख्या की जा चुकी है। (२) सामीप्य सम्बन्ध से जैसे—'गङ्गा में घर।' (३) समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध से। जैसे 'छड़ियों को आने दो' (छड़ियों का आना असम्भव है। अतः इस अर्थ का बाध होकर 'छड़ीवाले पुरुष' यह अर्थ ले लिया जाता है। छड़ी तथा छड़ीवाले पुरुष दोनों का समवाय सम्बन्ध है। क्योंकि जब तक पुरुषों के पास छड़ी नहीं होगी तब तक वे छड़ीवाले नहीं कहे जावेंगे।) (४) वैपरीत्य सम्बन्ध से जैसे शत्रु के विषय में कोई यह कहे—'इसने हमारा क्या उपकार नहीं किया'? (यहाँ पर वैपरीत्य सम्बन्ध से अपकार में

लोचनम्

तथाहि—'शिखरिणि' इत्यत्राकस्मिकप्रश्नविशेषादिबाधकानुप्रवेशे सादृश्याल्लक्षणास्त्येव। नन्वत्राङ्गीकृतैव मध्ये लक्षणा, कथं तर्ह्युक्तं विवक्षितान्यपरेति? तद्भेदोऽत्र मुख्योऽसंलक्ष्यक्रमात्मा विवक्षितः। तद्भेदशब्देन रसभावतदाभासतत्प्रशमभेदास्तदवान्तरभेदाश्च, न च तेषु लक्षणायाः उपपत्तिः। तथाहि—विभावानुभावप्रतिपादके काव्ये मुख्येऽर्थे तावद्बाधकानुप्रवेशोऽप्यसंभाव्य इति को लक्षणावकाशः?

वह इस प्रकार—'शिखरिणि' इसमें आकस्मिक प्रश्न विशेष इत्यादि बाधक के अनुप्रवेश में सादृश्य से लक्षणा है ही। (प्रश्न) निस्सन्देह यहाँपर मध्य में लक्षणा अङ्गीकार ही कर ली फिर इसे विवक्षितान्यपर यह क्यों कहा गया? (उत्तर) यहाँ पर उसका असंल्लक्ष्यक्रमात्मक मुख्य भेद कहा जाना अभीष्ट है। तद्भेद शब्द से रस, भाव, उनके आभास, उनके प्रशम भेद तथा उनके अवान्तर भेद (आते हैं) उनमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं ही होती। वह इस प्रकार—विभावानुभाव प्रतिपादक काव्य में मुख्य अर्थ में बाधक का अनुप्रवेश ही असम्भाव्य है फिर लक्षणा का क्या अवकाश!

तारावती

लक्षणा हो जाती है। (५) क्रियायोग अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध से जैसे अन्न का अपहरण करनेवाले के विषय में कोई कहे—'यह हमारे प्राण हर रहा है।' (अन्न प्राण का कारण है अतः कार्यकारणभाव सम्बन्ध से अन्न का प्रयोग प्राण के अर्थ में कर दिया गया है। इस प्रकार इस पाँच भेदोंवाली लक्षणा से सारा विश्व ही व्याप्त है। वह इस प्रकार—पहले विवक्षितान्यपरवाच्य का उदाहरण दिया गया था—'न जाने इस शुक शावक ने कितने दिनों किस पर्वत पर कौन सी तपस्या की है जो इसे तुम्हारे अधर-दशन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।' इस उदाहरण में भी बाध उपस्थित होता है—क्योंकि नायक ने अकस्मात् यह प्रश्न क्यों कर दिया यह समझ में नहीं आता। अतः विशेष प्रकार के प्रश्न के अकस्मात् किये जाने से बाधक का अनुप्रवेश हो जाता है और अधर चुम्बन में बिम्बफल तथा नायक का सादृश्य होने के कारण लक्षणा हो ही जाती है। (सिद्धान्ती) पिछले प्रकरण में मैंने इस उदाहरण में मध्य में लक्षणा मान ही ली। (पूर्वपक्षी) फिर आप यहाँ पर एक दूसरा भेद विवक्षितान्यपर वाच्य क्यों मानते हैं? उसे लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य में ही क्यों सन्निविष्ट नहीं कर देते? (उत्तर) विवक्षितान्यपरवाच्य के दो भेद बतलाये गये थे – असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रस इत्यादि तथा उसके भेदों की ध्वनि तथा संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तु तथा अलङ्कार की ध्वनि। तथा उसके 'भेद' का अर्थ है—रस, भाव, रसाभास, भावाभास. और भावप्रशम (भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता) की ध्वनि तथा उनके अवान्तर भेद। यह असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही विवक्षितान्यपरवाच्य का प्रमुख भेद है इसमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं होती। वह इस प्रकार—विभाव और अनुभाव इत्यादि के प्रतिपादक काव्य में मुख्य अर्थ में बाधक का अनुप्रवेश असम्भव है। अतः लक्षणा का अवकाश ही यहाँ पर क्या हो सकता है?

लोचनम्

ननु किं बाधया, इयदेव लक्षणास्वरूपम्—'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' इति। इह चाभिधेयानां विभावानुभावादीनामविनाभूता रसादय इति लक्ष्यन्ते, विभावानुभावयोः कार्यकारणरूपत्वात्, व्यभिचारिणां च तत्सहकारित्वादितिचेत्—नैवम्, धूमशब्दाद् धूमे प्रतिपन्ने ह्यग्निस्मृतिरपि लक्षणाकृतैव स्यात्, ततोऽग्नेः शीतापनोदस्मृतिरित्यादिरपर्यवसितः शब्दार्थः स्यात्। धूमशब्दस्य स्वार्थविश्रान्तत्वान्न तावति व्यापार इति चेत्, आयातं तर्हि मुख्यार्थबाधो लक्षणाया जीवितमिति। सति तस्मिन् स्वार्थे विश्रान्त्यभावात्। नच विभावादिप्रतिपादने बाधकं किञ्चिदस्ति।

(प्रश्न) बाधा की क्या आवश्यकता ? लक्षणा का यही स्वरूप माना जावे—'अभिधेय से अविनाभूत प्रतीति को लक्षणा कहते हैं'। यहाँपर रस इत्यादि अभिधेयों से अविनाभूत ही लक्षित होते हैं, क्योंकि विभाव और अनुभाव कारण-कार्य रूप हैं और व्यभिचारी उनके सहकारी हैं। (उत्तर) ऐसा नहीं है। (ऐसा मानने पर) धूम शब्द से धूम के प्रतिपन्न हो जाने पर अग्नि की स्मृति भी लक्षणा द्वारा सम्पादित ही होगी। उससे अग्नि से शीतापनोदन स्मृति इत्यादि अपर्यवसित शब्दार्थ होगा। यदि कहो धूम शब्द के स्वार्थविश्रान्त होने के कारण उतने में व्यापार नहीं होता तो मुख्यार्थबाध लक्षणा का जीवन (होता है) यह आ गया। क्योंकि उसके होने पर (ही) स्वार्थ में विश्राम का अभाव होता है। विभाव इत्यदि के प्रतिपादन में कोई बाधक है ही नहीं।

तारावती

(प्रश्न) लक्षणा के लक्षण में मुख्यार्थबाध के समावेश की आवश्यकता ही क्या ? लक्षणा की इतनी ही परिभाषा क्यों नहीं मानी जाती कि—'अभिधेय के साथ अविनाभूत प्रतीति (किसी रूप में सम्बद्ध होने) को लक्षणा कहते हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में भी विभाव अनुभाव इत्यादि के साथ अविनाभूत रसों की प्रतीति होती है। अतः उन्हें भी लक्षणा में ही सन्निविष्ट कर सकते हैं। क्योंकि विभाव रस में कारण होते हैं और अनुभाव इसमें कार्य होते हैं। तथा व्यभिचारी भाव सहकारी होते हैं। अतः ये सब इसके साथ अविनाभूत होते हैं इसका उत्तर यह है कि जहाँ पर धूम शब्द से वाच्यार्थ धूम की पतिपत्ति होने के बाद अग्नि का स्मरण होता है वहाँ भी आप लक्षणा मानेंगे। इसके बाद शीत के दूर होने की स्मृति भी जो कि अपर्यवसित अर्थ है, लक्ष्यार्थ ही माना जावेगा।' क्योंकि धूम और अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध तो है ही।) यदि आप कहें कि धूम शब्द स्वार्थ विश्रान्त है अर्थात् उसका अर्थ स्वतः पूर्ण हो जाता है अतएव अग्नि तथा शीतापनोदन पर्यन्त अर्थों में लक्षणाव्यापार नहीं माना जा सकता इसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि जहाँ किसी शब्द के अर्थ की स्वतः पूर्ति न हो वहाँ लक्षणा होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि

लोचनम्

नन्वेवं धूमावगमनानन्तरमग्निस्मरणवद्विभावादिप्रतिपत्त्यनन्तरं रत्यादिचित्तवृत्तिप्रतिपत्तिमिति शब्दव्यापार एवात्र नास्ति। इदं तावदयं प्रतीतिस्वरूपज्ञो मीमांसकः प्रष्टव्यः—किमत्र परचित्तवृत्तिमात्रे प्रतिपत्तिरेव रसप्रतिपत्तिरभिमता भवतः? न चैवं भ्रमितव्यम्; एवं हि लोकगतचित्तवृत्त्यानुमानमात्रमिति का रसता? यस्त्वलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः काव्यगतविभावादिचर्वणाप्राणो नासौ स्मरणानुमानादिसाम्येन खिलीकारपात्रीकर्तव्यः। किन्तु लौकिकेन कार्यकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमान एव न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते, अपितु हृदयसंवादापरपर्यायसहृदयत्वपरवशीकृततया पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मरणसरणिमनारुह्यैव तन्मयीभवनोचितचर्वणाप्राणतया। न चासौ चर्वणा प्रमाणान्तरतो जाता पूर्वं येनेदानीं स्मृतिः स्यात्। न चाधुना कुतश्चित्प्रमाणान्तरादुत्पन्ना, अलौकिके प्रत्यक्षाद्यव्यापारात्। अतएवालौकिक एव विभावादिव्यवहारः। यदाह 'विभावो विज्ञानार्थः' लोके कारणमेवाभिधीयते न विभावः। अनुभावोऽप्यलौकिक एव—'यदयमनुभावयति

(प्रश्न) इस प्रकार धूम ज्ञान के अनन्तर अग्नि के स्मरण की भाँति विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति के अनन्तर रति इत्यादि चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति होती है। इस प्रकार यहाँ शब्द का व्यापार ही नहीं होता। (उत्तर) प्रतीति के स्वरूप को जाननेवाले इस मीमांसक से यह पूछा जाना चाहिये—क्या यहाँपर दूसरे की सभी प्रकार की चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति आपके लिये रसप्रतिपत्ति अभिमत है। ऐसे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। ऐसा होने पर लोकगत चित्तवृत्ति का अनुमान कर लेने में ही क्या रस रह जावेगा, जो अलौकिक चमत्कारात्मक रसास्वाद है, जिसका प्राण है काव्यगत विभाव इत्यादि की चर्वणा वह स्मरण अनुमान इत्यादि के साम्य से व्यर्थता का पात्र नहीं किया जाना चाहिये। किन्तु लौकिक कार्यकारण के अनुमान इत्यादि के द्वारा संस्कृत हृदयवाला विभाव इत्यादि को प्रतिपन्न होते हुए ही तटस्थ के रूप में उसे प्राप्त नहीं करता। अपितु जिसका पर्याय हृदय संवाद है उस सहृदयत्व के द्वारा परवश हो जाने के कारण आगे चलकर पूर्ण होनेवाले रसास्वाद के अंकुरित हो जाने से अनुमान स्मरण इत्यादि की सरणि पर बिना ही आरूढ हुए तन्मय होने के योग्य चर्वणा को प्राण के रूप में स्वीकार कर (उसे प्राप्त करता है)। यह चर्वणा न तो पहले दूसरे प्रमाण से उत्पन्न हुई थी और न अब ही किसी प्रमाणान्तर से उत्पन्न हुई है, क्योंकि अलौकिक में प्रत्यक्ष इत्यादि का व्यापार नहीं होता। अतएव (रसप्रतीति के अलौकिक होने से ही) विभावादि व्यवहार भी अलौकिक ही होता है। जैसा कहते हैं—विभाव विज्ञानार्थक है, लोक में कारण ही कहा जाता है विभाव नहीं। अनुभाव भी अलौकिक ही होता है जो वाणी अङ्ग और सत्त्व से किया हुआ अभिनय

लोचनम्

वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनयस्तस्मादनुभाव इति। तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेव ह्यनुभवनम्। लोके तु कार्यमेवोच्यते नानुभावः। अत एव परकीया न चित्तवृत्तिर्गम्यते इत्यभिप्रायेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। स्थायिनस्तु रसीभाव औचित्यादुच्यते, तद्विभावानुभावोचितवृत्तिसुन्दरचर्वणोदयात्। हृदयसंवादोपयोगिलोकचित्तवृत्तिपरिज्ञानावस्थायामुद्यानपुलकादिभिः स्थायिभूतरत्याद्यवगमाच्च। व्यभिचारी तु चित्तवृत्त्यात्मत्वेऽपि मुख्यचित्तवृत्तिपरवश एव चर्व्यत इति विभावानुभावमध्ये गणितः। अतएव रस्यमानताया एषैव निष्पत्तिः यत्प्रबन्धप्रवृत्तबन्धुसमागमादिकारणोदितहर्षादिचित्तवृत्तिन्यग्भावेन चर्वणारूपत्वम्। अतश्चर्वणामात्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनं प्रमाणव्यापारवत्। नाप्युत्पादनं हेतुव्यापारवत्।

(स्थायी और व्यभिचारी को) अनुभव गोचर बनाता है इससे अनुभाव कहलाता है। उस चित्तवृत्ति का तन्मय होना ही अनुभवन है। लोक में तो कार्य ही कहते हैं अनुभाव नहीं। अतएव परकीया चित्तवृत्ति अवगत नहीं की जाती इस अभिप्राय से 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस सूत्र में स्थायी का ग्रहण नहीं किया गया। प्रत्युत वह शल्यभूत हो जाता। स्थायी की तो रसत्वप्राप्ति औचित्य से कही जाती है। विभाव और अनुभाव के योग्य चित्तवृत्ति के संस्कार के (उद्बोधन से) सुन्दर चर्वणा के उदय हो जाने से वह (स्थायी की रसत्व प्राप्ति) होती है। हृदयसंवाद में उपयोगी लोकचित्तवृत्ति के परिज्ञान की अवस्था में उद्यान पुलक इत्यादि के द्वारा स्थायीभूत रति इत्यादि के अवगमन से भी (स्थायी की) रसता प्राप्त हो जाती है। व्यभिचारी तो चित्तवृत्त्यात्मक होते हुए भी मुख्य चित्तवृत्ति के आधीन होकर ही चर्वणागोचर होता है; अतः विभाव और अनुभाव के मध्य में उसकी गणना की गई। अतएव रस्यमानता (आस्वादनगोचरता) की यही निष्पत्ति होती है कि प्रबन्ध में आये हुये बन्धुसमागम इत्यादि कारणों से उत्पन्न हर्ष इत्यादि लौकिक चित्तवृत्ति को नीचा करके चर्वणा रूपता धारण कर लेता है। अतः यहाँ चर्वणा का अर्थ अभिव्यंजन ही है ज्ञापन नहीं होता, जैसा कि प्रमाण व्यापार का (ज्ञापन) हुआ करता है। उत्पादन भी नहीं होता, जैसा कि हेतु व्यापार (से उत्पादन होता है)।

तारावती

मुख्यार्थबाध लक्षणा का जीवन है। क्योंकि पर्यवसान का अभाव होता है। विभाव इत्यादि के द्वारा रस के प्रतिपादन में कोई बाधक होता ही नहीं, अतः यहाँपर लक्षणा नहीं मानी जा सकती।

कतिपय मीमांसकों का कहना है कि जिस प्रकार धूमप्रत्यक्ष के बाद अग्नि का अनुमान या स्मरण कर लिया जाता है उसी प्रकार विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति के उपरान्त रति

तारावती

इत्यादि चित्तवृत्ति का अनुमान या स्मरण निपुणतया कर लिया जाता है क्योंकि जिस प्रकार पहले धूमप्रत्यक्ष अनुभव होता है और बाद में अग्नि का अनुमान या स्मरण, उसी प्रकार पहले विभावादि की प्रतिपत्ति होती है। अतएव जिस प्रकार अनुमानजन्य स्मरण को हम शब्द का व्यापार नहीं मानते उसी प्रकार रसप्रतिपत्ति भी शब्द का कोई व्यापार नहीं होती। (जब रसप्रतिपत्ति शब्द का ही कोई व्यापार नहीं होती तब यह तो दूर की बात रही कि उसके लिये हम शब्द के नये व्यापार व्यञ्जना की कल्पना करें) [यहाँपर प्रतिपत्तियाँ दो प्रकार की हैं—परकीय चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति और रसप्रतिपत्ति। प्रश्न यह है कि मीमांसक क्या सिद्ध करना चाहता है ? क्या वह यह सिद्ध करना चाहता है कि दूसरे की चित्तवृत्ति शब्द प्रमाण से न होकर अनुमान या स्मरण से होती है ? यदि ऐसा है तब तो यह सिद्ध का ही सिद्ध करना है क्योंकि परकीय चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति शब्द का व्यापार नहीं ही होती। अब यदि रसप्रतीति शब्द व्यापार का विषय नहीं होती यह सिद्ध करना है तो यह दुश्चेष्टामात्र है क्योंकि रस अलौकिक होते हैं। अतः उनको अनुमान प्रमाण से सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त कहाँ से आवेगा ? इसी आशय से लोचनकार यहाँपर उपहास उड़ाते हुये उत्तर दे रहे हैं।] यह मीमांसक प्रतीति के स्वरूप को तो भलीभाँति समझता है—जरा इससे पूछा जाना चाहिये कि क्या आप दूसरों की चित्तवृत्ति को ही रस मानते हैं ? आप इस भ्रम में न रहें। यदि लोक की चित्तवृत्ति के अनुमान को ही रस नाम दिया जावेगा तो उसमें रसत्व (आस्वादन) ही क्या रह जावेगा ? रसास्वाद और ही वस्तु है। रसास्वाद की आत्मा अलौकिक चमत्कार है और उसका प्राण काव्यगतविभाव इत्यादि की चर्वणा है। यदि इस प्रकार के उक्त रसास्वादन को स्मरण और अनुमान की समता प्रदान की जावेगी तो उसमें रसत्व धर्म ही क्या रहेगा ? अतः स्मरण और अनुमान की तुलना करके इसे व्यर्थ नहीं बनाना चाहिये। किन्तु जिन लोगों के अन्तःकरण लौकिक कार्य कारण के अनुमान के द्वारा संस्कृत हो चुके हैं जिस समय वे लोग काव्य या नाट्य में विभाव इत्यादि का परिशीलन करते हैं उस समय उन्हें वे विभाव इत्यादि अपने से सम्बन्ध रखनेवाले नितान्त परकीय ही नहीं मालूम पड़ते। किन्तु उनका हृदय उस समय सहृदयत्व भावना से पूर्ण रूप से परवश हो जाता है। सहृदयता का अर्थ है हृदय का इस प्रकार का हो जाना जिससे परिशीलन की जानेवाली वस्तु उससे मेल खाती हुई सी जान पड़े। आगे चलकर पूर्ण होनेवाला रसास्वादन एक परिपूर्ण कल्पवृक्ष के समान है, धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों उसके फल हैं। सहृदयों के हृदयों में विभाव इत्यादि के परिशीलन के द्वारा उससे रसास्वादरूपी कल्पवृक्ष का एक अङ्कुर जम जाता है। इस प्रकार सहृदयों के हृदय अनुमान तथा स्मरण के क्रम पर बिना ही आरूढ़ हुये तन्मय हो जाते हैं। इस तन्मयता के अनुकूल (विभाव इत्यादि की जो चर्वणा होती है वही इस रस का प्राण है। यह चर्वणा किसी दूसरे प्रमाण से रसास्वाद के पहले उत्पन्न नहीं

तारावती

हो चुकी थी। अतः उसका स्मरण नहीं हो सकता। (स्मरण उसी वस्तु का होता है जिसका अनुभव पहले हो चुका हो।) इस समय भी उसकी उपपत्ति किसी दूसरे प्रमाण से नहीं होती। क्योंकि अलौकिक तत्त्व के ग्रहण करने के लिये प्रत्यक्ष इत्यादि की क्रिया सर्वथा असमर्थ होती है। रसानुभूतिपरक विभावादि का व्यवहार अलौकिक ही होता है। यही बात भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में कही है—'विभाव का अर्थ है विज्ञान अर्थात् स्थायी और व्यभिचारी भाव जिनके द्वारा विशेष रूप से ज्ञात (भावित) किये जावें उन्हें विभाव कहते हैं। लोक में कारण शब्द का प्रयोग किया जाता है विभाव का नहीं क्योंकि विभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। प्रमदा उद्यान इत्यादि को कारणार्थ विभाव इसीलिये मानते हैं कि इन्हीं के द्वारा भावों का विशेष रूप से ज्ञान होता है। यद्यपि अनुभाव (अश्रुपातादि के द्वारा भी स्थायी की अभिव्यक्ति होती है किन्तु प्रमदा और उद्यान इत्यादि विभावरूप कारणों के द्वारा ही विशेष रूप से उनका परिज्ञान होता है। क्योंकि अश्रुपातादि तो अन्य कारणों से भी हो सकते हैं।) अनुभाव भी अलौकिक ही होता है। इसको अनुभाव इसीलिये कहते हैं क्योंकि यह स्थायी तथा सञ्चारी भावों को अनुभव के योग्य बनाता है। इस श्रेणी में आते हैं वाचिक, आङ्गिक, सात्विक इत्यादि अभिनय। अनुभव गोचर बनाने का अर्थ यही है कि किसी भावना से भावित चित्तवृत्तिके अनुकूल तन्मयता उत्पन्न कर देना। लोक में अनुभाव शब्द का प्रयोग नहीं होता किन्तु कार्य शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि अनुभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार विभाव और अनुभाव सर्वथा अलौकिक होते हैं। दूसरे की चित्तवृत्ति का अनुमान ही विभाव और अनुभाव का रूप नहीं धारण कर सकता। सामाजिक लोग परकीय चित्तवृत्ति के अनुमान के द्वारा ही आनन्द को ग्रहण नही करते किन्तु उनकी अपनी चित्तवृत्ति ही तदाकार रूप में परिणत हो जाती है। इसीलिये—'विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है' इस भरत मुनि के सूत्र में स्थायी भाव का ग्रहण नहीं किया गया है। वस्तुतः कहना यह चाहिये था कि विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव का स्थायी भाव के साथ संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है। किन्तु यहाँ पर जानबूझकर स्थायी शब्द की अवहेलना की गई है। कारण यह है कि अनुभाव के द्वारा ही स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है उसकी पृथक् अवस्थिति की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। (यदि यहाँपर विभावादिकों का संयोग स्थायीभाव के साथ बतलाया गया होता तो उसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि परकीय चित्तवृत्ति का अनुमान कर लिया जाता है।) इस प्रकार अर्थप्रतीति में यह एक अनिष्ट शल्य हो जाता। यह कहना उचित ही है कि स्थायी भाव ही रसरूपता को धारण करता है। कारण यह है कि दूसरे व्यक्तियों (नायक इत्यादिकों) में जो रति इत्यादि स्थायीभाव रहता है उससे सम्बन्ध रखनेवाले विभाव अनुभाव के अनुकूल जो चित्तवृत्ति बनती है उसके संस्कारों से जब सहृदयों की चित्तवृत्तियाँ भी संस्कृत हो जाती हैं तब रसास्वादन का उदय होता है। इस प्रकार स्थायी चित्तवृत्तियाँ ही

लोचनम्

ननु यदि नेयं ज्ञप्तिर्न वा निष्पत्तिः, तर्हि किमेतत् ? नन्वयमसावलौकिको रसः । ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापको हेतुः, उत कारकः ? न ज्ञापको न कारकः, अपि तु चर्वणोपयोगी । ननु क्वैतद् दृष्टमन्यत्र ? यत एव न दृष्टं तत एवा-

(प्रश्न) यदि यह ज्ञापन भी नहीं और निष्पत्ति भी नहीं तो यह क्या है ? (उत्तर) यह वह नहीं है (किन्तु) अलौकिकरस है। (प्रश्न) विभाव इत्यादि यहाँ पर क्या ज्ञापकहेतु है या कारक ? (उत्तर) न ज्ञापक है न कारक; अपितु चर्वणोपयोगी है।

तारावती

रसरूपता को धारण करती हैं। दूसरी बात यह है कि रस चर्वणा सदा हृदयसंवाद के द्वारा ही होती है। हृदयसंवाद में उपयोगी होता है लोक-चित्तवृत्ति का परिज्ञान। क्योंकि जब तक लोकगत चित्तवृत्ति का परिज्ञान नहीं हो जाता तब तक एक चित्तवृत्ति दूसरी चित्तवृत्ति से मेल खा ही नहीं सकती। जब लोकगत चित्तवृत्ति के परिज्ञान के द्वारा सहृदयों का हृदय दूसरों की चित्तवृत्ति से मेल खा जाता है तब प्रमदा उद्यान इत्यादि विभाव और पुलक इत्यादि अनुभावों के द्वारा रति इत्यादि स्थायीभाव का अवगम हो जाता है। (इसीलिये स्थायीभाव ही रस रूपता को प्राप्त होता है यह सिद्धान्त माना गया है तथा विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव से उसे पृथक् रक्खा गया है।) यद्यपि रति इत्यादि स्थायीभावों के समान लज्जा इत्यादि व्यभिचारीभाव भी चित्तवृत्ति रूप ही होते हैं किन्तु अन्तर यह होता है कि सञ्चारीभाव रूप में चित्तवृत्तियाँ सर्वदा मुख्य चित्तवृत्ति रति इत्यादि स्थायी भावों के अधीन होती हैं (तथा उसे पुष्ट करती हैं।) इसीलिये (पोषकता साम्य को लेकर) सञ्चारी भाव को भी विभाव इत्यादि के साथ सम्मिलित कर दिया गया है। अतएव रसास्वादन की निष्पत्ति को ही रसनिष्पत्ति कहते हैं। रसास्वादन का अर्थ है ऐसी चर्वणा जिसमें प्रबन्धगत बन्धु समागम इत्यादि कारणों से होनेवाली हर्ष इत्यादि लौकिक चित्तवृत्तियों को नीचा करके उच्चकोटि की एक नई ही चित्तवृत्ति का आविर्भाव होता है। अतः चर्वणा की अभिव्यक्ति ही होती है। जिस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा किसी पदार्थ के स्वरूप का ज्ञापन होता है उस प्रकार का ज्ञापन रस का नहीं हो सकता। जिस प्रकार दण्डचक्र इत्यादि के द्वारा घट इत्यादि का उत्पादन होता है उस प्रकार रस का उत्पादन भी नहीं हो सकता। किन्तु इसका केवल अभिव्यञ्जन ही होता है।

(प्रश्न) यदि रस का ज्ञापन भी नहीं होता और उत्पादन भी नहीं होता तो और होता क्या है ? (उत्तर) रस का ज्ञापन भी नहीं होता और उत्पादन भी नहीं होता यही तो रस की अलौकिकता है। (इसी अलौकिक क्रिया के लिये अभिव्यञ्जना नामक एक नया व्यापार मानना पड़ता है।) (प्रश्न) विभाव इत्यादि को आप कारक हेतु मानते हैं या ज्ञापक ? (उत्तर) न यह कारक ही होता है न

लोचनम्

लौकिकमित्युक्तम् । नन्वेवं रसोऽप्रमाणं स्यात्; अस्तु किं ततः ? तच्चर्वणात एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः किमन्यदर्थनीयम् । नन्वप्रमाणकमेतत्; न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । ज्ञानविशेषस्येव चर्वणात्मत्वादित्यलं बहुना । अतश्च रसोऽयमलौकिकः । येन ललितपरुषानुप्रासस्यार्थाभिधानानुपयोगिनोऽपि रसं प्रति व्यञ्जकत्वम्, का तत्र लक्षणायाः शङ्कापि ? काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा दृश्यते । दृश्यते हि तदेव काव्यं पुनः पुनः पठंश्चर्व्यमाणश्च सहृदयो लोकः, न तु काव्यस्य; तत्र 'उपादायापि ये हेयाः' इति न्यायेन कृतप्रतीतिकस्यानुयोग एवेति शब्द-

(प्रश्न) यह अन्यत्र कहाँ देखा गया ? (उत्तर) क्योंकि नहीं देखा गया इसीलिये अलौकिक है यह कहा गया। (प्रश्न) इस प्रकार तो यह रस अप्रामाणिक हो जावेगा ? (उत्तर) हो जावे तो उससे क्या ? उसकी चवर्णा से ही प्रीति और व्युत्पत्ति के सिद्ध हो जाने पर और क्या प्रार्थनीय है। (प्रश्न) यह तो अप्रमाणवाला है ? (उत्तर) ऐसा नहीं है क्योंकि यह स्वसंवेदन सिद्ध है। क्योंकि ज्ञानविशेष ही चवर्णात्मक होता है; बस अधिक की क्या आवश्यकता ? इसलिये यह रस अलौकिक है। क्योंकि अर्थाभिधान में अनुपयुक्त ललित और परुष अनुप्रास का भी रस के प्रति अभिव्यञ्जकत्व होता है उसमें लक्षणा की शंका भी क्या ? काव्यात्मक शब्द के निष्पीडन से ही वह चर्वणा देखी जाती है। सहृदय लोक उसी काव्य को बार-बार पढ़ते हुये और चर्वण करते हुए देखा जाता है। काव्य के

तारावती

ज्ञापक ही किन्तु चर्वणोपयोगी नये ही प्रकार का हेतु होता है। (प्रश्न) अन्यत्र यह बात कहाँ देखी गई है कि कोई हेतु न कारक हो न ज्ञापक ? (उत्तर) कहीं अन्यत्र नहीं देखी गई हैं इसीलिये तो रस अलौकिक होता है। (प्रश्न) यदि कोई भी लौकिक दृष्टान्त नहीं मिलता तो रस तो अप्रामाणिक हो जावेगा ? (उत्तर) हो जावे तो उससे क्या ? (अप्रामाणिक होकर भी उसकी रसनीयता रूप कार्यकारिता तो बनी ही रहेगी।) उसकी चर्वणा के द्वारा हृदय में जो आस्वादन का आविर्भाव होता है उसी से प्रीति और व्युत्पत्ति (आनन्दास्वादन के साथ व्युत्पत्ति) सिद्ध हो जाती है उससे बढ़कर आपको और कौन सा प्रमाण चाहिये। (प्रश्न) इसमें कोई प्रमाण तो फिर भी प्राप्त नहीं हो सका ? (उत्तर) इसका स्वप्रकाशस्वरूप और स्वसंवेदन सिद्ध होना सबसे बड़ा प्रमाण है। (प्रश्न) जब रस-निष्पत्ति के लिये एक विशेष प्रकार की चर्वणा अभीष्ट होती है तब आप उसे स्वसंवेदन सिद्ध किस प्रकार कह सकते हैं ? (उत्तर) चर्वणा और कुछ भी नहीं एक प्रकार का ज्ञान ही है। अतः रस की स्वसंवेदनसिद्धता में कोई त्रुटि नहीं आती। अधिक कहने की क्या आवश्यकता ? (इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि रस सर्वथा अलौकिक होता है।)

लोचनम्

स्यापीह ध्वनव्यापारः। अतएवालक्ष्यक्रमता। यत्तु वाक्यभेदः स्यादिति केनचिदुक्तम्, तदनभिज्ञतया। शास्त्रं हि सकृदुच्चारितं समयबलेनार्थं प्रतिपादयद्-युगपद्विरुद्धानेकसमयस्मृत्ययोगात् कथमर्थद्वयं प्रत्याययेत्। अविरुद्धत्वे वा तावानेको वाक्यार्थः स्यात्। क्रमेणापि विरम्य व्यापारायोगः। पुनरुच्चारितेऽपि वाक्ये स एव, समयप्रकरणादेस्तादवस्थ्यात्। प्रकरणसमयप्राप्यार्थतिरस्कारेणार्थान्तरप्रत्यायकत्वे नियमाभाव इति तेन 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति श्रुतौ खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थ इति का प्रमेति प्रसज्यते। तत्रापि न काचिदियत्तेत्यनाश्वासता इत्येवं वाक्यभेदो दूषणम्। इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणा विषयतोन्मुखमिति समयाद्युपयोगाभावः। न च नियुक्तोऽहमत्र करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीयप्रतीतिसदृशमदः। तत्रोत्तरकर्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात्। इह तु विभावादिचर्वणाद्भुतपुष्पवत् तत्कालसारैवोदिता न तु पूर्वापरकालानुबन्धिनीति लौकिकास्वादाद्योगिविषयाच्चान्य एवायं रसास्वादः।

(शब्द और अर्थ में अनुरक्त होते हुए लोक) नहीं (देखा जाता)। उपादान करके भी जिनका परित्याग कर दिया जाता है' इस न्याय से जिसने प्रतीति कर दी है (अर्थ ज्ञान करा दिया है) उस (शब्द) का उपयोग नहीं होता इस प्रकार शब्द का भी यहाँ पर ध्वनन व्यापार (होता है)। इसीलिये अलक्ष्यक्रमता (कही जाती है) जो किसी ने कहा था कि वाक्यभेद हो जावेगा वह अनभिज्ञता के कारण। निस्सन्देह एक बार उच्चारण किया हुआ शास्त्र संकेत के बल से अर्थ का प्रतिपादन करते हुये एक साथ विरुद्ध अनेक अर्थों के संकेत स्मरण के असम्भव होने के कारण किस प्रकार दो अर्थों का प्रत्यायन करा सकेगा विरुद्ध न होने पर उतना एक ही वाक्यार्थ हो जावेगा। क्रम से भी विरत होकर व्यापार होना असम्भव है। पुनः उच्चारण किये हुये वाक्य में भी वही (अर्थ निकलेगा) क्योंकि संकेत और प्रकरण तो तदवस्थ ही रहते हैं। प्रकरण और संकेत से प्राप्य अर्थ के तिरस्कार के साथ दूसरे अर्थ के प्रत्यायन कराने में कोई नियम नहीं है इस प्रकार उससे 'स्वर्ग की कामना से अग्निहोत्र में हवन करना चाहिये' इस श्रुति में 'कुत्ते का मांस खाना चाहिये' यह अर्थ नहीं है इसमें क्या प्रमाण है यह (दोष) प्रसक्त हो जावेगा। उसमें भी कोई इयत्ता नहीं है इसलिये अविश्वसनीयता हो जावेगी इस प्रकार वाक्यभेद दोष है। यहाँ पर तो प्रतिपादन किया जाता हुआ विभाव इत्यादि ही चर्वणाविषयता की ओर उन्मुख हो जाता है इस प्रकार संकेत इत्यादि के उपयोग का अभाव है। 'नियुक्त किया हुआ मैं (यह कार्य) करूँ'; 'मैं कृतार्थ हूँ' इस शास्त्रीय प्रतीति के समान यह नहीं है। वहाँ बाद के कर्म की ओर उन्मुख होने से लौकिकता है। यहाँ तो विभाव इत्यादि की चर्वणा अद्भुत पुष्प के समान उसी समय के (वर्तमान-काल के) सार के रूप में उदित (होती है) पूर्वापरकाल की अनुबन्धिनी नहीं होती इस प्रकार लौकिक आस्वाद और योगियों के विषय से यह रसास्वाद सर्वथा भिन्न ही है।

तारावती

जब ललित और परुष अनुप्रास भी रस के अभिव्यञ्जक होते हैं जिनमें अर्थाभिधान तक की आवश्यकता नहीं होती तब लक्षणा के द्वारा रसाभिव्यक्ति के गतार्थ होने की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती। काव्यात्मक शब्दों के निष्पीडन से ही रसचर्वणा देखी जाती है। प्रायः देखा जाता है कि सहृदय लोग उसी काव्य को बार-बार पढ़ते हैं और उसका स्वाद लेते हैं। काव्य के शब्द (तथा वाच्यार्थ) में आस्वाद नहीं होता (अपितु अभिव्यज्यमान रस की चर्वणा में ही आनन्द होता है)। चर्वणा के विषय में काव्य शब्द उपायभूत होते हैं, किन्तु उनके विषय में उपाय की यह परिभाषा लागू होती है कि 'उपादान करके भी जिनका परित्याग कर दिया जाय उन्हें उपाय कहते हैं।' अतएव जिन काव्य शब्दों की प्रतीति हो चुकती है उनका उपयोग हो जाता है। अतः काव्य के लिये भी ध्वननव्यापार शब्द का प्रयोग होता है। अलक्ष्यक्रमत्व कहने का भी यही अभिप्राय है कि शब्द से रसाभिव्यक्ति हो जाती है। यदि बीच में अर्थ व्यवधान अनिवार्य हो तो अलक्ष्यक्रमत्व कहना सर्वथा असङ्गत हो जावे। कुछ लोग कहते हैं कि 'यदि व्यंग्यार्थ की सत्ता मानी जावेगी तो वाक्यभेद मानना पड़ेगा' यह कथन सर्वथा अनभिज्ञता का परिचायक है। जब कोई वाक्य एकबार बोला जाता है तब जब वह संकेत के बल पर अर्थ प्रतिपादित करने लगता है तब एकसाथ दो अर्थों को किस प्रकार कह सकता है ? यदि वे दोनों अर्थ एक दूसरे से परस्पर विरुद्ध हैं तो एक साथ अनेक विरोधी संकेतों का स्मरण असम्भव है, यदि वे दोनों अर्थ परस्पर विरोधी न हों अर्थात् एक क्रिया में दोनों का अन्वय हो सकना सम्भव हो तो जितना भी बोध होता है उतना सम्पूर्ण एक ही वाच्यार्थ माना जावेगा (जैसे 'श्वेतो धावति' में 'श्वेतः' के दो अर्थ हैं 'श्वा + इतः' अर्थात् 'कुत्ता इधर से' तथा 'श्वेत वर्णवाला' दोनों में विरोध नहीं है, अतः दोनों का एक क्रिया में अन्वय हो जाता है। इसी प्रकार 'सर्वदोमाधवः पायात्' में 'सर्वदोमाधवः' के दो अर्थ हैं 'सब कुछ देनेवाले भगवान् कृष्ण' तथा 'सर्वदा + उमाधवः' अर्थात् 'सर्वदा भगवान् शङ्कर' यहाँ पर कृष्ण और शिव दोनों का एक क्रिया में अन्वय सम्भव है। अतः दोनों को मिलाकर एक ही वाक्यार्थ माना जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।) एक अर्थ के बाद दूसरा अर्थ निकल नहीं सकता क्योंकि शब्दों की क्रिया रुक-रुककर होती नहीं। यदि दो बार भी वाक्य बोला जावे तो प्रकरण सामग्री इत्यादि तो वही बनी रहेगी। अतः दो विभिन्न अर्थ तो निकल ही नहीं सकेंगे। ऐसा कोई नियम नहीं कि प्रकरण और संकेत के आधार पर प्राप्त होनेवाले अर्थ का तिरस्कार करके बिलकुल नया ही अर्थ ले लिया जावे। यदि ऐसा माना जावेगा तो 'स्वर्ग की कामना से अग्निहोत्र करना चाहिये।' इस वाक्य का 'कुत्ते का मांस खाना चाहिये' यह अर्थ भी निकलने लगेगा और कोई व्यवस्था नहीं रह जावेगी। क्योंकि यह अर्थ नहीं होता इसमें प्रमाण ही क्या होगा ? उसमें भी फिर अर्थों की कोई सीमित संख्या नहीं रहेगी। अतः अर्थ की वास्तविकता पर विश्वास जम ही नहीं सकेगा। इस प्रकार वाक्यभेद एक दोष माना जाता है। यह तो हुई शास्त्रों की बात।

लोचनम्

अतएव 'शिखरिणि' इत्यादावपि मुख्यार्थबाधादिक्रममनपेक्ष्यैव सहृदया वक्त्रभिप्रायं चाटुप्रीत्यात्मकं संवेदयन्ते । अत एव ग्रन्थकारः सामान्येन विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनौ भक्तेरभावमभ्यधात् । अस्माभिस्तु दुर्दुरूटं प्रत्याययितुमुक्तम्—भवत्वत्र लक्षणा, अलक्ष्यक्रमे तु कुपितोऽपि किं करिष्यसीति । यदि तु न कुप्यते 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादावविवक्षितवाच्येऽपि मुख्यार्थबाधादिलक्षणासामग्रीमनपेक्ष्यैव व्यङ्ग्यार्थविश्रान्तिरित्यलं बहुना । उपसंहरति—तस्माद्भक्तिरिति ॥ १८ ॥

अतएव 'शिखरिणि' इत्यादि में भी मुख्यार्थबाध इत्यादि क्रम की अपेक्षा बिना किये हुये ही सहृदय लोग वक्ता के चाटुप्रतीतिरूप अभिप्राय को जान लेते हैं। इसलिये ग्रन्थकार ने सामान्यतया विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में भक्ति का अभाव बतला दिया। हमने तो विरोधियों की टर-टर का प्रत्यायन कराने के लिये कह दिया—यहाँ लक्षणा हो जावे, अलक्ष्यक्रम में तो कुपित होकर भी क्या कर लोगे ? यदि कुपित नहीं होते हो तो 'सुवर्णपुष्पा' इत्यादि अविवक्षितवाच्य में भी मुख्यार्थबाध इत्यादि लक्षणा सामग्री को बिना ही अपेक्षा किये हुये व्यंग्यार्थ की विश्रान्ति हो जाती है। बस अधिक की क्या आवश्यकता ? उपसंहार करते हैं—तस्माद्भक्तिः इत्यादि ॥ १८ ॥

तारावती

किन्तु काव्य में अभिधा के द्वारा विभाव इत्यादि का प्रतिपादन होता है और फिर विभाव इत्यादि रसचर्वणा की ओर उन्मुख हो जाते हैं। अतएव उनमें संकेत प्रकरण इत्यादि सामग्री का अपेक्षा नहीं होती। अन्य शास्त्रों में शास्त्रीय वाक्यों से आदेश मिलता है। उनमें पाठक या परिशीलक यह अनुभव करता है कि मुझे शास्त्र ने अमुक कार्य में नियुक्त किया है, अतः इस कार्य को करूँ, और जब वह शास्त्रीय विधि को पूरा कर चुकता है तब उसे यह अभिमान होता है कि मैं यह कार्य सफलतापूर्वक कर चुका। किन्तु ऐसा मद काव्य में नहीं होता। शास्त्र लौकिक होते हैं क्योंकि उनमें उत्तर काल में (शास्त्राध्ययन के अनन्तर) कर्तव्य में मन लगाया जाता है। किन्तु काव्य में ऐसा नहीं होता। अतः काव्य अलौकिक होते हैं। काव्य में विभाव इत्यादि की चर्वणा इन्द्रजाल में दिखलाये हुए पुष्प के समान वाक्यार्थबाध समकाल में ही होती है। पहले पीछे का इसमें कोई नियम नहीं होता। इसीलिये लौकिक आस्वाद तथा योगियों के विषय से रसास्वाद एक बिल्कुल भिन्न वस्तु है। इसीलिये विवक्षितान्यपरवाच्य के उदाहरण 'शिखरिणि क्व नु नाम…… ' इत्यादि में भी वाच्यार्थबाध इत्यादि क्रम की बिना ही अपेक्षा किये हुए सहृदय लोग चाटुकारिता और प्रसन्नता रूप वाक्यार्थ को समझ लेते हैं। यही कारण है कि ग्रन्थकार ने सामान्य रूप से विवक्षितान्य-

ध्वन्यालोकः

कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ।

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत; यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्येत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः ।

(अनु०) वह लक्षणा सम्भवतः किसी ध्वनिभेद का उपलक्षण हो जावे ।

आगे चलकर ध्वनि के जो भेदोपभेद बतलाये जावेंगे उनमें किसी एक भेद का उपलक्षण सम्भवतः लक्षणा हो जावे । यदि कहो कि सारी ध्वनि (उपलक्षण के रूप में) गुणवृत्ति के द्वारा ही लक्षित हो जावेगी तो इसपर मेरा कहना यह है कि अभिधा व्यापार के द्वारा उससे भिन्न सारा अलङ्कारवर्ग लक्षित ही हो जावेगा फिर प्रत्येक अलङ्कार का पृथक्-पृथक् लक्षण बनाना व्यर्थ ही हो जावेगा ।

लोचनम्

ननु मा भूद्ध्वनिरिति भक्तिरिति चैकं रूपम् । मा च भूद्भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणम् । उपलक्षणं तु भविष्यति, यत्र ध्वनिर्भवति तत्र भक्तिरप्यस्तीति भवत्युपलक्षितो ध्वनिः । न तावदेतत्सर्वत्रास्ति, इयता च किं परस्य सिद्धम् ? किंवा नः त्रुटितम् ? इति तदाह-कस्यचिदित्यादि । ननु भक्तिस्तावच्चिरन्तनैरुक्ता तदुपलक्षण-

(प्रश्न) ध्वनि और भक्ति ये दोनों एकरूप न हों; ध्वनि भक्ति का लक्षण भी न हो; उपलक्षण तो हो जावेगी—जहाँ ध्वनि होती है वहाँ भक्ति भी होती है इस प्रकार ध्वनि भक्ति से उपलक्षित होती है । यह सर्वत्र नहीं होता इससे क्या दूसरे (विरोधी) का बन गया और क्या हमारा बिगड़ गया ? (उत्तर) इसी का उत्तर देते हैं—कस्यचित् इत्यादि ।

(प्रश्न) भक्ति तो प्राचीनों के द्वारा कही गई है । उसके उपलक्षण के द्वारा समग्रभेदों-

तारावती

परवाच्य ध्वनि में लक्षणा का न होना ही स्वीकार कर लिया है । मैंने केवल विरोधियों की टरटराहट को शान्त करने के लिये (दुर्जनतोष न्याय से) यह कह दिया कि विवक्षितान्यपरवाच्य के संल्लक्ष्यक्रमव्यंग्य के उदाहरण (शिखरिणि क्वनु नाम······इत्यादि) में जैसे तैसे बीच में लक्षणा मान भी ली जावे फिर भी तुम असंल्लक्ष्यक्रमव्यंग्य रसध्वनि में क्या करोगे ? (उसके लिये तो व्यञ्जनावृत्ति मानने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं । अरे भाई क्रोध का क्या काम सच्ची बात कहनी चाहिये ।) यदि क्रोध का काम नहीं और तुम कुपित न हो जाओ हम तो यहाँ तक कहने को उद्यत हैं कि अविवक्षित वाच्य के उदाहरण 'सुवर्णपुष्पां पृथ्वीम्···' इत्यादि में भी लक्षणा की सामग्री सन्निहित होते हुए भी उसकी बिना ही अपेक्षा किये व्यंग्यार्थ की विश्रान्ति हो जाती है । बस, इस विषय में मुझे इतना ही कहना है, अधिक की क्या आवश्यकता ? इसीलिये कहा गया है कि ध्वनि का लक्षण भक्ति कभी नहीं हो सकती ।

लोचनम्

मुखेन च ध्वनिमपि समग्रभेदं लक्षयिष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च। किं तल्लक्षणेनेत्याशङ्कयाह—यदि चेति। अभिधानाभिधेयभावो ह्यलङ्काराणां व्यापकः, ततश्चाभिधावृत्ते वैय्याकरणमीमांसकैर्निरूपिते कुत्रेदानीमलङ्कारकाराणां व्यापारः। तथा हेतुबलात्कार्यं जायत इति तार्किकैरुक्ते किमिदानीमीश्वरप्रभृतीनां कर्तॄणां ज्ञातॄणां वा कृत्यमपूर्वं स्यादिति सर्वो निरारम्भः स्यात्। तदाह—लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति।

वाली ध्वनि को भी लक्षित कर लेंगे और जान जावेंगे। फिर उसके लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता? यह शङ्का करके कहते हैं—यदि च इत्यादि। अभिधान और अभिधेयभाव अलङ्कारों का व्यापक है फिर अभिधाव्यापार के वैय्याकरण और मीमांसकों द्वारा निरूपित कर दिये जाने पर अलङ्कार (शास्त्र)कारों का व्यापारक्षेत्र कहाँ होगा? उसी प्रकार हेतु के बल से कार्य होता है यह तार्किकों के द्वारा कह दिये जाने पर ईश्वरप्रभृति कर्ताओं और ज्ञाताओं का अपूर्वकृत्य क्या होगा? इस प्रकार सभी कुछ आरम्भ हो जावेगा। वह कहते हैं—'लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसंग' यह।

तारावती

(लक्षणापक्ष के उत्थान में तीन विकल्पों की कल्पना की थी (१) लक्षणा ध्वनि का स्वरूप हो सकती है। (२) लक्षणा ध्वनि का लक्षण हो सकती है। (३) लक्षणा ध्वनि का उपलक्षण हो सकती है। पिछले प्रकरण में दो पक्षों का विस्तारपूर्वक निराकरण कर दिया गया। अब तीसरे पक्ष को लीजिये—प्रायः ऐसा होता है कि लक्षणकार समस्त समूह में किसी एक तत्व का परिचय दे देते हैं। उसी के आधार पर शेष समूह भी समझ लिया जाया करता है। इसे उपलक्षण कहते हैं। उपलक्षणवादियों का आशय यह है कि ध्वनि का कोई एक भेद तो ऐसा होता ही है जिसमें लक्षणा विद्यमान हो। तब उसे उपलक्षण मानकर शेष भेदों का उसी में समाहार हो जावेगा, ध्वनि के पृथक् लक्षण करने की क्या आवश्यकता? अब इसी पक्ष पर विचार किया जा रहा है।) (प्रश्न) ध्वनि और भक्ति की एकरूपता न मानी जावे, ध्वनि का लक्षण भी भक्ति न हो किन्तु उपलक्षण तो हो ही सकती है। कुछ ऐसे भी स्थल होते हैं जहाँ ध्वनि होती है और वहाँ भक्ति होती ही है, बस इतना ही पर्याप्त है; भक्ति के द्वारा ध्वनि उपलक्षित हो जावेगी। ध्वनि के समस्त भेदों में भक्ति नहीं होती इससे हमारे प्रतिपक्षियों का क्या काम बन जाता है या हमारा क्या बिगड़ जाता है? इसी का उत्तर देने के लिये यह कारिका लिखी गई है कि लक्षणा किसी भेद का उपलक्षण हो सकती है। अब यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि चिरन्तन आचार्यों ने भक्ति का पूर्णरूप से निरूपण कर दिया। उसी को उपलक्षण मानकर समग्र भेदवाली ध्वनि को लक्षित भी कर लेंगे और जान भी जावेंगे। फिर ध्वनि का लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता? इसी आक्षेप का

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥ १९ ॥

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः यस्माद्ध्वनिरस्तीति नः पक्षः। स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः संवृत्ताः स्मः। येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्यवादिनः। यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायितैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव।

(अनु०) और भी—यदि अन्य आचार्यों ने इस ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो इससे तो हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है।

यदि पहले कुछ आचार्यों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो भी हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है। क्योंकि हमारा पक्ष है कि ध्वनि है। वह पहले ही सिद्ध हो गया; इस प्रकार हमारा समीहित अर्थ तो बिना ही प्रयत्न के सम्पन्न हो गया। जिन लोगों ने यह कहा कि 'ध्वनि की आत्मा (तत्त्व) सहृदयहृदयसंवेद्य ही है उसका आख्यान हो ही नहीं सकता।' वे भी सोच-समझकर कहनेवाले नहीं हैं। क्योंकि जो नीति हम बतला चुके हैं या जो आगे चलकर बतलाई जावेगी उससे ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षणों के प्रतिपादित कर देनेपर भी यदि यही कहा जावेगा कि ध्वनि का प्रकथन हो ही नहीं सकता तो यह बात तो सभी के विषय में लागू हो जावेगी। यदि इस अतिशयोक्ति के द्वारा वे लोग ध्वनि के विषय में यह कह रहे हैं कि ध्वनि दूसरे काव्यों का अतिक्रमण करती है तो वे भी ठीक ही कहते हैं।

लोचनम्

माभूद्वाऽपूर्वोन्मीलनं पूर्वोन्मीलितमेवास्माभिः सम्यङ् निरूपितं तथापि को दोष इत्यभिप्रायेणाह—किञ्चेत्यादि। प्रागेवेति। अस्मत्प्रयत्नादिति शेषः। एवं त्रिप्रकारमभाववादं, भक्त्यन्तर्भूततां च निराकुर्वता अलक्षणीयत्वमेतन्मध्ये निराकृतमेव। अत एव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति—येपीत्या-

अथवा अपूर्व उन्मीलन न हो पूर्वोन्मीलित को ही हम लोगों ने ठीक रूप में निरूपित कर दिया है फिर भी क्या दोष है? इस अभिप्राय से कहते हैं—'किंच' यह। 'प्रागेव' यह। 'हमारे प्रयत्न से' यह शेष है (अर्थात् हमारे प्रयत्न से पहले)। इस प्रकार तीन प्रकार के अभाववाद और भक्ति के अन्तर्भाव का निराकरण करते हुए इसके बीच में अलक्षणीयत्व का निराकरण कर ही दिया। अतएव उसके साक्षात् निराकरण के अर्थवाली मूलकारिका नहीं सुनाई देती है। वृत्तिकार तो निराकरण किये हुये को भी प्रमेयशय्या की पूर्ति के निमित्त कण्ठ से उस पक्ष का अनुवाद कर दूषित कर रहे हैं—'येऽपीत्यादि'। उक्त नीति से 'यत्रार्थः

लोचनम्

दिना । उक्तया नीत्या 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति सामान्यलक्षणं प्रतिपादितम् । वक्ष्यमाणया तु नीत्या विशेषलक्षणं भविष्यति—'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्' इत्यादिना । तत्र प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम् । द्वितीयोद्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभाग विशेषलक्षणं च विदधदनुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान् । तदाशयानुसारेण तु वृत्तिकृदत्रैवोद्योते मूलविभागमवोचत्—'स च द्विविधः' इति । सर्वेषामिति—लौकिकानां शास्त्रीयाणां चेत्यर्थः । अतिशयोक्त्येति । यथा—'तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति' इति वदतिशयोक्त्यानाख्येयतोक्त्वा साररूपतां प्रतिपादयितुमितिदर्शितमितिशिवम् १९

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि ।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥
यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते
सहृदयालोकलोचने ध्वनिसङ्केतो नाम
प्रथम उद्योतः ।

शब्दो वा' इस सामान्य लक्षण का प्रतिपादन कर दिया । आगे चलकर कही जानेवाली नीति से 'अर्थान्तरे संक्रमितम्' इत्यादि के द्वारा विशेष लक्षण हो जावेगा । उसमें प्रथम उद्योत में कारिकाकार ने सामान्य लक्षण ही किया । द्वितीय उद्योत में कारिकाकार ने अवान्तरविभाग और विशेष लक्षण को बनाते हुए अनुवाद मुख से दो प्रकार के मूल विभाग की सूचना दी । उसके आशय के अनुसार वृत्तिकार ने इसी उद्योत में मूल विभाग को कह दिया—'वह दो प्रकार का है' यहाँ 'सभी का' अर्थात् लौकिकों का और शास्त्रीयों का । 'अतिशयोक्ति के द्वारा' यह । जैसे 'वे अक्षर हृदय में कुछ स्फुरित कर रहे हैं' इसके समान अतिशयोक्ति के द्वारा साररूपता के प्रतिपादन के लिये कथन की अशक्यता दिखलाई गई । इस प्रकार सब कल्याणकारक हो ॥ १९ ॥

क्या लोचन के बिना चन्द्रिका से भी आलोक शोभित होता है ? इससे अविनवगुप्त ने यहाँ पर लोचनोन्मीलन कर दिया ।

जिसकी उन्मीलनी शक्ति के द्वारा ही विश्व क्षगभर में उन्मीलित हो जाता है, अपने आत्मारूपी आयतन में विश्राम करनेवाली उस कल्याणकारिणी प्रतिभा की हम वन्दना करते हैं । अथवा प्रतिभा अर्थात् ज्ञानरूपिणी शिवा (पार्वती) की हम वन्दना करते हैं ।

यह है महामाहेश्वर आचार्यवर अभिनव गुप्त द्वारा उन्मीलित
सहृदयालोकलोचन में ध्वनिसङ्केत नामक
प्रथम उद्योत ।

तारावती

उत्तर वृत्तिकार ने इस प्रकार दिया है—सभी अलङ्कारों में अभिधेय भाव व्यापक रूप में रहता है। अभिधावृत्ति का पूर्ण निरूपण वैय्याकरणों और मीमांसकों ने कर ही दिया था। फिर अलङ्कारशास्त्र का प्रणयन करनेवाले आचार्यों का काम ही क्या शेष रह गया ? इसीप्रकार तार्किकों ने जब यह कह ही दिया कि हेतु के द्वारा कार्य की उत्पत्ति होती है तब फिर ईश्वर इत्यादि विभिन्न कार्यों ज्ञाताओं इत्यादि का निरूपण क्या कार्य रह जावेगा ? इस प्रकार शास्त्रों का सारा उद्योग ही व्यर्थ हो जावेगा। (आशय यह है कि किसी सामान्य बात को कह देने के बाद उसके विशेष प्रतिपादन की आवश्यकता होती ही है। अतः लक्षणा को उपलक्षण मान लेने पर भी ध्वनि का समस्त प्रपञ्च तथा उसका निरूपण व्यर्थ नहीं हो जाता।)

अथवा यह भी माना जा सकता है कि ध्वनि का निरूपण कोई नई वस्तु नहीं। पुराने आचार्यों ने जिसका उन्मीलन कर दिया है उसी का सम्यक् निरूपण हमने कर दिया है। ऐसा मानने में भी क्या दोष ? इसी अभिप्राय से उन्नीसवीं कारिका का उत्तरार्ध लिखा गया है। इसका आशय यह है कि यदि पहले ही और लोगों ने ध्वनि का निरूपण कर दिया है तो इससे हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है कि ध्वनि विद्यमान है (और वह काव्य की आत्मा भी है)। पहले ही लिखने का आशय है हमारे लिखने के पहले। (आशय यह है कि यदि प्रतिपक्षी यह कहें कि ध्वनिकार से पहले ही अन्य आचार्यों ने लक्षणा का प्रतिपादन किया था। लक्षणा की व्याख्या उपलक्षणपरक करने से ध्वनि का लक्षण स्वतः हो जाता है। अतः ध्वनि का प्रतिपादन कोई नई वस्तु नही। प्रतिपक्षियों का यह कथन तो ध्वनिकार के दावे को ही सिद्ध करता है कि ध्वनि होती है। अतः प्रतिपक्षियों के इस कथन से ध्वनिकार का कुछ नहीं बिगड़ता।) ध्वनि-प्रस्तावना में विरोधियों के ५ मतों का उल्लेख किया गया था—३ अभाववाद सम्बन्धी, १ लक्षणा में अन्तर्भाव और १ अशक्यवक्तव्यत्ववादी। इस उद्योत में अभाववाद के तीनों पक्षों का निराकरण कर दिया गया और यह भी सिद्ध कर दिया गया कि ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अब अशक्यवक्तव्यत्ववाद का निराकरण शेष रह गया। इसके लिये ध्वनिकार की एक-आध कारिका होनी चाहिये थी। किन्तु जब तीन प्रकार के अभाववाद का निराकरण हो गया और ध्वनि की लक्षणावृत्ति-गम्यता भी निराकृत कर दी गई तब अशक्यवक्तव्यत्ववाद का निराकरण भी स्वाभाविक रूप में ही हो गया। अतएव उसके निराकरण के लिये कोई मूल कारिका सुनाई नहीं देती। किन्तु वृत्तिकार ने प्रमेय सन्निवेश को पूरा करने के लिये अभिधावृत्ति में ही उसको अनूदित कर निराकृत कर दिया है। वह इस प्रकार है—'जो लोग ध्वनि को सहृदयहृदयसंवेद्यमात्र कहकर उसकी निर्वचनानर्हता का प्रतिपादन करते हैं वे भी सोच-समझकर नहीं बोलते, क्योंकि कही हुई तथा कही जानेवाली नीति से ध्वनि के सामान्य विशेष लक्षणों के प्रतिपादन कर देने पर भी यदि उसको अनाख्येय कहा जावेगा तो यह बात तो सभी के विषय में घटित

तारावती

हो जावेगी।' यहाँ पर कही हुई नीति का आशय है ध्वनि परिभाषा की कारिका—'यत्रार्थः शब्दो वा ·····इत्यादि।' कही जानेवाली नीति का आशय है—'अर्थान्तरे संक्रमितम्' इत्यादि कारिका के द्वारा उसके भेदोपभेद किया जाना। प्रथम उद्योत में कारिका कार ने सामान्य लक्षण ही किया है। दूसरे उद्योत में विशेष लक्षण तथा अवान्तर भेद किये गये हैं। किन्तु कारिकाकार ने यह नहीं कहा कि उसके भेद कितने होते हैं? केवल अवान्तर भेदों का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया। विशेष लक्षणा तथा अवान्तर भेदों का परिचय देते हुए ध्वनिकार ने यह सूचित कर दिया कि ध्वनि मूल रूप में दो प्रकार की होती है। इसी आशय के अनुसार वृत्तिकार ने प्रथम उद्योत में ही लिख दिया कि 'वह ध्वनि दो प्रकार की होती है'। सभी के विषय में लागू हो जावेगी' इस कथन में सभी का अर्थ है सभी लौकिक तथा शास्त्रीय विषयों में। (आशय यह है कि इस ग्रन्थ ध्वन्यालोक में ध्वनि का सामान्य लक्षण भी दिखा दिया गया और विशेष भी। अतः इस बात का स्वतः निराकरण हो गया कि ध्वनि का लक्षण बन ही नहीं सकता।) अथवा 'ध्वनि का लक्षण नहीं बनाया जा सकता इस कथन में अतिशयोक्ति मानी जा सकती है और इसका आशय यह माना जा सकता है कि ध्वनि काव्यतत्वों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसका महत्त्व इतना अधिक है कि वह सभी काव्यतत्त्वों का अतिक्रमण करनेवाला होता है। यहाँपर अतिशयोक्ति का आशय है कि उसका प्रकथन किया ही नहीं जा सकता यह कथन उस ध्वनि का प्रशंसापरक मात्र है। जैसे—

निद्रानिभीलितदृशो मदमन्थराया
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्याः
तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति॥

'निद्रा के कारण आधी आँखों को बन्द किये हुए उस मृगनयनी ने मद से मन्थर कुछ ऐसे मधुर अक्षरों का उच्चारण किया जो न तो सार्थक ही थे न निरर्थक ही। आज भी वे अक्षर मेरे हृदय में किसी भावना का स्फुरण कर रहे हैं।' यहाँ किसी नई भावना का अर्थ है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता अर्थात् जो महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार ध्वनि का आख्यान नहीं किया जा सकता इन शब्दों का यह अर्थ हो सकता है कि ध्वनि एक सारगर्भित पदार्थ है। बस ध्वनि स्थापना के विषय में मुझे (अभिनव गुप्त को) यही कहना है। (तृतीय उद्योत में अनिर्वचनीय पक्ष की विशेष मीमांसा की गई है वहीं देखी जानी चाहिये।) यह मेरी व्याख्या मेरे समस्त पाठकों को शिवरूपिणी हो।

क्या लोचन के न होने पर चन्द्रिका से भी आलोक की शोभा हो सकती है? इसीलिये अभिनव गुप्त ने लोचनोन्मीलन किया है। (आशय यह है कि यदि चाँदनी छिटकी हुई हो प्रकाश फैल रहा हो तो भी जिसके आँखें नहीं हैं वह प्रकाश का आनन्द नहीं ले सकता।

तारावती

इसीप्रकार ध्वन्यालोक पर चन्द्रिका नाम की एक टीका लिखी जा चुकी थी। यह इतनी अपूर्ण तथा अस्पष्ट थी कि साधारण पाठक ध्वन्यालोक के रहस्य को इस टीका के द्वारा इसी प्रकार नहीं समझ सकता था जिस प्रकार चाँदनी का सहारा लेकर कोई नेत्रहीन व्यक्ति आलोक का आनन्द नहीं ले सकता। इसीलिए अभिनव गुप्त ने लोचन टीका में पाठकों को आँखें खोलने की चेष्टा की है।)

जिन भगवती पार्वती जी की प्रकाशन शक्ति से ही सारा विश्व क्षणभर में प्रकाशित हो जाता है। (अर्थात् जैसे ही भगवती पार्वती अपने कृपा-कटाक्ष से हृदय तत्व को उन्मीलित कर देती है वैसे ही सारा विश्व करतलामलकवत् विना किसी अन्य उपकरण के हमारे अन्तःकरणों में एकदम उद्भासित होने लगता है।) जो केवल अपने स्वरूप में ही अवस्थित हैं। अथवा ब्रह्मचिन्मय रूपी आयतन में जिनका स्वरूपतः निवास है जो ज्ञानस्वरूपिणी हैं जिनका नाम शिवा है उस आदिशक्ति की हम वन्दना करते हैं।

अथवा जिस प्रतिभा के प्रकाशन योग से सारा विश्व क्षणभर में प्रतिभासित होने लगता है। (अर्थात् कवि-प्रतिभा के अन्तःकरण में जागरूक होते ही कवि त्रिलोकदर्शी बन जाता है। पुरानी से पुरानी वस्तुयें उसे चिर नवीन और चिर सुन्दर प्रतीत होती हैं तथा कवि प्रतिभा के सहकार से कोई कुरूप से कुरूप वस्तु रमणीय बन जाती है। जो प्रतिभा निरन्तर अपनी आत्मा में ही वासना रूप में विद्यमान रहती है, जो शिवा है अर्थात् रसावेश के कारण विशद भी है, सुभग भी है और आनन्द विधायिनी भी है तथा लोकमङ्गल का सम्पादन करनेवाली है। उस कविप्रज्ञा की हम वन्दना करते हैं।

इति तारावत्यां समाप्तोऽयं प्रथम उद्योतः।
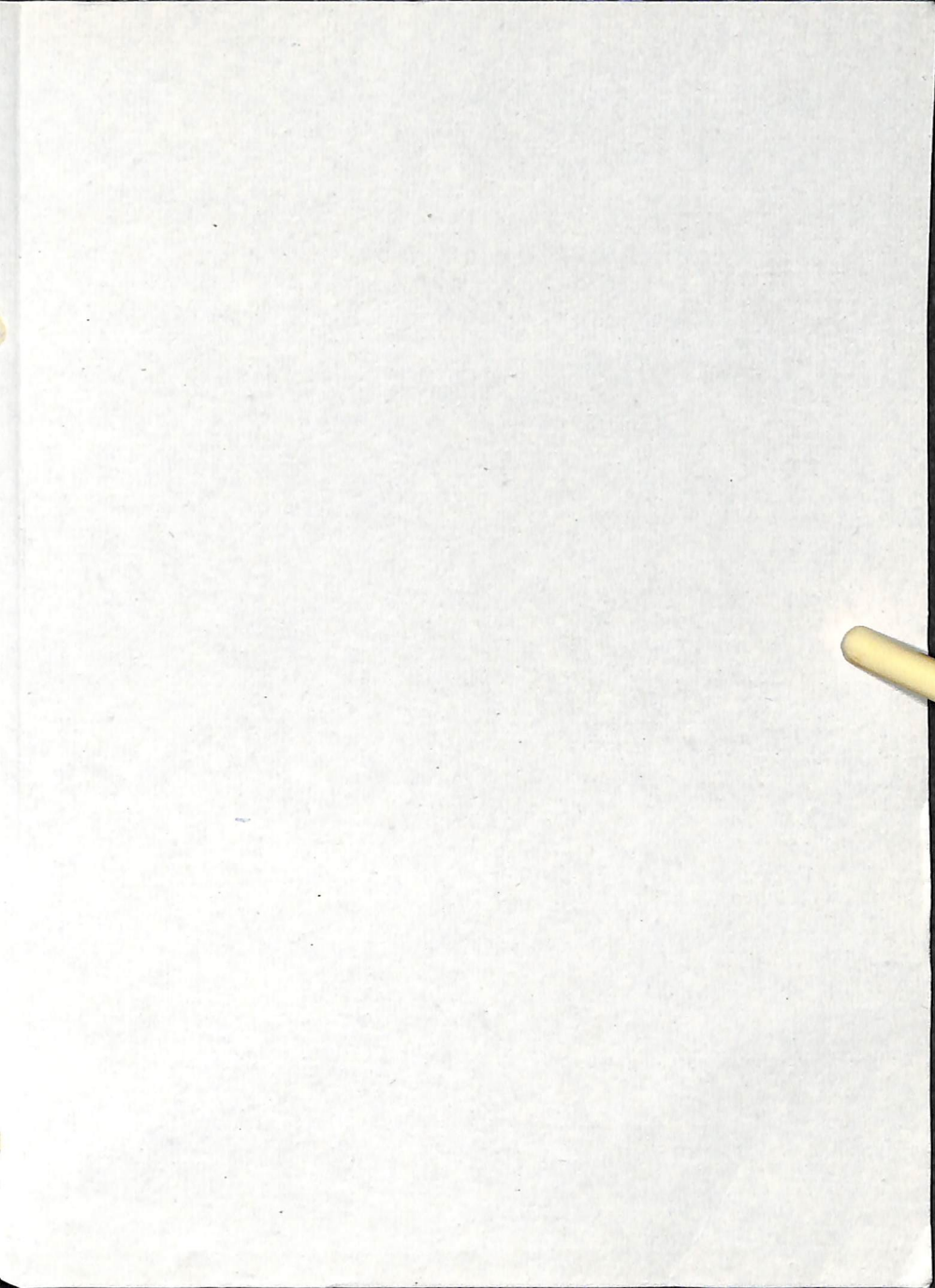
मनोविज्ञान पर हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

(मूल पाठ के साथ संस्कृत-हिन्दी टीका, भूमिका, टिप्पणी)
एवं अन्य छात्रोपयोगी सामग्री सहित

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली • मुम्बई • चेन्नई • कोलकाता
बंगलौर • वाराणसी • पुणे • पटना

E-mail: mlbd@vsnl.com
Website: www.mlbd.com

मूल्य: रु० 145 कोड : 23372

ISBN 978-81-208-2337-2